भारतीय दर्शन का इतिहास

(Bhartiya Darshan ka Itihas)

भाग–५

लेखक

डॉ० एस० एन० दासगुप्त

अनुवादक

सुश्री पी० मिश्रा



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–४

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम अनुदित संस्करण १९७५

मूल्य १०.००

प्रकाशक

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-३०२००४

मुद्रक

शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर

प्रस्तावना

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अब तक हिन्दी मे विश्वविद्यालय स्तर के लगभग १५० पाठ्य और सन्दर्भ ग्रन्थ प्रस्तुत कर चुकी है। अधिकाश मे समीक्षको ने इन ग्रन्थो की पर्याप्त प्रशसा की है। इससे हमारा कृतार्थ अनुभव करना स्वाभाविक ही है, यद्यपि हम अपनी उन त्रुटियो के सम्बन्ध मे भी, जो हमारे प्रयत्नो के बावजूद रह गयी है, अवगत हैं।

दासगुप्ता का "भारतीय दर्शन का इतिहास" एक ऐसा सदर्भ है जो वर्षों पुराना होने पर भी आज तक बराबर अद्वितीय बना हुआ है। इसके पश्चात् भारतीय दर्शन के इतिहास पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं, उनमें कुछ बहुत अच्छे भी हैं, किन्तु पाण्डित्य की जो महिमा हमे इस ग्रन्थ में देखने को मिलती है वह अन्यत्र कही नही मिलती। भारतीय दर्शन के स्रोत-ग्रन्थ के रूप मे इसका महत्त्व आज तक अद्वितीय बना हुआ है।

भारतीय दर्शन एक अत्यधिक विशिष्ट अनुभव-गम्भीर और विचार-परिप्लुत दर्शन है। दुर्भाग्यवश विगत पाँच-छ शताब्दियो से इसकी धारा निरतर क्षीण होती चली गयी है। यद्यपि यह धारा लुप्त कभी भी नही हुई, किन्तु अग्रेजी राज्य मे हमारे अभिजात वर्गों के आग्लोन्मुखी हो जाने के कारण इसका विकास प्राय अवरुद्ध हो गया। इस वर्ग के लिए भारतीय दर्शन इतिहास का विषय हो गया। किन्तु तब भी, इतिहास अब एक मात्र कड़ी था जो कम से कम इस वर्ग के लिए वर्तमान को अतीत से जोड़े रख रहा था। यह स्थिति आज भी समाप्त नही हुई है। इसलिए ऐसे ग्रन्थ का महत्त्व और भी बढ जाता है।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने के पश्चात् ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी मे अनुवाद नितात आवश्यक था। यद्यपि अपेक्षित यह है कि हिन्दी मे इससे भी उच्च कोटि का एक मौलिक इतिहास-ग्रन्थ लिखा जाय जो इस ग्रन्थ के अनुकरणीय पाण्डित्य के साथ हमारी भारतीय दर्शन विषयक विकसित अन्तर्दृष्टि को समन्वित करे।

खेतसिंह राठौड़
शिक्षा मन्त्री, राजस्थान सरकार एव
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
जयपुर

शिवनाथसिंह
निदेशक

विषय-सूची

अध्याय—३४

दक्षिणी शैव मत का साहित्य

अध्याय—३५

वीर शैव मत

अध्याय—३६

श्रीकठ का दर्शन

अध्याय—३७

पुराणों में शैव-दर्शन

अध्याय—३८

शैव-दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ



अध्याय ३४

दक्षिणी शैव मत का साहित्य

दक्षिणी शैव मत का साहित्य तथा इतिहास

संस्कृत के दर्शन-साहित्य मे शैव मत का सर्वप्रथम उल्लेख हमे शकराचार्य (आठवी शताब्दी) के ब्रह्मसूत्र २-२-३७ पर एक भाष्य मे मिलता है। इस सूत्र पर अपनी टीका में शकर ने "सिद्धान्त" नामक ग्रथो के मुतो के सम्बन्ध मे लिखा है कि ये भगवान महेश्वर द्वारा लिखे गये थे। श्रुति की शिक्षाओ की विलक्षणता यह है कि उन्होंने ईश्वर को संसार का निमित्त कारण ही माना है। शकर ने इसमे तथा अन्य स्थानो मे इस विचारधारा के समर्थको को ईश्वर कारणीन कहा है। विभिन्न सिद्धान्त-सप्रदायो के अनुसार यदि शिव अथवा ईश्वर ससार के निमित्त तथा उपादान कारण दोनो ही समझे जाते तब उपर्युक्त सूत्र की प्रस्तावना का कोई अर्थ ही नहीं होता, क्योकि शकर के मतानुसार भी ईश्वर ससार का निमित्त तथा उपादान कारण दोनो ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि शकर का सकेत यहा पाशुपत प्रणाली के लिए है जो पाच पदार्थों, जैसे, कारण, कार्य, योग, विधि तथा दुखान्त का निरूपण करता है।[1] उनके अनुसार इस प्रणाली का भी यह मत है कि पशुपति (ईश्वर) ससार का निमित्त कारण है। इस मतानुसार नैयायिक तथा वैशेषिक भी ईश्वर के लिए कारणता का उसी प्रकार का सम्बन्ध बताते है तथा उसी प्रकार के तर्क उपस्थित करते हैं जैसे कि कारण का कार्य से अनुमान।

वाचस्पति मिश्र (८४० ई०) शकर के भाष्य पर अपनी टीका मे कहते हैं कि महेश्वर मे शैव, पाशुपत, कारुणिक सिद्धान्तिक तथा कापालिक सम्मिलित हैं। चौदहवी शताब्दी के माधव ने शैवो का वर्णन नकुलीष पाशुपत के रूप में किया है जो अन्य स्थानो मे लाकुलीष पाशुपत अथवा लकुलीष पाशुपत वर्णित है तथा उनकी व्याख्या प्रस्तुत रचना के अन्य भागो मे की जा चुकी है। माधव ने शैव दर्शन का भी वर्णन किया है जिसमे उन्होने शैवागम तथा उसके समान साहित्य मे प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तो को निर्धारित किया है। इसके अतिरिक्त उनका एक प्रकरण प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पर भी है जो कि सामान्यत काश्मीर शैव मत कहलाता है। इस प्रणाली का निरूपण प्रस्तुत भाग में भी किया जायगा। वाचस्पति कारुणिक-सिद्धान्तियो तथा कापालिको का

---

[1] इस प्रणाली की रूपरेखा पहले ही अन्य भाग मे पाशुपत शास्त्र के अन्तर्गत आ चुकी है।

उल्लेख करते हैं। रामानुज ब्रह्मसूत्र २-२-३७ पर अपने भाष्य मे कापालिक तथा कालमुख के नाम का वर्णन वेद-विरोधी (चरित्र) शैव-पथी के रूप मे करते हैं। किन्तु कठिन प्रयत्नो के उपरान्त भी, मैं ऐसा कोई प्रकाशित अथवा अप्रकाशित मूल ग्रन्थ खोजने मे असमर्थ रहा हूँ जिसमे उनकी विचार प्रणालियो के विशेष लक्षणो का वर्णन है। कापालिक के विषय मे कुछ उल्लेख हमे साहित्य मे, जैसे भवभूति (ई० ७००-८००) के मालती माधव तथा पुराणो मे भी मिलते हैं। शकर के समकालीन तथा जीवनी लेखक, आनन्दगिरि, शैवो के विभिन्न पथो के साथ-साथ उनके शरीर पर विभिन्न चिह्नो तथा लक्षणो एव परस्पर विभिन्नता लाने के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्रो का उल्लेख करते हैं। उन्होने कापालिको के दो सम्प्रदायो का भी उल्लेख किया है, एक ब्राह्मणीय तथा दूसरा अब्राह्मणीय। अथर्ववेद मे हम व्रात्यो के विषय मे भी सुनते हैं जो रुद्र के भक्त थे। स्पष्ट है कि व्रात्य जाति-नियम तथा आचार नही मानते थे। किन्तु इसके अतिरिक्त, अथर्ववेद के व्रात्य माननीय समझे जाते थे। किन्तु कापालिक, चाहे वे ब्राह्मणीय हो अथवा अब्राह्मणीय, मद्यपान तथा कामवासना की भयकर क्रियाओ मे लिप्त रहते थे एव अशुद्ध रीति मे जीवन व्यतीत करते थे। वे सहारकर्ता भैरव के पुजारी थे, जिसने ससार की रचना की और पालन किया, इस मान्यता के अतिरिक्त उनका कोई विशेष दर्शन था, यह सदेहात्मक है। वे कर्म मे विश्वास नही करते थे। उनके विचारानुसार गौण देवता भी है जो भैरव की इच्छानुसार ससार की सृष्टि तथा पालन मे विभिन्न कार्य करते हैं। शूद्र कापालिक जाति प्रथा मे भी विश्वास नही करते थे तथा यह सब कापालिक अपनी धार्मिक क्रियाओ के अग के रूप मे मास खाते तथा नरमु ड मे मद्यपान करते थे। सर आर० जी० भण्डारकर शिव महापुराण के आधार पर यह मानते हैं कि कालमुख तथा महाव्रतधर एक ही थे। किन्तु प्रस्तुत लेखक को ऐसा कोई लेख शिव पुराण मे नही मिल सका है तथा भण्डारकर कोई निश्चित उद्धरण नही बताते जिससे यह एकता (कालमुख और महाव्रतधर एक हैं) सिद्ध होती हो। महाव्रत अर्थात् महान प्रतिज्ञा मे नरमु ड मे भोजन किया जाता है तथा शरीर पर मानव तथा अन्य शवो की भस्म मली जाती है, जिसे रामानुज ने कालमुखो के लिए विशेषित किया है। भण्डारकर ने जगधर की मालती माधव पर टीका का भी उल्लेख किया है, जिसमे कापालिक व्रत महाव्रत कहा गया है। भण्डारकर आगे यह भी इगित करते हैं कि नासिक के पास कापालेश्वर के मन्दिर मे रहने वाले योगी महाव्रती कहलाते है।[1] जो भी हो, हमारे पास कोई प्रमाण नही है कि कापालिको तथा कालमुखो के कोई विशिष्ट दार्शनिक विचार थे जिनको अलग से व्याख्या की जा सके। विशेष प्रकार के अनुष्ठान करते समय उनके

[1] सर आर० जी० भण्डारकर कृत 'वैष्णव मत, शैव मत तथा गौण धार्मिक प्रणालियां' (१९१३) पृ० १२८।

पथों के सदस्य अपने को घायल कर लेते थे तथा मद्य, स्त्री व मांस मे,यहा तक कि नर-मास मे भी, अपनी लिप्सा के कारण ये अन्य शैवो से पृथक् किए जा सकते थे। किसी प्रकार यह क्रियायें तान्त्रिक पद्धति की पूजा मे मिल गई। इस प्रकार की पूजा के कुछ अश तान्त्रिक पद्धति की पूजा के अनुयायियो मे आज भी मिलते हैं। इस प्रकार तान्त्रिक दीक्षा वैदिक दीक्षा से भिन्न है।

धर्म तथा नीतिशास्त्र के विश्वकोश मे शैव मत पर फ्रेजर अपने लेख मे लिखते हैं कि दक्षिण भारत के कुछ प्रसिद्ध मन्दिरो मे आदिवासी पुजारियो से समझौते के लिए (जिनके प्राचीन देवस्थान स्थानीय भावको के सरक्षण मे ब्राह्मण पुजारियो ने अधिकृत कर लिए थे) पुरातन रक्त-क्रियाओ तथा उन्मत्त प्रमादो के पुनरुत्थान की अनुमति प्रतिवर्ष दी जाती है। इन भावको ने अपने अनुग्रह तथा कृपादृष्टि के बदले में क्षत्रियो की प्रतिष्ठा मिथ्या वशावली के साथ हड़प ली थी। फ्रेजर इसी लेख मे आगे कुछ दृष्टान्त देते हैं जिनमे अब्राह्मण तथा अछूतो ने शिव की पूजा की और नर-बलि दी। एक स्थान जिसका उन्होंने वर्णन किया है "श्री शैल" है, इस कापालिक केन्द्र का भवभूति ने भी उल्लेख किया है। बौद्धो ने इन अछूत पुजारियो को मन्दिरो से बहिष्कृत कर दिया, तदुपरान्त ब्राह्मणो ने बौद्धो को बहिष्कृत किया। शकर के समय मे कापालिको ने उज्जैन मे एक प्रबल केन्द्र विकसित कर लिया था। वास्तव मे हम नही जानते कि ब्राह्मणो तथा अब्राह्मणो द्वारा की गई दक्षिण भारतीय रक्त-क्रियाओ के पथ का कापालिको अथवा कालमुखो से देखा जा सकता है या नही। किन्तु यह सभव है कि वे एक ही लोग थे, क्योकि भवभूति द्वारा वर्णित श्री शैल, जो कापालिको के एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप मे वर्णित है, उसे हम, जैसा कि फ्रेजर ने लिखा है, स्थल-माहात्म्य के लेखो से रक्त क्रियाओ के केन्द्र के रूप मे भी जानते हैं। ब्रह्म सूत्र २-२-३७ मे रामानुज के कथनानुसार कापालिक तथा कालमुख वेद-विरोधी थे। आनन्द गिरि के अनुसार, शकर ने भी कापालिको से कोई तर्क वितर्क नही किया क्योकि कापालिको के विचार स्वीकृत रूप से वेद-विरोधी थे। उन्होंने तो उनको दंडित करवाया तथा कोड़े लगवाए। फिर भी कापालिको ने अपना प्राचीन रूप बनाए रखा तथा उनमे से कुछ बगाल तक मे रहते थे जैसाकि प्रस्तुत लेखक को ज्ञात है। शैव मत मे शरीर पर भस्म मलने की प्रथा सभवत बहुत प्राचीन है, क्योकि यह प्रथा पाशुपत सूत्र तथा कौण्डिन्य के भाष्य मे वर्णित है।

वाचस्पति द्वारा वर्णित कारुणी सिद्धान्त का माधव (१४ वी शताब्दी) ने अपने 'सर्व-दर्शन-सग्रह' मे उल्लेख नही किया है, तथा किन्ही शैवागमो मे भी हमे इसका उल्लेख नही मिलता है। किन्तु, जैसाकि अन्य भाग मे उल्लेख किया गया है, शिव महापुराण की वायवीय सहिता मे शैव दर्शन के वर्णन से उन तर्कों की रचना करना हमारे लिए कठिन नही है जिन्होंने शैव मत के एक विशेष सम्प्रदाय को बनाने मे योग

दिया हो। प्रत्येक आगम में करुणा का सिद्धान्त सदा एक ही अर्थ मे नही मिलता है, न वायवीय सहिता में, जो समवत आगमो पर आधारित है। साधारणत करुणा की भावना का अर्थ केवल दया के विस्तार से होता है या किसी विपद्ग्रस्त पर अनुग्रह से। किन्तु शैवागम मे एक स्पष्ट विचारधारा है जहां करुणा की व्याख्या सब जीवो को अनुभव-क्षेत्र प्रदान करने वाले दैवी सृजनात्मक प्रेरणा के रूप मे की गई है, जिसमे वे सुखो का आनन्द ले सकें तथा उसी प्रकार दु खानुभव कर सकें। ईश्वर की करुणा ससार को हमारे लिए उसी प्रकार अभिव्यक्त करती है जिस प्रकार हमे उसका अनुभव करना चाहिए। इसलिए सामान्य अर्थ मे, करुणा अनुग्रह का कार्य नही है वरन् यह कर्म के आधार पर हमे उचित कामनाओ को प्राप्त करने की ओर एक प्रेरणा है। ससार की सृजनात्मक क्रिया हमारे शुभ तथा अशुभ कर्मों के अनुरूप होती है जिनके अनुसार भिन्न प्रकार के अनुभव हमारे लिए अभिव्यक्त होते हैं। इस अर्थ मे करुणा की तुलना योग दर्शन के उस विचार से की जा सकती है जो स्वीकार करता है कि ईश्वर का नित्य सकल्प सृष्टि-विकास (परिणाम-क्रम-नियम) के क्रम मे ससार की रक्षा के लिए तथा मनुष्यो के व्यक्तिगत कर्मों के अनुरूप उनके अनुभव के लिये आधार के रूप मे कार्य करता है। पुन यह उन रामानुज वैष्णवो के करुणा के सिद्धान्त से भिन्न है जिन्होने महालक्ष्मी का प्रत्यय उपस्थित किया एव जो पापियो की ओर से मध्यस्थता करती है तथा नारायण को, भक्तो के श्रेय के लिए उनकी करुणा प्रदान करने हेतु विवश करती है।

माना जाता है कि 'शिव' शब्द अनियमित रूप से मूल 'वश कान्तन' से निकला है। इसका यह अर्थ होगा कि शिव सदैव अपने भक्तो की कामनाओ की पूर्ति करते हैं। महाभारत तथा अन्य पुराणो मे शिव का पक्ष कृपालु भगवान के रूप मे बहुत भली प्रकार चित्रित किया गया है जिसमे वह सदैव उन वरदानो को देने के लिए तत्पर रहते हैं जिनके लिए उनसे प्रार्थना की जाय। शिव का यह पक्ष उस पक्ष से भिन्न है जिसमे शिव, रुद्र अथवा शर्व या सहार के देवता है।

हमने देखा कि कापालिको तथा कालमुखो के विषय मे हम लगभग कुछ भी महत्वपूर्ण बात नही जानते हैं। दक्षिण के शैवमत के अन्य सिद्धान्त पाशुपत के है जो शैव सिद्धान्त आगमो तथा वैष्णवो से प्राप्त किए हुए हैं। नवी व दसवी शताब्दी मे काश्मीर मे विकसित शैव मत के अन्य सम्प्रदायो का विवरण अलग भाग मे किया जायेगा। कौंडिन्य के 'पचार्थ भाष्य' के साथ पाशुपत-सूत्र प्रथम बार १९४० मे त्रिवेन्द्रम मे प्रकाशित हुआ जिसका सम्पादन अनन्त कृष्ण शास्त्री ने किया था। कौडिन्य का यह भाष्य सभवत राशीकर भाष्य ही है जिसका माधव ने 'सर्व-दर्शन-सग्रह' मे नकुलीश-पाशुपत दर्शन की अपनी व्याख्या मे उल्लेख किया है। कौडिन्य के भाष्य मे प्राप्त कुछ पक्तियो की समानता प्रस्तुत लेखक ने उन पक्तियो से मानी है

जिनको माधव ने अपनी नकुलीष-पाशुपत प्रणाली की व्याख्या मे राशीकर की ठहराया है। नकुलीष पाशुपत प्रणाली के स्थापक हैं। आउफ्रेक्ट ने पाशुपत-सूत्र[1] का कैटेलागस कैटेलागरम में वर्णन किया है। वायवीय संहिता २-२४-१६६ भी पाशुपत-शास्त्र का वर्णन पचार्थ विद्या के रूप मे करती है।[2] भण्डारकर ने जयपुर राज्य के सीकर प्रदेश मे स्थित हर्षनाथ के एक मन्दिर के शिलालेख की ओर इंगित किया है जिसमे विश्व रूप नामक व्यक्ति का वर्णन पचार्थ लाकुला-काय के शिक्षक के रूप मे किया है। शिलालेख का काल वि० स० १०१३ (६५७ ई०) है। इससे भण्डारकर यह अनुमान लगाते हैं कि पाशुपत प्रणाली लकुलिन नामक मानव लेखक की ठहराई गई थी तथा उनकी रचनायें पचार्थ कहलाती थी। यह अनुमान न्यायपूर्ण नही है। हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि दसवी शताब्दी के मध्य मे लकुलीष के सिद्धान्त विश्वरूप नामक शिक्षक द्वारा सिखाए जा रहे थे जिसकी जयपुर मे यथेष्ठ प्रसिद्धि थी। लकुलीष की शिक्षाओ ने ऐसा अधिकृत स्थान प्राप्त कर लिया था कि वे आम्नाय कहलाते थे, जिनका प्रयोग वेदो के लिए होता है।

त्रिवेन्द्रम ग्रन्थमाला मे प्रकाशित पाशुपत-सूत्र मे कौडिन्य द्वारा उद्धृत प्रथम सूत्र है—अथात पशुपते पशुपत योगविधिम् व्याख्यास्याम। यहा पर 'योग-विधि' पाशुपत अथवा शिव के लिए प्रयुक्त की गई है। सूत संहिता ४-४३-१७ मे हम नकुल नामक एक स्थान के विषय मे सुनते हैं तथा वहा पर शिव को नकुलीष कहा जाता है। पाशुपत शास्त्र के सम्पादक ने अठारह शिक्षको के नाम का उल्लेख किया है जिनका आरम नकुलीष[3] से है। यह नामो इस प्रकार हैं—(१) नकुलीष (२) कौशिक (३) गार्ग्य (४) मैत्रेय (५) कौरुष (६) ईशान (७) पर गार्ग्य (८) कपिलान्द (९) मनुष्यक (१०) कुषीक (११) अत्रि (१२) पिंगलाक्ष (१३) पुष्पक (१४) बृहदार्य (१५) अगस्ति (१६) सन्तान (१७) कौडिन्य अथवा राशीकर (१८) विद्या गुरु। प्रस्तुत लेखक पाशुप्त-सूत्र के सम्पादक के इस विचार से सहमत है कि भाष्य-कार कौडिन्य चौथी से छठी शताब्दी मे किसी समय वर्तमान थे। भाष्य का आकार

---

[1] भण्डारकर ने अपने पाशुपत के अध्याय मे इसका उल्लेख किया है। पृ० १२१ एन०।

[2] वैंकटेश्वर प्रकाशन द्वारा मुद्रित शिव महापुराण सस्करण मे प्रस्तुत लेखक को ऐसा कोई पद्य नही मिल सका क्योकि २-२४ में केवल ४२ छन्द है।

[3] यह नाम राजशेखर के 'षड्दर्शन समुच्चय' से लिए गए हैं जिसकी रचना १४ वी शताब्दी के मध्य मे हुई थी। लगभग यही नाम कुछ अन्तर सहित गुणरत्न के 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका मे भी पाए जाते है।

यथेष्ठ प्राचीन है तथा कौडिन्य के भाष्य मे परवर्ती किसी विचारधारा के विषय मे सकेत नही हैं। हमने पहले ही देखा है कि शिव-महापुराण के अनुसार अठाईस योगाचार्य थे और प्रत्येक के चार शिष्य थे। इस प्रकार ११२ योगाचार्य थे। इन अठाईस योगाचार्यों मे से अत्यधिक मुख्य लोकाक्षी जैगीशव्य, ऋषभ, भृगु, अत्रि तथा गौतम थे। अन्तिम तथा अठाईसवे आचार्य लकुलीश थे, जिनका जन्म स्थान कायावतर्ण तीर्थ था। ११२ योगाचार्यों मे से सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, पचशिख, पराशर, गर्ग, भार्गव, अगिर, शुक, वशिष्ट, बृहस्पति, कुरिण, वामदेव, श्वेतकेतु, देवल, शालिहोत्र, अग्निवेश, अक्षपाद, कणाद, कुमार तथा रुख अत्यधिक मुख्य हैं।[१]

श्री दलाल "गणकारिका" की अपनी भूमिका मे कहते है कि लाकुलीश-पाशुपत दर्शन का नामकरण लकुलीश से हुआ जिन्होने इस पद्धति का आरभ किया। लकुलीश का अर्थ है "दड धारियो के भगवान"। दाहिने हाथ मे डमरु तथा बाए हाथ मे त्रिशूल लिए हुए लकुलीश बहुधा भगवान शिव का अवतार माने जाते हैं। अवतार का स्थान भृगु क्षेत्र मे कौयारोहण है जो बडोदा राज्य के डमोई तालुके का एक नगर कारवण है। कारवण-माहात्म्य मे यह कहा गया है कि उलकापुरी गाव मे एक ब्राह्मण पुत्र लकुलीश के रूप मे प्रकट हुआ तथा भगवान लकुलीश की पूजा व उनकी मूर्ति को रेशमी वस्त्र मे बाधने का महत्व तथा विधिया समझाई। यह रचना चार भागो मे विभाजित है, प्रथम वायु-पुराण मे से है तथा शेष तीन शिव-महापुराण मे से हैं। रचना

---

[१] देखिए शिव-महापुराण, वायवीय सहिता २-९ तथा कर्म पुराण १-५३ भी। वायु पुराण के तेइसवे अध्याय मे अठाइस योगाचार्यों मे से प्रत्येक के चार शिष्यो के नाम वर्णित है। विशुद्ध मुनि ने अपनी रचना "आत्म समर्पण" मे लकुलीश के नाम का उल्लेख भी किया है। "पाशुपत-सूत्र की भूमिका" का पृष्ठ तीन एन भी देखिये।

शिव महापुराण मे दी गई अठाईस शिक्षका की सूची, सदैव अन्य विद्वाना द्वारा सग्रहित सूची अथवा विशुद्ध मुनि के 'आत्म समर्पण" मे पाई गई सूची से समानता नही रखती है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इनमे से कुछ नाम नितान्त कल्पित है तथा उनके नाम अधिक प्रयाग मे नही आते क्योकि उनकी रचनाये प्राप्त नही हैं। विशुद्ध मुनि ने पाशुपत-शास्त्र के सयम अथवा यम के मुख्य तत्वो का सक्षिप्त वर्णन किया है जो लगभग वैसा ही है जैसा पतजलि कृत योगशास्त्र के यम अथवा सयम के नियम। यहा यह कहना अनुचित न होगा कि योगशास्त्र मे ईश्वर का प्रत्यय उसी प्रकार का है जैसा पशुपति का पाशुपत सूत्र तथा भाष्य मे है।

के आरम्भ में महेश्वर के प्रति वन्दना है जिन्होने लकुट पाणीश के रूप मे अवतार लिया। इसमें शिव तथा पार्वती के मध्य एक वार्तालाप है जिसमे पार्वती शिव से रेशमी वस्त्र बांधने का महत्व पूछती हैं। शिव तब कलि तथा द्वापर-युग के मध्य में अत्रि मुनि के परिवार में विश्वराज नामक ब्राह्मण के रूप में अपने अवतार की कथा वर्णित करते हैं। उनकी माता सुदर्शन थी। कारवण-माहात्म्य में शिव के अवतार इस बालक के विषय मे, कुछ विलक्षण कल्पित गल्प वर्णित हैं किन्तु उनका प्रत्याख्यान करना ही उचित है।

हमने पहले ही अत्रि के नाम का उल्लेख, पाशुपत-सम्प्रदाय के मुख्य शिक्षको मे किया है। किन्तु शिक्षको के उपयुक्त वर्णन के अनुसार नकुलीश को इस प्रणाली का प्रथम सस्थापक मानना चाहिए। हमने यह भी देखा है कि पचार्थ लाकुलाम्नाय के मत का, जो पाशुपत-सूत्र मे प्रतिपादित मत के समान ही होगा, दसवी शताब्दी के मध्य तक एक शिक्षक था। यह कहना कठिन है कि पशुपति का प्रत्यय कितने समय पूर्व विकसित हुआ होगा। मोहनजोदडो की खुदाइयो से हमे एक ऐसी लघु मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमे शिव सांड पर बैठे बनाए गए हैं, जिन्हें सर्प तथा अन्य पशु घेरे हुए हैं। यह मूर्ति पूर्व वैदिक काल मे पाए गए पशुओ के भगवान अथवा पशुपति के प्रत्यय की कला मे अभिव्यक्ति है। शिव का प्रत्यय वेदो मे पाया जा सकता है तथा उपनिषदो, मुख्यत श्वेताश्वतर उपनिषद मे भी पाया जा सकता है। यही विचार महाभारत तथा अन्य कई पुराणो मे भी पाया जा सकता है। शिव के धार्मिक पथ को, जो शिव के प्रत्यय की विभिन्न पौराणिक ग्रथों मे परिभाषा करता है, यहां पर छोड देना होगा क्योकि प्रस्तुत रचना की रुचि निश्चित रूप से दार्शनिक विचार तथा शिव के अनुयायियो के नैतिक तथा सामाजिक विचारो तक सीमित है।[1]

किन्तु यह कहना ही पडेगा कि आठवी शताब्दी के बहुत पूर्व ही शैव-दर्शन तथा शिव-पूजा, समस्त प्रायद्वीप मे बहुत दूर-दूर तक विस्तृत हो चुकी थी। उत्तर मे बद्रिकाश्रम मे, नेपाल (पशुपतिनाथ) मे, काश्मीर मे, प्रभास मे, काठियावाड मे (सोमनाथ का मन्दिर), बनारस मे (विश्वनाथ का मन्दिर), कलकत्ते मे नकुलीश्वर का मन्दिर तथा सुदूर दक्षिण भारत मे रामेश्वर के मन्दिर मे हमारे पास शिव के अत्यधिक पवित्र मन्दिर हैं। शिव पूजा के अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थानो मे से ये केवल कुछ ही हैं। वास्तव मे भारत के प्रत्येक भाग मे शिव पूजा प्रचलित है तथा अनेक नगरो में शिव के मन्दिर मे हमे या तो अवशेषो के रूप मे अथवा पूजा के यथार्थ स्थानो के

[1] जो भगवान शिव के विभिन्न पक्षो के विकास के अध्ययन में रुचि रखते हैं, वे भडारकर कृत वैष्णवमत तथा शैवमत देख सकते हैं तथा धर्म एव नीति शास्त्र के विश्व कोष में फ्रेजर का शैव मत पर लेख भी देख सकते हैं।

रूप में मिलते हैं। साधारणतः शिव की पूजा लिंग-सम्बन्धी प्रतीक के रूप में की जाती है तथा प्रत्येक जाति के पुरुष तथा स्त्रिया भी प्रतीक का स्पर्श कर सकते हैं। शैव प्रकार की दीक्षा तथा तान्त्रिक प्रकार की दीक्षा को वैदिक प्रकार की दीक्षा से भिन्न करना है जो केवल तीन उच्च जातियो के लिए आरक्षित है। परन्तु, क्योंकि प्रस्तुत रचना का उद्देश्य शैवमत तथा तान्त्रिक मत की विवेचना करना है, अतः जहा तक सम्भव होगा कर्मकाण्डो तथा पूजा की विधियो से सम्बन्धित समस्त सदर्भों को छोड़ दिया जायगा।

चौदहवी शताब्दी के मध्य के जैन लेखक राजशेखर अपनी 'षड्-दर्शन-समुच्चय' मे शैव दर्शन के नाम का वर्णन करते हैं तथा इसे एक योग मत कहते हैं।[1] वह शैव वैरागियो का अपने हाथो मे त्रिशूल लिए हुए तथा कौपीन धारण किए हुए रूप में वर्णन करते हैं। (प्रौढ-कौपीन-परिधायित)। उनके पास शरीर ढकने के लिए कम्बल भी थे, जटाये थी तथा उनके शरीर पर भस्म मली रहती थी। वे मेवा खाते, तुम्बक का बर्तन रखते तथा साधारणतः वनो मे रहते थे। कुछ के स्त्रिया थी जबकि अन्य एकान्त जीवन व्यतीत करते थे। राजशेखर पुनः कहते हैं कि शैवो मे शिव के अठारह अवतार स्वीकार किए है जो महाप्रभु ससार की सृष्टि तथा सहार करता है। हमने पहले ही "षड्दर्शन-समुच्चय" मे प्राप्त शिक्षको के नामो का उल्लेख किया है। इन शिक्षको की विशेष रूप से श्रद्धा की जाती थी तथा इनमे से अक्षपाद ने तर्कशास्त्र की प्रणाली प्रतिपादित की जिसमे उन्होने प्रमाणो, प्रत्यक्षीकरण, अनुमान, सामान्यु-मान तथा शब्द प्रमाण की विवेचना की तथा गौतम अथवा अक्षपाद के न्यायसूत्र मे प्राप्त सोलह पदार्थों का भी वर्णन किया। राजशेखर ने जयन्त, उदयन तथा भासर्वज्ञ के नामो का उल्लेख किया है। इस प्रकार राजशेखर के अनुसार नैयायिक शैव माने जाते थे। ऐसा प्रतीत नही होता है कि राजशेखर ने न्याय प्रणाली का कोई विशेष अध्ययन किया था वरन् उन्होने अपने कथनो को समय की परम्परा पर आधारित किया।[2] वह वैशेषिको को भी पाशुपत मानते हैं। वैशेषिक मतानुयायी नैयायिको के समान ही वस्त्र धारण करते थे तथा उनके अनुरूप ही उनकी मान्यताएँ थी। परन्तु उनसे भिन्न वे यह मानते थे कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण है तथा अन्य प्रमाण इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। वह उन छः पदार्थों का भी वर्णन करते हैं जो हमे वैशेषिक सूत्र मे मिलते हैं। राजशेखर नैयायिको को योगा कहते हैं। वैशेषिक तथा न्याय लगभग एक ही प्रकार के है तथा दोनो ही दुःख की समाप्ति को अन्तिम मोक्ष मानते हैं। हरिभद्र सूरि कृत षड्दर्शन-समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न राजशेखर

---

[1] अथ योगमतम् ब्रूम शैवम्-इति-अपरा भिधम्।
—राजशेखर कृत षड्-दर्शन-समुच्चय, पृ० ८ (द्वितीय प्रकाशन, बनारस)।

[2] श्रुतानुसारतः प्रोक्तम् नैयायिक-मतम् मया—तत्रैव, पृ० १०।

के समान जैन लेखक थे तथा पूर्ण संभावना है कि वे उनके बाद के समकालीन थे। नैयायिकों अथवा योगों के विषय में उनके बहुत से वर्णन राजशेखर की रचना से लिए हुए प्रतीत होते हैं, अथवा यह भी हो सकता है कि राजशेखर ने यह वर्णन गुणरत्न से लिए हो क्योंकि अनेक स्थानों पर वर्णन समान हैं। गुणरत्न कहते हैं कि शैव चार प्रकार के थे जैसे शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालमुख।[1] इनके अतिरिक्त गुणरत्न तथा राजशेखर उनके विषय मे कहते हैं, जिन्होंने शिव की सेवा का व्रत ले लिया है तथा वे भरत तथा भक्त कहलाते हैं। किसी भी जाति के मनुष्य शिव के भरतों अथवा भक्तों के वर्ग मे सम्मिलित हो सकते हैं। नैयायिक सदैव शिव के भक्त माने जाते थे तथा वे शैव कहलाते थे। वैशेषिक दर्शन पाशुपत कहलाता था।[2] हरिभद्र यह भी कहते हैं कि वैशेषिकों ने नैयायिकों के ही देवताओं को स्वीकार किया।[3]

कापालिकों तथा कालमुखों के अतिरिक्त, जिनके विषय मे उनकी धार्मिक क्रियाओं तथा अवैदिक व्यवहार के विरुद्ध परम्परागत आरोपों के अतिरिक्त हम बहुत कम जानते हैं, हमारे पास शैव-आगमों मे वर्णित पाशुपत प्रणाली का मूल ग्रंथ तथा शैव दर्शन है। हमारे पास वायवीय संहिता मे वर्णित पाशुपत शास्त्र, अप्पय दीक्षित द्वारा संपादित श्रीकंठ का शैव दर्शन तथा श्रीकुमार एवं अघोर शिवाचार्य द्वारा विवेचना

---

[1] शैवं पाशुपतं चैव महाव्रत-धरस् तथा,
तुर्या कालमुखा मुख्या भेदा इति तपस्विनाम्।
हरिभद्र की षड्दर्शन-सामुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृ० ५१ (सौ भी का संस्करण, कलकत्ता, १६०५)।

अतः गुणरत्न के अनुसार महाव्रतधर तथा कालमुख पूर्णतया भिन्न हैं। गुणरत्न ने कापालिक का उल्लेख नहीं किया है। शैवों के यह चार वर्ग आरम्भ मे ब्राह्मण थे तथा उनके पास यज्ञोपवीत था। उनका अन्तर मुख्यतः भिन्न प्रकार की धार्मिक क्रियाओं तथा आचार के कारण था —

आधार-भस्म-कौपीन-जटा-यज्ञोपवीतिनः
स्व-स्वाचारादि-भेदेन चतुर्धा स्युस् तपस्विनः।

रामानुज ने कापालिकों तथा कालमुखों के नाम का वर्णन वेदों के क्षेत्र से बाहर (वेद-बाह्य) किया है। आनन्द गिरी की शंकर विजय मे भी कापालिकों को वेदों के क्षेत्र से बाहर दर्शित किया है। परन्तु वहां कापालिकों का वर्णन नहीं है।

[2] देखिए, गुणरत्न का टीका, पृ० ५१।

[3] देवता विषयो भेदोनास्ति नैयायिक समम्, वैशेषिकानाम् तत्वे तु—विद्यते सौ निदर्शयते।
—हरिभद्र कृत षड्दर्शन-समुच्चय, पृ० २६६।

किया हुआ धार के राजा भोज द्वारा प्रतिपादित उनके "तत्व प्रकाश" में शैव दर्शन भी है। हमारे पास वीर शैव मत भी है जो बाद के काल मे विकसित हुए तथा उसकी विवेचना श्रीपति पंडित द्वारा ब्रह्मसूत्र की एक टीका मे है जिन्हें साधारणतः चौदहवी शताब्दी का माना जाता है।[१] श्रीपति, पंडित पाशुपतों, रामानुज तथा एकोराम एवं वीर शैव धर्म के पांच आचार्यों के भी परवर्ती थे। श्रीपति माधवाचार्य के भी परवर्ती थे। परन्तु यह आश्चर्यजनक है कि माधव, वीर-शैवमत अथवा श्रीपति पंडित के विषय मे कुछ भी जानते प्रतीत नही होते हैं। वह अवश्य ही बारहवी शताब्दी के बसव के उत्तरकालीन थे जो वीर शैवमत के संस्थापक माने जाते है। जैसा कि हयवदनराव इंगित करते हैं कि श्रीपति श्रीकंठ के परवर्ती थे, जिन्होने ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा है।[२] हमने पृथक् भाग मे श्रीकंठ के दर्शन की विवेचना की है। श्रीकंठ ग्यारहवी शताब्दी मे किसी समय वर्तमान थे तथा रामानुज के अल्प समकालीन हो सकते हैं। श्रीकंठ ब्रह्मसूत्र ३-३-२७-३० की अपनी विवेचना मे रामानुज तथा निम्बार्क के विचारो की आलोचना करते हैं। शिलालेखीय आधार पर हयवदनराव का विचार है कि श्रीकंठ ११२२ ई० मे वर्तमान थे।[३]

संस्कृत रचना शिव-ज्ञान-बोध के तमिल अनुवाद के अत्यधिक प्रसिद्ध लेखक मेयकंड देव दक्षिण अरकाट प्रदेश के निकट तिरुवेन्नेयल्लुर के थे। चोल राजा राज-राज तृतीय (१२१६-४८ ई०) के सोलहवें वर्ष का एक शिलालेख है जिसमे मेयकंड द्वारा स्थापित मूर्ति को भूमिदान के विषय मे लिखा है। यह परन्जोति मुनि के शिष्य मेयकन्ड देव का समय लगभग तेरहवी शताब्दी के मध्य मे निर्धारित करता है। लम्बे तर्क के पश्चात् हयवदनराव इस विचार पर पहुचते है कि यदि इससे कुछ पूर्व नहीं तो २३५ ई० के लगभग मेयकंड देव वास्तव मे वर्तमान थे।[४] शिलालेखो से यह निश्चित किया गया है कि ब्रह्मसूत्र के टीकाकार श्रीकंठ लगभग १२७० मे वर्तमान थे। यह सर्वथा संभव है कि मेयकंड तथा श्रीकंठ समकालीन थे। मेयकंड तथा श्रीकंठ का दार्शनिक अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है अतः दोनो व्यक्तियो को एक नहीं समझा जा सकता।[५] श्रीकंठ का विचार है कि संसार भगवान की चिच्छक्ति का रूपान्तर है। यह भौतिक संसार की सृष्टि के लिए कुछ नहीं कहता है, न आणवमल के

---

[१] सी० हयवदनराव कृत श्रीकर-भाष्य, भाग १, पृ० ३१।

[२] वही, पृ० ३६।

[३] वही, पृ० ४१।

[४] वही, पृ० ४८।

[५] वही, पृ० ४९। श्रीकंठ तथा मेयकंड देव की प्रणालियो की विवेचना प्रस्तुत रचना मे पृथक भागो मे की गई है।

विषय में कहता है तथा प्रत्यक्ष ही जीवन मुक्ति के पक्ष में नहीं है। पुनः श्रीकंठ श्रुति के आधार पर अपनी प्रणाली को स्थापित करते प्रतीत होते हैं, किन्तु मेयकंड देव अपनी प्रणाली को अनुमान पर आधारित करने का प्रयत्न करते हैं तथा भिन्नता के अनेक दूसरे विषय भी हैं जो हमारी मेयकंड देव की व्याख्या से सुगमता से समझ में आ जायेंगे। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि श्रीकंठ का मेयकंड देव से कोई सम्बन्ध था।

श्रीपति ने हरदत्त को बहुत सम्मानपूर्वक शब्दो मे उद्धृत किया है। हयवदनराव ने "भविष्योत्तर-पुराण" में दिए हुए हरदत्त के जीवन वृत्तान्त की ओर तथा उनके टीकाकार शिवलिंगभूपति के लेखों का उल्लेख किया है, जो हरदत्त को कलिकाल ३९७९ अर्थात् लगभग ८७९ ई० मे निर्धारित करते हैं, किन्तु शिव-रहस्य-दीपिका मे हरदत्त का समय कलिकाल का लगभग ३००० दिया है। प्रोफेसर शेषगिरी शास्त्री ने प्रथम तिथि को अधिक उपयुक्त स्वीकार किया है तथा सर्वदर्शन-सग्रह मे उद्धृत हरदत्त को तथा हरिहर-तारतम्य एव चतुर्वेद-तात्पर्य-सग्रह के लेखक को एक ही माना है। जैसा कि हमने अन्य स्थान पर वर्णन किया है, हरदत्त गणकारिका के लेखक थे। पूर्ण सभावना है कि श्री दलाल ने अपनी गणकारिका की भूमिका मे इन दोनो मे भ्रान्ति की हो जिसमे वे कहते हैं कि भासर्वज्ञ गणकारिका के लेखक थे। वास्तव मे हरदत्त ने केवल कारिका ही लिखी तथा न्याय लेखक भासर्वज्ञ ने इस पर "रत्न टीका" नामक टीका लिखी।[1] श्रीपति ने सिद्धान्त-शिखामणि से उद्धृत किया है जो रेवणार्य द्वारा लिखित एक वीर शैव रचना है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि यद्यपि वीर शैव मत की स्थापना कम से कम इतने पूर्व जितना बसव (११५७-६७) काल मे हुई थी, तथापि चौदहवी शताब्दी मे माधव को वीर शैव के विषय मे कुछ भी ज्ञात न था। फिर भी यह सन्देहात्मक है कि क्या वास्तव मे बसव भारत मे शैव मत के सस्थापक थे? कन्नड मे "बसव के वचन" नामक कुछ कथन हमारे पास है किन्तु उनके नाम का उल्लेख कदाचित् ही वीर शैव धर्म के लेखो के शिक्षक के रूप मे हम पाते है। बसव-पुराण नामक रचना मे बसव का एक अर्ध-पौराणिक वर्णन है। उसमे यह कहा गया है कि वीर शैव मत के विस्तार के लिए शिव ने नन्दी से ससार मे अवतार लेने को कहा। बसव ही यह अवतार थे। वे बागेवाडी के निवासी थे। जहाँ से वे कल्याण गए, जहाँ बिज्जल अथवा बिज्जन राज्य करते थे (११५७-६७ ई०)। उनके मामा बलदेव मत्री थे।

---

[1] गणकारिका की पुष्पिका निम्नांकित है—

आचार्य भासर्वज्ञ-विरचितायाम् गणकारिकायाम् रत्न टीका परिसमाप्ता।

इससे यह भ्रम हुआ कि गणकारिका भासर्वज्ञ की रचना है, जिन्होने केवल टीका लिखी। इन हरदत्त को काशिकावृत्ति पर पद-मजरी तथा आपस्तम्ब सूत्र के टीकाकार से भी भिन्न करना है।

उनकी मृत्यु के पश्चात् वे स्वय उस पद पर उन्नत कर दिए गए। बसव की भगिनी का राजा से विवाह कर दिया गया था। कोश उनके अधिकार मे था तथा उन्होंने लिंगायत पुरोहितो तथा जगम नामक भिखारियो के पोषण तथा मनोरजन पर बहुत अधिक द्रव्य व्यय किया। जब राजा को इसका ज्ञान हुआ तब वह क्रोधित हुए तथा उनको दण्डित करने के लिए सेना भेजी। बसव ने एक लघु सेना एकत्रित की तथा इ न सैनिको को पराजित कर दिया। राजा उनको वापस कल्याण मे ले आए तथा प्रत्यक्ष रूप से उनमे परस्पर सधि हो गई। किन्तु बाद मे बसव ने राजा की हत्या करवा दी। इससे बसव एक नए मत के सस्थापक की अपेक्षा एक कपटी राजनीतिज्ञ के रूप मे अधिक चित्रित होते है।

पाशुपत साहित्य की हमारी व्याख्या पर वापस आने पर हम देखते हैं कि वैष्णवो तथा एकतत्ववादी शकर अनुयायियो के बीच, हमारे पास एकेश्वरवादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती हुई एक विचारधारा है। यह विचार भिन्न रूपो मे व्यक्त हुआ है, जिसमे कभी-कभी ईश्वर को परे किन्तु विश्व को धारण करते हुए, स्थापित किया है, कभी यह माना है कि ईश्वर ससार से परे है तथा इसकी सृष्टि अपनी शक्ति के द्रव्य से की है, अन्य स्थानो मे यह माना है कि ईश्वर तथा शक्ति एक ही तथा समान हैं। कभी यह माना है कि ससार की सृष्टि ईश्वर ने अपनी दया अथवा अनुग्रह से की है तथा उसका अनुग्रह एक आन्तरिक गतिशील शक्ति है जो सृष्टि के क्रम तथा पालन का अनुसरण करती है। इस प्रकार अनुग्रह के सिद्धान्त तथा कर्म के सिद्धान्त में एक सन्धि हो गई है। किन्तु अन्य ऐसा सोचते है कि हमे आवश्यक रूप से कर्मों के फलो को प्राप्त करने का अधिकार नही है परन्तु ईश्वर ने जो कुछ हमे प्रदान किया है उसमे अपने को सतुष्ट करना होगा। पाशुपत इस विचार की पुष्टि करते हैं तथा यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि नैयायिक जो कर्म का सिद्धान्त स्वीकार करता है, यह सोचता है कि हम केवल उन्ही उपभोगो तथा अनुभवो के योग्य है जिन्हे ईश्वर ने प्रदान किया है। यह तथ्य कि न्याय तथा पाशुपत दोनो ही यह सोचते हैं कि ईश्वर की सिद्धि अनुमान द्वारा की जा सकती है, तथा ईश्वर का अनुग्रह अन्त मे हमारे सम्पूर्ण अनुभवो के लिए उत्तरदायी है, हमे स्वाभाविक रूप से न्याय वैशेषिक विचार तथा पाशुपत को सम्बद्ध करने की ओर प्रेरित करता है। यह परम्परा राजशेखर तथा हरिभद्र के साथ गुणरत्न के दोनो षड्दर्शन-सामुच्चय मे सुरक्षित है, तथा दसवी व ग्यारहवी शताब्दी तक की बहुत सी न्याय रचनाओ के मागलिक पद्य इस परिकल्पना का समर्थन करते है कि न्याय, वैशेषिक पाशुपतो का ही एक सम्प्रदाय था जिसने तर्क-शास्त्र तथा तत्व विज्ञान की पद्धति के विकास को अधिक महत्व दिया है। पाशुपत प्रणाली ने साधारणत जाति विभाजन को स्वीकार किया है तथा केवल उच्च जातियो के व्यक्ति ही आध्यात्मिक मोक्ष की प्राप्ति का दावा कर सकते थे, तथापि हम देखते हैं कि जैसे-जैसे समय व्यतीत हुआ सभी जातियो के पुरुष ईश्वर के भक्त अथवा सेवक बन सकते

थे तथा शैव कहला सकते थे। वैष्णवों में भी हम इसी प्रकार क्रमिक विस्तार तथा जाति प्रथा का अपक्रम पाते हैं। शैव तथा वैष्णव दोनों ही मतों में ईश्वर के प्रति भक्ति, निष्ठा का प्रमाण मानी जाने लगी।

हमने पहले ही कारवण माहात्म्य के इस कथन की ओर उल्लेख किया है कि किस प्रकार भगवान ने अत्रि के वंशज के रूप मे अवतार लिया। कहा जाता है कि वह पैदल उज्जैन गए तथा ब्रह्मावर्त से आए हुए कुशिक नामक ब्राह्मण को शिक्षित किया। यह शिक्षायें पचार्थ नाम के वर्तमान सूत्रो के रूप मे थी, जिसका मुख्य सार पहले ही वर्णित किया गया है। साधारणत ऐसा विश्वास है कि पांच अध्यायो में विभाजित (पचार्थ) मौलिक सूत्रो की रचना प्रथम अथवा द्वितीय ई० मे किसी समय हुई थी। कौंडिन्य के भाष्य तथा राशीकर भाष्य समवत एक ही थे। कौंडिन्य ने अपने समकालीन किसी लेखक के नाम का उल्लेख नही किया है। उन्होने साख्य योग की ओर सकेत किया है किन्तु वेदान्त अथवा उपनिषदो की ओर नहीं। अत यह ध्यान देना रोचक है कि इस प्रणाली ने उपनिषदो के प्रमाण अथवा उनके आश्रय की आकाक्षा नहीं की है। सूत्रो का प्रमाण इस कल्पना पर आधारित है कि वे स्वय पशुपति द्वारा रचित थे। कौडिन्य की रचनाओ मे अनेक उद्धरण हैं किन्तु उनके उद्‌गमो की पहचान समव नही है। कौंडिन्य के भाष्य की लेखन पद्धति हमे वैयाकरण पतजलि के लेखो का स्मरण दिलाती है जो समवत लगभग १५० ई० पू० मे वर्तमान थे। साधारणत यह विश्वास किया जाता है कि कौंडिन्य ४००-६०० के मध्य मे वर्तमान थे। यद्यपि मैं नही समझ पाता कि क्यो वह एक या दो शताब्दी पूर्व के भी नहीं माने जा सकते। गणकारिका का काल वस्तुत अनिश्चित है, किन्तु भासर्वज्ञ ने इस पर रत्नटीका नामक टीका लिखी थी। वे दसवी शताब्दी के मध्य मे वर्तमान प्रतीत होते हैं। यह ध्यान देना रोचक है कि कारवण माहात्म्य मे सोमनाथ का मन्दिर अत्यधिक महत्वपूर्ण पाशुपत केन्द्रो मे से एक के रूप मे वर्णित है।

नकुलीय पाशुपत प्रणाली, शैव प्रणाली तथा काश्मीर की प्रत्यभिज्ञा प्रणाली की व्याख्या हमे चौदहवी शताब्दी के माधव की सर्व-दर्शन-सग्रह मे मिलती है। नकुलीश-पाशुपत-प्रणाली पाशुपत-सूत्र तथा कौंडिन्य के भाष्य पर (जिसे राशीकर भाष्य भी कहा गया है) आधारित है। अत माधव लगभग दस शैव रचनाओ का वर्णन करते है जो अनेक अन्य रचनाओ के साथ प्रस्तुत लेखक को पूर्ण अथवा आशिक हस्त लेखो के रूप मे प्राप्त हैं।[1] शकर ने ब्रह्मसूत्र २-२-३७ पर अपने भाष्य मे माहेश्वरो के

---

[1] जिन रचनाओ का माधव ने अपने "सर्व-दर्शन-सग्रह" मे वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं—मृगेन्द्रागम, पौष्करागम, भोज की तत्व प्रकाश, सोम समु का भाष्य, अघोर शिवचार्य की तत्व प्रकाश पर टीका, कालोत्तरागम्, रामकन्ठ की कालोत्तरागम पर टीका, किरणागम, सौरभेयागम तथा ज्ञान रत्नावली।

साथ अन्य दूसरो के विषय मे कहा है जो ईश्वर को निमित्त कारण मानते थे किन्तु उपादान कारण नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने माहेश्वरो की प्रतिशाखाओं को विभिन्न किया है, परन्तु वाचस्पति माहेश्वरो की चार प्रतिशाखाओ के विषय मे कहते हैं। किन्तु माधव शैव प्रणाली की दो प्रकारो की व्याख्या दो भिन्न खंडो में नकुलीश-पाशुपत तथा शैव के रूप मे करते हैं। शकर के भाष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि वे केवल "पाशुपत-सूत्र" के "पचार्थ" से ही परिचित थे, किन्तु आनन्दगिरि ने अपनी "शकर-विजय" मे शैव पथ के छ भिन्न प्रकारो की ओर सकेत किया है जैसे कि शैव, रौद्र, उग्र, भट्ट, जगम तथा पाशुपत। ये भिन्न पथ अपने शरीर पर भिन्न प्रकार के चिह्न धारण करते, तथा भिन्न कर्मकाण्डो द्वारा अपने को परस्पर पृथक् करते थे, किन्तु पूर्ण सम्भावना है कि उनका बहुत सा विशेष धार्मिक साहित्य बहुत पहले ही खो गया है। पाशुपतो का एक साहित्य है तथा वह पथ अब भी जीवित है, किन्तु शकर विजय मे पाए गए पाशुपतो के बाह्य चिह्न उन चिह्नो से पूर्णतया भिन्न है जो गुणरत्न की टीका मे मिलते हैं। गुणरत्न (चौदहवी शताब्दी) पाशुपतो को काणाद मानते है। उन्होने नैयायिको को भी, जो योग भी कहलाते हैं, उसी प्रकार का शैवी माना है जैसे कि काणाद तथा काणाद के समान ही व्यवहार करते हुए एव उसी प्रकार के चिह्न धारण करते हुए माना है। आनन्दगिरी द्वारा शैवपथो के वर्णन से उन शैव पथा के सिद्धान्तो के विषय मे बहुत कम समझा जा सकता है। यही कहा जा सकता हे कि उनम से कुछ शैव यह विश्वास करते थे कि ईश्वर उपादान कारण के अतिरिक्त निमित्त कारण भी है। शकर ने ब्रह्मसूत्र २-२-३७ पर अपनी टीका मे इस प्रकार शैव मत का खडन किया है। पाशुपत तथा शैवागम के अनुयायी दोनो ही ईश्वर को निमित्त मानते थे, जबकि शकर ईश्वर को निमित्त तथा उपादान कारण दोनो ही मानते थे। "शकर विजय" मे हम शैव मत की कुछ प्रणालियो की ओर भी सकेत पाते है जिनके सदस्य अपने शरीर पर पाषाण लिग-पूजन-सम्बन्धी चिह्न धारण करते थे। उन्होने ऐसे सिद्धान्त को माना जो वीर शैवो के षटस्थल सिद्धान्त के समान था। यद्यपि हम देखते है कि वीर शैव प्रणाली की विधिवत् रचना आनन्दगिरी के कम से कम ५०० वर्ष पश्चात् हुई थी। हमने देखा है कि वाचस्पति मिश्र ने अपनी "भामती" मे चार प्रकार के शैवो के विषय मे लिखा है। चौदहवी शताब्दी के माधव ने प्रत्यभिज्ञा प्रणाली की, जो साधारणत शैवो की काश्मीर प्रणाली कहलाती है, पृथक् व्याख्या के अतिरिक्त शैवो के केवल दो पथो का नकुलीश पाशुपत तथा आगमो के शैवो के रूप मे वर्णन किया है।

माना जाता है कि शैवागम अथवा सिद्धान्त मौलिक रूप मे, महेश्वर द्वारा सम्भवत सस्कृत मे लिखे गए थे। परन्तु "शैव धर्मोत्तर मे यह कहा गया है कि ये

संस्कृत, प्राकृत तथा स्थानीय भाषा मे लिखे गए थे।"[1] यह इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि आगम संस्कृत तथा कुछ द्रविड़ भाषाओं (जैसे तमिल, तैलगु, कन्नड) दोनो मे प्राप्त हैं। तथा यह इस प्रतिवाद को भी स्पष्ट करता है कि आगम अथवा सिद्धान्त मौलिक रूप से संस्कृत मे लिखे गए थे अथवा द्रविड़ भाषा में ? सौभाग्य से प्रस्तुत लेखक सम्पूर्ण आगमो को अथवा आगमो के आंशिक भागो का सकलन कर सका है। बहुत से हस्तलेख नष्ट होने की अवस्था मे हैं तथा उनमे से कुछ पूर्ण रूप से खो गए हैं; संस्कृत हस्तलेख जिस पर हमारा यह प्रयत्न आधारित है ट्रिपलीकेन, अड्यार तथा मैसूर के बृहत् हस्तलेख पुस्तकालयो में प्राप्त हैं। यह आश्चर्य है कि बनारस मे जो शैव का प्रमुख अवस्थान है, बहुत ही कम महत्वपूर्ण हस्तलेख है। महत्वपूर्ण "सिद्धान्त" तथा "आगम" यथेष्ट संख्या मे हैं तथा उनमे से अत्यधिक हस्तलेख दक्षिण भारत मे हैं।[2] अनेक दृष्टान्तो मे ऐसी ही रचनाये पूर्ण द्रविड भाषा मे मिल सकती हैं, किन्तु प्रेरणा तथा विचार लगभग सदैव ही संस्कृत से लिए गए हैं। अत द्रविड सभ्यता का सार, कम से कम जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है, लगभग पूर्ण रूप से संस्कृत से लिया गया है।

---

[1] सस्कृतै प्राकृतैर् वाक्यैर् यश्च शिष्यानुरूपत
देशभाषाद्युपायैश्च च बोधयेत् स गुरु स्मृत ।

शिव-ज्ञान-सिद्धि मे उद्धरित शिव धर्मोत्तर (हस्तलेख सख्या ३७२६ आरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर।

[2] कुछ आगम इस प्रकार हैं—कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, अशुमान, सुप्रभेद, विजय, नि श्वास, स्वायम्भुव, वीर, रौरव, मकुट, विमल, चन्द्र ज्ञान, बिम्ब, ललित, सन्तान, सर्वोक्त, पारमेश्वर, किरण वातुल, शिव-ज्ञान-बोध, अनल, प्रोदगीत।

शिव-ज्ञान-सिद्धि मे हम अन्य आगमो तथा तत्रो से विस्तृत उद्धरण पाते हैं जो सिद्धान्तो की दार्शनिक तथा धार्मिक स्थिति स्पष्ट करते हैं। जिन रचनाओ से उद्धरण लिए गए हैं वे इस प्रकार हैं—हिम-सहिता, चिन्त-विश्व, शिव-धर्मोत्तर (पुराण), पौष्कर, शिव तत्र, सर्व सतोषन्यास, पारा, रत्न जय, निवास, मृगेन्द्र, ज्ञान-कारिका, नाद-कारिका, कालोत्तर, विश्व-सारोत्तर, वायव्य मातग, शुद्ध, सर्व-ज्ञानोत्तर, सिद्धान्त-रहस्य, ज्ञान-रत्नावली, मेरुतत्र, स्वच्छद तथा देवी-कालोत्तर।

उपर्युक्त बहुत से आगम सस्कृत पद्धति मे लगभग ६ द्रविड भाषाओ मे लिखे गए हैं, तमिल, तैलगु, कन्नड, ग्रन्थ तथा नन्द नगरी। आगमो पर आधारित अनेक तत्र संस्कृत रचनाओ मे द्रविड लिपि मे भी मिलते हैं। जहाँ तक पुस्तक लेखन का ज्ञान है, दार्शनिक महत्व का अथवा क्रमिक विचार धारा मे कदाचित् ही ऐसा कुछ होगा जो द्रविड भाषा मे प्राप्त हो तथा सस्कृत मे न हो।

प्राचीन तमिल का अध्ययन यथेष्ट कठिन है तथा पोप एवं शोमेरुस के समान जिन्होंने तमिल का जीवनपर्यन्त अध्ययन किया है, उनके पास संस्कृत के अध्ययन का समय समुचित सीमा तक नहीं था। द्रविड भाषाओं से अपरिचित होने के कारण प्रस्तुत लेखक को लगभग पूर्ण रूप से संस्कृत साहित्य पर निर्भर होना पड़ा है परन्तु यह निश्चित करने की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया है कि विषय से सम्बन्धित द्रविड रचनाओं का उचित प्रतिनिधित्व संस्कृत हस्त लेखों में है।

आगमों की क्रमश तिथियां निश्चित करना कठिन है। हम केवल यह सोच सकते हैं कि उपर्युक्त अनेक आगम नवीं शताब्दी तक पूर्ण हो गए थे। उनमें से कुछ शंकराचार्य के समय में वर्तमान थे जो आठवीं अथवा नवीं शताब्दी ई० में किसी समय थे। उपर्युक्त आगमों में से कुछ के नामों का उल्लेख कुछ पुराणों में भी है। पाशुपत-सूत्र पर कौंडिन्य के भाष्य में अनेक अज्ञात उद्धरण हैं परन्तु उपर्युक्त आगमों के नामों का उल्लेख नहीं है। यद्यपि कुछ आगमों के नाम की ओर संकेत की आशा की जा सकती थी क्योंकि वे उसी विश्वास का भिन्न प्रकारों से विस्तार करते हैं। दूसरी ओर पाशुपत-सूत्रों अथवा कौंडिन्य के भाष्य के नाम का उल्लेख आगमों ने किया है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि उत्तरकालीन लेखकों को कभी-कभी पाशुपत का आगमी प्रणालियों से भ्रम हो गया हो, उदाहरणार्थ वायवीय संहिता अथवा उत्तरकाल में अप्पय दीक्षित, तथापि शंकर स्वयं केवल महेश्वरकृत सिद्धान्त के विषय में ही कहते हैं। वाचस्पति ने शैव मत के चार सम्प्रदायों की ओर संकेत किया है तथा माधव ने दक्षिणी शैव मत के दो सम्प्रदायों, नकुलीश पाशुपत तथा शैवों की ओर संकेत किया है। इसके भी उत्तर काल में राजशेखर तथा गुणरत्न द्वारा स्थापित जैन परम्परा में हमें पाशुपत सम्प्रदाय के शिक्षकों की दीर्घ सूची मिलती है। वायवीय संहिता में हमें अठाईस योगाचार्यों के नाम भी मिलते हैं जिनमें से प्रत्येक के चार शिष्य थे।

हमने पहले ही भोज के तत्व प्रकाश में सुरक्षित आगामी प्रणाली के सार की व्याख्या श्री कुमार तथा अघोर शिवाचार्य की टीका के साथ एक पृथक् भाग में की है। माधव ने भी अपने सर्वदर्शन संग्रह में उपराक्त आगमों तथा आगमी लेखकों में से कुछ के नाम का उल्लेख किया है।

शोमेरुस अपने "द्वैर शैव सिद्धान्त" में, जिसमें उन्होंने विशेष प्रकार के शैव एक तत्ववाद का वर्णन किया है, शैव मत के अनेक अन्य सम्प्रदायों के विषय में कहते हैं जिन्हें कि वह शिव-ज्ञान-बोध[1] की टीका में से चुनते हैं। शोमेरुस द्वारा व्याख्या

---

[1] वह उनको दो वर्गों में रखते हैं—(१) पाशुपत, माव्रत-वाद (सम्भवत महाव्रत), कापालिक, वाम, भैरव, ऐक्यवाद, (२) ऊर्ध्व शैव, अनादि शैव, आदि शैव, महाशैव, भेद शैव, अभेद शैव, अन्तर शैव, गुण शैव, निर्गुण शैव, अध्वन शैव, योग शैव, ज्ञान शैव, अणु शैव, क्रिया शैव, नालु-पाद-शैव, शुद्ध-शैव।

किया हुआ शैव सिद्धान्त मत उन अनेक शैव विचारधाराओं में से एक है जो देश में प्रचलित था। शोमरुस का विचार पाशुपत वीर शैव तथा प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त, यह मत लगभग समान ही है। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि शोमरुस ने आगमों के मूल ग्रन्थ का उपयोग किया है, तथा यह दर्शाया है कि वे किस प्रकार विषय पर आगे बढ़े है। किन्तु हमने अपने आगमी शैव मत की व्याख्या मे आगमो की रचनाओं का उपयोग करने का प्रयत्न किया है, जो सम्पूर्ण अथवा आशिक रूप मे अभी भी प्राप्त हैं। परन्तु आगमों का एक बृहत् भाग कर्मकाण्ड, पूजा के रूप, पूजा के स्थान के निर्माण तथा मत्रो की व्याख्या करता है। इनका कोई दार्शनिक महत्व नही है, अत: उनके विषय में विचार नही किया जा सकता तथा उनकी यहाँ उपेक्षा की गई है।

आगमी शैव मत, मुख्यत तमिल प्रदेश का, पाशुपत गुजरात काप्रत्यभिज्ञा कश्मीर तथा भारत के उत्तरी भागो का है एव वीर शैव अधिकाशत कन्नड भाषी प्रदेशो मे पाया जाता है। शोमरुस यह सकेत करते हैं कि कभी-कभी यह कहा जाता है कि आगम ऐतिहासिक काल से पूर्व द्रविड भाषाओं मे लिखे गए थे तथा वे अपने उद्गम के लिए शिव की आकाशवाणी तथा तिनिवेल्ल प्रदेश मे महेन्द्र पर्वत मे श्रीकठ रुद्र के रूप नन्दी के ऋणी है। बृहत् बाढ के कारण इन अट्ठाईस आगमो मे से अनेक नष्ट हो गए। शेष अब सस्कृत अनुवादो मे प्राप्त हैं तथा द्रविड मूल रचनाओं मे भी सस्कृत शब्द प्रचुर मात्रा मे है। किन्तु इस भाग का किसी प्रकार प्रमाणित नही किया जा सकता। शिव-महापुराण की वायवीय-सहिता तथा सूत-सहिता मे आगमो का उल्लेख मिलता है।[1] उल्लेखो से यह प्रदर्शित होता है कि कामिक तथा अन्य आगम सस्कृत मे लिखे गए थे क्योंकि उनसे वेद सम्बन्धित साहित्य का निर्माण हुआ। प्रस्तुत लेखक को कामिक के अश सस्कृत उद्धरण मे प्राप्त है, इसी प्रकार मृगेन्द्र जो कामिक का एक भाग है, सम्पूर्ण रूप मे सस्कृत मे प्राप्त है। प्रस्तुत लेखक ने आगमी शैव मत के खड की सामग्री इन्ही आगमो से ली है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि स्वायमुवागम मे एक निश्चित लेख है कि सस्कृत रचनाओं का प्राकृत तथा अन्य स्थानीय भाषाओं मे अनुवाद हुआ था। अत हम यह विचारने के लिए विवश हो जाते हैं कि यह कथन, कि आगम मूलत द्रविड भाषाओं मे लिखे गए थे, तथा तत्पश्चात्

---

[1] सूत सहिता भाग १ अध्याय २ मे हम देखते हैं कि वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, महाभारत, वेदाग, उपवेद, आगम जैसे कि कामिक आदि, कापाल तथा लाकुल, पाशुपत, सोम तथा भैरवागम तथा ऐसे ही अन्य आगम, एक ही समान ऐसे वर्णित हैं कि वे सम्बन्धित साहित्य का निर्माण करते है। सूत-सहिता साधारणत छठी शताब्दी ई० की रचना मानी जाती है।

उनका अनुवाद संस्कृत मे हुआ था, तमिल जाति का काल्पनिक देश-भक्ति पूर्ण विश्वास ही प्रतीत होता है।

शोमरुस ने अठाइस शैवागमो के नामो का वर्णन किया है, यद्यपि कही-कही उनका अक्षर विन्यास अशुद्ध है।[1] वे आगे चौदह (धर्म संहिताओ मे मूल लेखो) का उल्लेख करते हैं जो शैव सिद्धान्त-शास्त्र की सामग्री का निर्माण करते हैं। वे तमिल मे लिखे हुए हैं तथा केवल प्रस्तुत लेखक को ही उनमे अत्यन्त महत्वपूर्ण मेयकडदेव की शिव-ज्ञान-बोध के संस्कृत मूल लेखो की प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त है।[2]

मेयकडदेव "शिव-ज्ञान-बोध" रौरवागम से लिए हुए तार्किक स्वभाव का बारह पद्यो मे संक्षिप्त साराश है। इन बारह पद्यो की भी "वार्तिक" नाम की टीका है तथा अनेक अन्य उप-टीकाये हैं। मेयकडदेव का वास्तविक नाम स्वेतवन था तथा उनके विषय मे अनेक काल्पनिक कथन है। एक महान् विद्वान अरूलनन्ति शिवाचार्य मेयकडदेव के शिष्य बन गए। मेयकडदेव के उत्तराधिकारी के रूप मे नम शिवाय देशिक पाचवे शिष्य थे, तथा उमापति मेयकडदेव के तृतीय उत्तराधिकारी १३१३ ई० मे वर्तमान थे। अत माना जाता है कि मेयकड १३वी शताब्दी के प्रथम तृतीय भाग मे विद्यमान थे। उमापति पौष्करागम के भी लेखक थे।

शैव सिद्धान्त के सबसे प्राचीन तमिल लखक तिरूमुलर है, जा सम्भवत प्रथम शताब्दी ई० मे वर्तमान थे। एन पिल्ले द्वारा उनके लेखा के एक भाग का ही "सिद्धान्त दीपिका" मे अनुवाद किया गया है। मानिक्कवाचकर, अप्पर, ज्ञान सम्बन्ध तथा सुन्दर जो सम्भवत आठवी शताब्दी मे वर्तमान थे, शैव सिद्धान्त के उत्तरकालीन

---

[1] कामिक, योगज चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, अशुमान, सुप्रभेद, विजय, नि श्वास, स्वाययभुव, अनिल, वीर, रौरव मकुट, विमल, चन्द्रहास, मुख-जुग-बिम्ब अथवा बिम्ब, उद्गीत अथवा प्राद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह, पारमेश्वर, किरण तथा वातुल। प्रस्तुत लेख द्वारा इनमे से अनेक पहले ही वर्णित किए जा चुके है, तथा इनमे से कुछ उसके संग्रह मे हैं। शामरुस कहते है कि यह नाम श्रीकठ के भाष्य मे हैं परन्तु प्रस्तुत लेखक निश्चित है कि उसमे नही मिलते है।

[2] शामरुस द्वारा उल्लेखित जो तमिल रचनाएँ शैव सिद्धान्त शास्त्र की समष्टि का निर्माण करती हैं, वे इस प्रकार हैं शिव-ज्ञान-बोध, शिव-ज्ञान-सिद्धि, इरुपविरूपथु, तिरूवुन्तियर, तिरूकक्कलिरूपदियर, उनमैविलक्क, शिव प्रकाश, तिरूवरूदपयन, विनावेन्ब, पोरिपक्रादई, कोडिक्कवि, नेन्चु विदूतुतु, अन्मैव रिविलक्क तथा सकल्प-निराकरण। बारह पद्यो की "शिव-ज्ञान-बोध" रौरवागम की साराश मानी जाती है तथा इसकी आठ टीकाएँ है।

चार आचार्य हैं। तत्पश्चात्, हमें नम्बियान्दार तथा सेक्किलर, शैव सिद्धान्त के दो प्रमुख लेखक मिलते हैं। इनमे से प्रथम की रचनाओ का एक सग्रह तमिल वेद के नाम से प्रचलित हुआ। सम्भवत वह ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त मे वर्तमान थे।

दक्षिण के शैव मन्दिरो मे अब भी तमिल वेद का उच्चारण होता है। वह ग्यारह पुस्तको का सकलन है। प्रथम सात सूक्त के रूप मे हैं। आठवी पुस्तक, तीन आचार्यों-अप्पर, ज्ञान सम्बन्ध तथा सुन्दर की है, नवी मे पुन सूक्त हैं। दसवी मे भी हम तिरुमुलर के कुछ सूक्त पाते हैं। ग्यारहवी पुस्तक के एक भाग मे पौराणिक उपाख्यान हैं जो पेरिय-पुराण का मूल आधार निर्धारित करते है, जो तमिल सन्तो के बहुत महत्वपूर्ण तमिल उपाख्यानो का आधार है। ग्यारहवीं शताब्दी तक पुस्तक पूर्ण हो गई थी। तेरहवी शताब्दी मे शैव सिद्धान्त-सम्प्रदाय का शैव मत के एक सम्प्रदाय के रूप मे, मेयकण्डदेव तथा उनके शिष्य अरूलनन्ति तथा उमापति के साथ उद्भव हुआ।

पोप के तिरूवाचक के अनुवाद मे, शोमरुस के डेर-शैव-सिद्धान्त तथा ए एन पिल्ले के लेखो मे शैव मत का वर्णन (जितना भी तमिल मूल ग्रन्थो मे सग्रहित हो सकता है) मिलता है। प्रस्तुत लेखक तमिल भाषा से अपरिचित है तथा उसने अपनी रचना सामग्री आगमो के मौलिक सस्कृत हस्तलेखो से सग्रहीत की है, जिसकी कि तमिल व्याख्या केवल एक प्रतिरूप है।

आगम साहित्य तथा उसका दार्शनिक स्वरूप

जो दार्शनिक विचार आगम साहित्य मे मिलते हैं उनका सक्षिप्त साराश शैव मत के अन्तगत "सर्व-दर्शन-सग्रह" मे है तथा उनकी प्रचुर विवेचना प्रस्तुत रचना के कुछ खडो मे भी है। आगम साहित्य यथेष्ठ विस्तृत है परन्तु इसकी दार्शनिक उपलब्धि वस्तुत गौण है। आगमो मे कुछ दार्शनिक तत्व हैं परन्तु इनकी रुचि शैव पथ के धार्मिक विवरणा की ओर अधिक है। अत हमे यथेष्ठ मात्रा मे धार्मिक क्रियाओ, मन्दिरो के निर्माण के लिए शिल्प कला सम्बन्धित विधियो के विषय मे विवरण एव मत्र तथा शिव की प्राण लिंग प्रतिष्ठा से सम्बन्धित पूजा के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। फिर भी अधिकतर आगमो मे "विद्या पाद" नामक पृथक् भाग है, जिसमे सम्प्रदाय के सामान्य दार्शनिक विचार प्रतिपादित है। जैसे-जैसे हम एक आगम से दूसरे की ओर जाते हैं, वैसे-वैसे इन मतो के वर्णन मे कुछ भिन्नताये मिलती है। यद्यपि इन आगमो मे से अधिकतर अभी भी अप्रकाशित हैं तथापि वे भारत के विभिन्न भागो के लाखो व्यक्तियो द्वारा आचरित शैवमत के धार्मिक सार है। अत एक स्वाभाविक अन्वेषण हो सकता है कि आगमो के मुख्य सिद्धान्त क्या हो सकते है। किन्तु यह एक ही प्रकार के सैद्धान्तिक विचारो की निरन्तर आवृत्ति दिए बिना नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत रचना वास्तव मे मुख्यत दर्शन के अध्ययन से

सम्बन्धित है परन्तु क्योकि शैव अथवा शाक्त विचारो का अध्ययन धार्मिक सिद्धान्तो से पृथक् नही किया जा सकता, जिससे वे अपृथक् रूप से सम्बन्धित हैं, अत. हम आगमो के केवल कुछ प्रतिरूप ही ले सकते हैं तथा उनमे प्राप्त विचारो के स्वरूप का निरूपण कर सकते है। ऐसा करने मे हम पर आवृत्ति का आरोप लगाया जा सकता है किन्तु हमे अत्यन्त महत्वपूर्ण आगमो मे से कुछ के विषयो पर कम से कम एक द्रुत निरीक्षण करने के लिए इस आरोप का सामना करना ही होगा। आगे के विवरण से पाठक को महत्वपूर्ण आगमो मे से कुछ के दार्शनिक पक्ष के साहित्यिक विषय पर निर्णय करने का अवसर मिल जायगा, जिससे शैव मत का भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओ से आन्तरिक सम्बन्ध के विषय मे विस्तृत दृष्टिकोण प्राप्त हो सकेगा।

सर्व-दर्शन-सग्रह में मृगेन्द्रागम को बहुधा उद्धरित किया गया है। यह रचना कामिकागम की एक सहायक भाग कही गयी है, जो प्राचीनतम आगमो मे से एक मानी जाती है तथा जिसका उल्लेख "सूत-सहिता" मे किया गया है जो सोलहवी शताब्दी की रचना मानी जाती है। 'सूत-सहिता" मे कामिकागम का उल्लेख उसी सम्मान से किया गया है जो अत्यधिक प्राचीन मूल ग्रन्थो के युक्त हैं।

मृगेन्द्रागम[1] का आरम्भ इस तर्क से होता है कि किस प्रकार शैव पथ ने वैदिक प्रकार की पूजा का निष्प्रभाव किया। यह इगित किया गया था कि वैदिक देवता साकार ठोस पदार्थ नही थे, किन्तु उनकी वास्तविकता मत्रो मे थी, जिनमे उनका स्वागत तथा पूजा होती थी एव फलस्वरूप वैदिक पूजा दिक् व काल मे स्थित साकार पूजा नही मानी जा सकती। परन्तु शिव के प्रति भक्ति, पूजा की निश्चित तथा साकार विधि मानी जा सकती है। अत वह वैदिक अभ्यासो को निष्प्रभावित कर सकती थी। रचना के द्वितीय अध्याय मे शिव को समस्त अशुद्धि-रहित रूप में वर्णित किया गया है। वह सर्वज्ञ है तथा सब वस्तुओ का निमित्त कारण है। उसे इसका पूर्ण ज्ञान है कि जीव किस प्रकार व्यवहार करेंगे तथा उसी के अनुसार वह सब प्राणियो को बन्धन की गाँठो मे सयुक्त तथा पृथक् करता है।

शैवागम सृजन, पालन, सहार, सत्य तथा मोक्ष के आवरण की मुख्य समस्या का विवरण करता है। यह सब, निमित्त कारण भगवान शिव द्वारा किया जाता है। इस दृष्टिकोण से ससार का सृजन, पालन तथा सहार की योजना स्वाभाविक

[1] मौलिक हस्तलेख के आधार पर इस खड को लिखने के पश्चात् प्रस्तुत लेखक को के० एम० सुब्रमनिया शास्त्री द्वारा १९२८ मे प्रकाशित मृगेन्द्रागम् की विद्या तथा योगपाद की छपी पुस्तक भट्ट नारायण कठ की "मृगेन्द्रवृत्ति" नामक टीका तथा अघोर शिवाचार्य की "मृगेन्द्र-वृत्ति-दीपिका" नामक उपटीका के साथ प्राप्त हुई है।

ही महाप्रभु आरम्भ मे करते हैं, फिर भी वस्तुएँ प्राकृतिक गति मे अभिव्यक्त होती हैं। हमारे अनुभव के संसार मे परिवर्तन, जीव के अवरकालीन कर्मों द्वारा स्थिर नही किए जाते हैं। परन्तु फिर भी मोक्ष-प्राप्ति इस प्रकार योजित है कि उसे व्यक्तिगत प्रयत्नो के अतिरिक्त प्राप्त करना सम्भव नही है।

चेतना अनुभूति तथा स्वत क्रिया के स्वरूप की है (चैतन्यम् दृक् क्रिया-रूपम)। यह चेतना सदैव आत्मा मे स्थित रहती है तथा इस चेतना के लिए प्रयुक्त पदार्थों मे से कुछ का विवरण चर्या नामक अनेक धार्मिक नैतिक आचारो के साथ किया गया है। वेदान्त, साख्य, वैशेषिक, बौद्धमत तथा जैन मत का खडन करने वाली एक सक्षिप्त आलोचना भी है।

शैवागम मानते हैं कि अपने शरीर तथा अन्य शरीरधारी वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण से हम स्वाभाविक रूप से यह अनुमान लगाते हैं कि कोई निमित्तकर्त्ता है, जिसको ससार का कारण मानना पडेगा। कार्यों की भिन्नता स्वाभाविक रूप से कारण तथा उसके स्वभाव मे भिन्नता का अनुमान करती है। कार्यों की सिद्धि विशेष निमित्तो द्वारा होती है। यह सब निमित्त एक आध्यात्मिक प्रकृति के हैं। वे शक्ति की प्रकृति के भी हैं। अनुमान मे व्याप्ति कुछ दृष्टान्तो मे साधारणत प्रत्यक्ष होती है। परन्तु जिस दृष्टान्त मे शिव को सृष्टि-कर्त्ता के रूप मे निर्धारित करते हैं उसमे हमारे पास वास्तविक अनुभव के कोई तथ्य नही है, क्योंकि शिव नि शरीर है। परन्तु यह माना जाता है कि शिव के शरीर की रचना कुछ मत्रो द्वारा रचित समझी जा सकती है। जब किसी को मोक्ष प्राप्त होना होता है तब ईश्वर, व्यक्ति की चेतना से तमोगुण के आवरण का निवारण कर देता है। जिनके तमस का निवारण हो जाता है, वे स्वाभाविक ही मोक्ष के अन्तिम लक्ष्य के योग्य हो जाते है। उन्हे अपने विशेष गुणो की अभिव्यक्ति के लिए शिव की प्रतीक्षा नही करनी पडती है। हमने पहले ही देखा है कि शिव हमारी समस्त क्रियाओ का अभिव्यजक है।

समस्त बन्धनो का उद्गम "माहेश्वरी शक्ति" है जो सभी व्यक्तियो के उनके स्वय के आकार मे विकसित तथा वृद्धि करने मे सहायता देती है (सर्वानुग्राहिका)। यद्यपि अनेक दृष्टान्त ऐसे हो सकते है जिनमे कि हम कष्ट भोगते हैं तथापि माहेश्वरी शक्ति सर्वलौकिक सेवा के रूप की मानी जाती है। इसका स्पष्टीकरण इस विचार मे पाया जा सकता है कि प्राय कष्ट भोग करके ही हम अपना शुभ प्राप्त कर सकते है। शिव सदैव हमारे शुभ के लिए शक्ति का सचालन करता रहता है, यद्यपि मध्य-वर्ती काल मे हम दु ख ग्रस्त प्रतीत हो सकते है (धर्मिणोनुग्रहो नाम यत्तद्धर्मानु-वर्तनम्)। भगवान की समस्त क्रियाएँ जीवो के हेतु होती हैं अर्थात् उनको विवेकी बनाने के लिए तथा उनकी उन्नति के लिए, जिससे अन्त मे वे अपने मलो से मुक्त हो सकें।

भिन्न कारण श्रृंखलाएँ, भिन्न प्रकार के कार्यों की श्रृंखलाएँ अभिव्यक्त करती है। शैव मत सत्कार्यवाद स्वीकार करता है। अत समस्त कार्यों के अस्तित्व को मानता है। भिन्न प्रकार की श्रृंखलाओ का कार्यान्वित होना केवल उस रीति पर निर्भर है जिसमे कि कारण श्रृंखलाएँ अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रकार एक ही मल भिन्न प्रकार के व्यक्तियो मे भिन्न आकारो मे प्रतीत होता है तथा विकास के भिन्न चरणो को सूचित करता है।

मल को, पूर्ण ससार मे व्याप्त, एक अपवित्र बीज माना जाता है जो ससार द्वारा अभिव्यक्त होता है तथा अन्त मे नष्ट कर दिया जाता है। इन अभिव्यक्तियो द्वारा ही निमित्त कारण ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है (कर्ता-नुमीयते येन जगद्धर्मेण हेतुना)। यह मल निर्जीव है, क्योकि ऐसा सिद्धान्त कार्यों के स्वभाव के अनुकूल है। मल के अनेक कारणो की अपेक्षा एक कारण की उपयुक्त कल्पना करना अधिक सुगम है। करघे की क्रिया से कपडे की रचना होती है। विविध सहायको की क्रियाओ के अनुसार कपडे की रचना होती है। विविध सहायको की क्रियाओ के अनुसार (द्रव्य रूप कपडा) अन्य रूपो मे भी अभिव्यक्त हो सकता था क्योकि समस्त कार्य वही है, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति केवल सहायको के व्यापार द्वारा ही हो सकती है। उत्पादन शक्ति के विचार की कल्पना करना कठिन है। यह कल्पना अधिक उचित है कि वस्तुएँ पहले से ही है तथा भिन्न प्रकार के कारणो की क्रियाओ द्वारा हमारे लिए प्रकाशित होती है।[1]

जीव सर्व-व्यापी हैं तथा उन्हे ईश्वर की शक्ति द्वारा अनन्त शक्ति प्राप्त है। केवल एक ही कठिनाई है कि मल के आवरण के कारण उन्हे सदैव अपने स्वरूप का ज्ञान नही रहता। शिव की क्रिया द्वारा ही यह आवरण इतने दूर हटा दिए जाते हैं कि जीव अपने को अपने अनुभवो के प्रति आकर्षित पाते है। ऐसा माया के क्षोभ से उत्पन्न ३६ कलाओं के साथ व्यक्तिगत चित्त के सयोग द्वारा होता है। हमने पहले ही भोज की "तत्व प्रकाशिका" के दर्शन की अपनी व्याख्या मे इन ३६ पदार्थों के स्वरूप का विवरण किया है। इन पदार्थों द्वारा ही आवरण को विदीर्ण करके पृथक् कर दिया जाता है तथा व्यक्ति के अपने अनुभवो मे रुचि हो जाती है। कला का अर्थ किसी को भी प्रेरित करने से है। (प्रसारणम् प्रेरणाम् सा कुर्वति तमस कला)। अनुभव की समग्रता प्राप्त करने हेतु कलाओं मे सयोजित होने के लिए

---

[1] सान्वय-व्यतिरेकाभ्या रूढितो वाऽवसीयते,
तद्वयक्ति-जननम् नाम तत्-कारक-समाश्रयात्।
तेन तन्तु-गताकार पटाकाराऽरोधकम्
वेमादिनाऽपनीयाथ पटापव्यक्ति प्रकाश्यते॥ —नवम् पटल

जीव को ईश्वर के अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी पडती है, क्योकि वह स्वय अपने आप ऐसा करने के अयोग्य है। मनुष्य द्वारा किया गया कर्म भी प्रकृति में मिला रहता है तथा नियति के पदार्थ द्वारा कार्य उत्पन्न करता है।

शिव-ज्ञान-बोध

—लेखक मेयकडदेव

जैसाकि पहले ही इगित किया गया है, यह रौरवागम से ली हुई १२ कारिकाओं (कभी कभी सूत्र कहलाते हैं) की एक सक्षिप्त रचना है। इसकी अनेक टीकाएँ हैं। इसका तमिल अनुवाद शिव-ज्ञान-सिद्धि विचारधारा की मूल रचना है। इसका स्पष्टीकरण अनेक योग्य लेखको द्वारा हुआ है। शिव-ज्ञान-सिद्धि का सामान्य तर्क निम्नलिखित है—

नर मादा तथा अन्य अलिग पदार्थों से पूर्ण ससार का एक कारण अवश्य होगा। इस कारण का प्रत्यक्षीकरण नही हो सकता वरन् अनुमान करना होगा। यह कल्पना की जा सकती है कि इसका सृष्टा है क्योकि इसकी सृष्टि काल मे हुई है। इसके अतिरिक्त ससार स्वय गतिमान नही हो सकता, अत यह कल्पना की जा सकती है कि इसके पीछे कोई कारण होगा।

ईश्वर ससार का सहार-कर्ता है तथा वह मलो के उचित प्रकाशनार्थ उन्हे उपयुक्त सुविधाए देने के लिए पुन सृष्टि करता है। अत स्थिति यह है कि यद्यपि उपादान कारण पहले से ही उपस्थित है तथापि ससार की सृष्टि तथा पालन के लिए एक निमित्त कारण आवश्यक है। प्रलय के समय जगदाभास मलो मे लय हो जाती है। कुछ अवधि के पश्चात् शिव की निमित्तता द्वारा ससार पुन उत्पन्न होता है। इस प्रकार, एक ओर, शिव ससार की सृष्टि करते है एव दूसरी ओर इसका सहार करते हैं। यह कहा जाता है कि जिस प्रकार ग्रीष्म मे सब जडे सूख जाती है तथा वर्षा मे नए पौधों के रूप मे उत्पन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार यद्यपि ससार नष्ट हो जाता है तथापि प्राचीन मलो के प्रभाव, प्रकृति मे दबे रहते है तथा उचित समय आने पर ईश्वर की सकल्पना शक्ति के अनुसार अपने को ससार सृष्टि के भिन्न आकारो मे प्रकट करने लगते है। व्यक्तियों के शुभ तथा अशुभ कर्मों के अनुरूप सृष्टि को एक अनिश्चित क्रम लेना पडता है। यह सृष्टि चार तत्वो के मिश्रण से स्वत नही हो सकती।

ईश्वर निमित्त कारण है, जिसके द्वारा सृष्टि, पालन तथा सहार के कार्य होते हैं। मेयकडदेव का शैव मत शकर के शुद्ध अद्वैतवादी सिद्धान्त का पूर्ण विरोधी है। जीव को ब्रह्म का स्वरूप नही माना जा सकता। यह सत्य है कि उपनिषदो मे जीव

तथा ब्रह्म दोनो ही स्वय प्रकाश तथा अन्तर नियमित माने गए है परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि जीव तथा ब्रह्म एक रूप है। निमित्त कारण एक है। पाश द्वारा बन्धे जीवो का अनन्त कारण अथवा ब्रह्मन् से एक रूप नही माना जा सकता।

एक व्यक्ति के कर्म स्वत कार्य उत्पन्न नही करते। ईश्वर के सकल्प के अनुरूप कार्य व्यक्ति से सयोजित हैं। कर्म स्वय निर्जीव हैं अत वे स्वत कार्य उत्पन्न नही कर सकते। समग्र कार्य साधन ईश्वर के कारण है, यद्यपि यह ईश्वर की अवस्था मे कोई रूपान्तर सूचित नही करता। किस प्रकार अपरिवर्तनशील मे परिवर्तन की उत्पत्ति, बिना किसी प्रयत्न अथवा परिवर्तन के हो सकती है, यह स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त लिया गया है। आकाश मे बहुत दूर सूर्य चमकता है तथा फिर भी उसकी ओर से विना किसी विघ्न के पृथ्वी पर सरोवर मे कमल खिल जाता है। इसी प्रकार ईश्वर अपने स्वय प्रकाश मे स्थिर रहता है तथा प्रकट रूप मे ससार मे परिवर्तन स्वत उत्पन्न होते है। ईश्वर समस्त प्राणियो के अन्तर मे तथा उनके द्वारा जीवित एव गतिशील होता है। केवल इसी अर्थ मे ससार ईश्वर के साथ एकरूप है तथा उस पर निर्भर है।

आत्मा "यह अथवा वह है" ऐसे कथनो का निषेध ही स्ववेदना द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। इसके द्वारा हम एक निरूपाधिक आत्मा के अस्तित्व की कल्पना कर लेते हैं, क्योकि ऐसी आत्मा विशिष्ट नही हो सकती। यह सुगमता से देखा जा सकता है कि ऐसी आत्मा बाह्य अवयव अथवा आन्तरिक अवयव अथवा मनस मे से किसी के समान नही हो सकती।

आन्तरिक अवयवो, मनस तथा इन्द्रिया से आत्मा भिन्न है, परन्तु फिर भी समुद्र के समान यह सब यथार्थता का सम्मिलित दृष्टिकोण निर्माण करते हुए माने जा सकते है। लहरे, तरगें, फेन तथा वायु एक सम्पूर्णता का निर्माण करते है, यद्यपि वास्तव मे वे परस्पर भिन्न है। मल जो मुख्यत माया मे निहित माने जाते हैं, स्वाभाविक ही हमारे शरीर मे लिप्त रहते है, जो माया की उत्पत्ति है तथा वहाँ होते हुए समग्र वस्तुओ के उचित स्वरूप तथा उचित दृष्टि को दूषित कर देते है। वह टीकाकार, जिनका नाम अज्ञात है, चुम्बक तथा लोहचूर्ण का उदाहरण, बिना अपने मे परिवर्तन लाए हुए, ईश्वर की ससार पर क्रिया का स्पष्टीकरण करने के लिए उपस्थित करते है। यह शिवशक्ति हम मे तथा हमारे माध्यम से कार्य करती है और इसी के द्वारा हम काय कर सकते है एव अपने कर्मों के अनुसार ही हम उनके फल प्राप्त कर सकते है।

शिव का ज्ञान अनुमान द्वारा उस कारण के रूप मे हो सकता है जो न दृश्य है, न अदृश्य। उसका अस्तित्व केवल अनुमान द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। अचित शिव के निकट से जाना है परन्तु उनको प्रभावित नही करता, इस प्रकार शिव जगदाभास

से पूर्णत अज्ञात है। केवल जीवो को ही ससार तथा शिव दोनो का ज्ञान है।[1] जब एक सन्त तीन प्रकार की अशुद्धियो—आणव, मायिक तथा कार्मण मल से मुक्त हो जाता है, तब जगदाभास उसके नेत्रो से अदृश्य हो जाता है तथा वह शुद्ध प्रकाश से एक हो जाता है।

सुरदन्ताचार्य ने अपनी "व्याख्यान कारिका" मे उपरोक्त विचारो की आवृत्ति की है परन्तु वह यह मानते हैं कि शिव अपने सर्वज्ञान द्वारा समस्त ससार एव समस्त प्राणियो के विषय का ज्ञान रखते हैं परन्तु वह उनसे प्रभावित नही होते।[2] एक अज्ञात लेखक की एक अन्य अपूर्ण टीका जिन्होंने मृगेन्द्र पर "मृगेन्द्रवृत्ति दीपिका" नामक टीका लिखी, जो कभी-कभी स्वायमुवागम तथा मातग-परमेश्वर-आगम की ओर सकेत करती है, पशुपति-पाश-विचार प्रकरण नामक रचना मे शिव-ज्ञान-बोध के मुख्य प्रकरणो का विवरण करती है।

पशु की परिभाषा अशुद्धियो से ढकी चेतना (चिन्मात्र) के रूप मे की गई है। पशु जन्म तथा पूर्व-जन्म की शृ खला सहन करता है तथा आत्मन के नाम से भी जाना जाता है। यह दिक् तथा काल मे सर्वव्यापी है। शुद्ध चेतना ज्ञान तथा क्रिया के स्वभाव की है। आगम यह विश्वास नही करते कि आत्मा एक है। भिन्न प्रकार के मलो से अपने मयोजन द्वारा जो उनसे अनादिकाल से लिप्त है, यह शुद्ध चेतना ही है, जो परस्पर भिन्न प्रतीत होती है।[3]

इसके शरीर मे काल से प्रारम्भ होकर स्थूल पदार्थ तक समग्र तत्व सम्मिलित है। आत्मा अनीश्वर कहलाती है, क्योकि इसका सूक्ष्म शरीर हो सकता है किन्तु स्थूल नही, जिससे कि यह अपनी इच्छा का उपभोग करने मे असमर्थ है। आत्मा निष्क्रिय मानी जाती है। जबकि वह ज्ञान तथा त्याग द्वारा समस्त क्रिया का परिहार करता है, तब भी शरीर पूर्व सस्कार की क्रमबद्ध प्रवृत्तियो के कारण जीवित रहता है। (तिष्ठति सस्कार-वशात् चक्र-भ्रमवद् धृत शरीर)। यद्यपि आत्माएँ अनेक हैं तथापि उनको सामान्य अर्थ मे एक वचन मे पशु कहा जाता है।

मल, पाश मे सम्मिलित माना जाता है अत वह भिन्न पदार्थ नही है। शुद्ध आत्म चेतना, मल अथवा अशुद्धि मे सर्वथा भिन्न है। तब मल किस प्रकार शुद्ध चेतना

---

[1] नाचित् चित् सन्निधौ किन्तु न वित्तस ते उभे मिथ।
प्रपञ्च-शिवमोर् वेत्ता य स आत्मा तयो प्रथक्॥

[2] शिवा ज्ञानाति विश्वकम्,
स्व भोग्य त्वेन तु परम् नैव जानाति किंचन।

[3] अनेक मलयुक्तो विज्ञान केवल उक्त। सम्मूढ इत्यनेन प्रलयेन कलोदर उपसहृतत्वात् सम्यक् मूढा। पशुपति-पाश-विचार प्रकरण (अड्यार पुस्तकालय हस्तलेख)।

की शुद्धता को प्रभावित कर सकता है ? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार निर्मल सुवर्ण के मल से सयुक्त होने पर भी सुवर्ण की प्रकृति पर कोई प्रभाव नही पडता, उसी प्रकार शुद्ध चेतना, जो हममे शिव का निर्माण करती है, शुद्ध रह सकती है, यद्यपि चाहे वह अनादि काल से मल से ढकी हो। अत आत्मा के रूप मे शिव के स्वरूप पर मल का प्रभाव नही होता।

मल केवल ज्ञान द्वारा नही वरन् शैव मत के उचित गुरु से उचित दीक्षा द्वारा, शिव के अनुग्रह से हटाए जा सकते हैं। मल द्रव्य के स्वरूप का होने के कारण केवल ईश्वर की क्रिया द्वारा ही हटाया जा सकता है। केवल ज्ञान इसको नष्ट नही कर सकता। अनादि होने के कारण मल अनेक नही एक है। भिन्न प्रकार के कर्मो के अनुसार मलो के पृथक् तथा भिन्न प्रकार के बन्धन हैं। मल द्वारा रचित विभिन्न विशेष शक्तियाँ तथा दुर्बोधताएँ भिन्न जीवो मे भिन्नता लाने का कार्य करती हैं जो सब मूलत शिव है। मोक्ष का अर्थ कोई रूपान्तर नही वरन् विशेष मलो का हटाना है, जिसके सदर्भ मे भिन्न व्यक्तिगत सत्ताएँ जीवो के रूप मे जन्म-पुर्नजन्म के काल से होकर निकल रही है। जब उचित गुरु की सहायता से शैव दीक्षा ली जाती है, तब शिव का कार्य इसको हटाना है।[1]

मलो मे धर्म तथा अधर्म है, तथा ये कम अथवा माया के कारण हो सकते हैं, वे पाश का निर्माण भी करते है। यह आगम मृगेन्द्रागम का उल्लेख करता है, जिसके सिद्धान्त वह पाश, मल आदि के स्वभाव के वर्णन मे मानता है। वास्तव मे पाश शिव की तिरोधान शक्ति है। पाश तीन प्रकार के है—(१) सहज वे मल जिनसे हम अनादि काल से सबधित है तथा जो मोक्ष तक रहते हैं (२) आगन्तुक, अर्थात् हमारी समस्त इन्द्रियाँ व इन्द्रिय पदार्थ तथा (३) ससर्गिक, अर्थात् वे जो सहज तथा आगन्तुक मल के ससर्ग से उत्पन्न होते है।

हमारे अनुभवो की सृष्टि तथा अभिव्यक्ति, ईश्वर द्वारा प्रकाशित हमारे कर्मों के अनुसार होती है। जिस प्रकार खेत मे बोए हुए बीज प्रत्येक किसान के लिए एक ही प्रकार की उपज उत्पन्न नही करते, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कम होते हुए भी ईश्वर द्वारा अभिव्यक्त भिन्न प्रकार के फल हमे प्राप्त हो सकते हैं। कर्म तथा अन्य पदार्थों का जो सभी निर्जीव हैं, अत केवल ईश्वर की सकल्प शक्ति द्वारा ही भिन्न प्रकार के फल हमारे लिए अभिव्यक्त होते हैं। अत शैव विचारधारा सत्कार्यवाद सिद्धान्त को मानती है तथा ईश्वर को अभिव्यजक अथवा हमारे समग्र अनुभवो तथा कर्मों का अभिव्यक्ता मानती है।

---

[1] एवाच पाशपनयनाद् आत्मन सर्व-ज्ञत्व-सर्वकर्त्तृत्वात्मक शिवत्वाभिव्यक्तिरेव मुक्ति-दशायाम्, न तु परिणाम-स्वरूप विनाश।

मातंग-परमेश्वर-तंत्र

शैव शास्त्र त्रिपदार्थ तथा चतुष्पाद के रूप मे नही वरन् षट्पदार्थ यथा चतुष्पाद के रूप मे वर्णित है। सदाशिव ने इसे पहले एक करोड पद्यो मे लिखा था तथा अनन्त ने इसे एक लाख पद्यो मे सक्षिप्त किया। तत्पश्चात् इसे तीन हजार पाँच सौ पद्यो में और भी अधिक सक्षिप्त कर दिया गया। छ पदार्थ इस प्रकार हैं—(१) पति (२) शक्ति (३) त्रिपर्वा (४) पशु (५) बोध तथा (६) मत्र।

शक्ति के द्वारा ही शक्ति के अधिकारी पति का अनुमान कर सकते हैं। अनुमान मे हम कभी-कभी गुण के अधिकारी से गुण का तथा कभी-कभी कार्य से कारण का अथवा कारण से कार्य का अनुमान करते हैं। कभी-कभी किसी वस्तु का अस्तित्व 'वेदो'' के प्रमाण के आधार पर सत्य मान लिया जाता है। शिव के शरीर से, जो मत्रो के रूप का है, बिन्दु के आकार मे शक्ति नीचे की ओर उत्पन्न होती है, जो बाद मे ससार रूप मे विकसित हो जाती है।[1] शिव बिन्दु मे प्रवेश करते हैं तथा उसको सृष्टि के भिन्न प्रकारो मे प्रकट करते हैं। जीवो के कर्म तथा गुण मे भिन्नता होने के कारण ससार मे अनेकता है, जहाँ जीवो को धारण-कर्ता तथा कर्मों को धारणीय वस्तु के रूप मे मान सकते है। जीव अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं तथा उन्हे शुभ अथवा अशुभ फलो को झेलना पडता है। ईश्वर ससार की सृष्टि, पालन तथा सहार का नियत्रक है। वह ससार का निमित्त कारण है तथा शक्तियाँ उपादान कारण हैं, जो ससार की समवायी कारण मानी जा सकती हैं। यह ससार माया की उत्पत्ति है। जिस प्रकार सूर्य अथवा चन्द्रमा की किरणे पुष्पो को बिना किसी विघ्न के स्वत खिलने के लिए प्रेरित करती है, उसी प्रकार शिव अपने सामीप्य से ससार को अभि-व्यक्त करता है।

सात सहज मलो की निम्नांकित रूप मे गणना की गई है—(१) मोह (२) मद (३) राग (४) विषाद (५) शोश (६) वैचित तथा (७) हर्ष।

कलाएँ माया से उत्पादित हैं तथा माया के सयोजन से वे अपना कार्य करती है, जिस प्रकार धान के बीज छिलको के सयोजन से ही, जिनमे वे बन्द रहते हैं—अकुर उत्पन्न कर सकते है।

जैसे-जैसे आत्माएँ ससार मे से निकलती है वे कलाओ द्वारा सासारिक वस्तुओ पर अनुरक्त हो जाती है, यह सयोजन, वासना द्वारा और भी अधिक दृढ हो जाता है, इस प्रकार आत्माएँ समग्र उपभोगो पर अनुरक्त हो जाती है तथा यह राग कहलाता है। समग्र अनुरक्तियो के साथ दु ख है, अत इन्द्रिय सुखो से विरक्ति सुख की अत्युत्तम प्राप्ति की ओर ले जाती है।

---

[1] यहाँ परम्परागत विश्वास है कि मत्र देवता के शरीर की रचना करते हैं।

काल और नियति के रूप का विवरण उसी प्रकार का है, जिस प्रकार शैव सिद्धान्त की अन्य पुस्तको मे है।

माया ईश्वर मे से इसकी सूक्ष्म शक्ति के व्यक्त रूप मे निकलती है तथा वहाँ से माया प्रधान का विकास करती है, जो अपनी प्रथम अवस्था मे केवल सत्ता है। तत्पश्चात् अन्य पदार्थ इसमे से विकसित होते है तथा पुरुष के अनुभव के लिए सामग्री की पूर्ति करते है। इस प्रकार पुरुष तथा प्रकृति पदार्थों तथा अनुभवो के विकास मे परस्पर सहायता देते है।

अहकार आत्मा को इन्द्रिया मे तथा उनसे सयुक्त करता है तथा उनके कार्यों के रूप मे व्यापार करता है। अहकार की तन्मात्रो मे तथा उनसे नियुक्ति के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। इस प्रकार अहकार समस्त मानसिक स्थिति की एकता को प्रदर्शित करता है। अहकार वृक्षो, पौधो आदि मे भी सुप्त अवस्था मे उपस्थित रहता है।

पौषकरागम

पौषकरागम मे ज्ञान की परिभाषा शिव मे अन्तर्निहित शक्ति के रूप म की गई है। छ वर्णित पदार्थ इस प्रकार है "पति-कु डलिनी माया पशु पाशश्च कारक" शक्ति के तीन कार्य, लय, भोग तथा अधिकार हैं। मनुष्यो के कर्मों द्वारा उत्पादित माया उन तत्वो की पूर्ति करती है, जिनसे अनुभव के पदार्थ तथा अनुभव का निर्माण होता है। पशु वह है जो अनुभव तथा प्रतिक्रिया करता है। कला से प्रारम्भ होकर क्षिति (पृथ्वी) तक के तत्व वास्तविक सत्ताएँ है। लय बन्धन कहलाता है तथा पचम तत्व माना जाता है। छठा तत्व मुक्ति, भुक्ति, व्यक्ति, फल, क्रिया तथा दीक्षा सबके सयोग के तुल्य है। बिन्दु तथा अणु वास्तविक सत्ताएँ हैं। जब अनेक रूप सृष्टि बिन्दु मे सकुचित हो जाती है, तब वह अवस्था होती है जिसमे शिव लय कहलाते हैं। मौलिक अवस्था मे सदृश परिणाम के प्रकार के कर्म हाते रहते हैं। शिव विस्पष्ट, चिन्मात्र तथा व्यापक के रूप मे वर्णित है। वह स्वय अचल रहते हैं, केवल उनकी शक्तियाँ ही कार्य कर सकती हैं। जब बिन्दु म शक्तियाँ कार्य करने लगती हैं, तब बिन्दु अनुभव के तत्वो के योग्य हो जाता है। बिन्दु की यह अवस्था जिसमे शिव प्रतिबिम्बत होता है, सदाशिव कहलाती है। वास्तव मे, इस अवस्था मे भी शिव मे कोई परिवर्तन नही होता है। जब शक्तियाँ क्रिया की अवस्था मे होती हैं तब सृष्टि की अवस्था होती है, तथा उसका अनुभव भोग कहलाता है।

प्रश्न उठता है कि यदि स्वय बिन्दु सृष्टि मे क्रियान्वित है तब उसका शिव से सम्बन्ध अतिशय हो जाता है। दूसरी ओर, यदि बिन्दु शिव द्वारा गतिमान क्रिया के लिए चलायमान होता है, तब शिव परिवर्तनशील हो जाता है। इसका उत्तर है कि

एक कर्ता किसी पदार्थ को दो प्रकार से प्रभावित कर सकता है, या तो अपनी सरल कामना द्वारा अथवा अपने व्यवस्थित प्रयत्नो द्वारा, जैसे कि कुम्हार द्वारा घड़ा बनाने के दृष्टान्त मे। शिव, बिन्दु को केवल अपने सकल्प द्वारा गतिशील करता है। अत उसमे परिवर्तन नही होता। कुम्हार की क्रिया के दृष्टान्त मे भी शिव की इच्छा के द्वारा ही कुम्हार क्रिया कर सकता है। अत शिव जीवित सत्ताओ अथवा निर्जीव पदार्थों की समग्र क्रियाओ का एक मात्र कर्ता है।

यह कहा जा सकता है कि शिव सर्वथा निरुपाधित है, अत वह बिना किसी परिवर्तन के एकमात्र कर्ता रह सकते है। अन्य परिक्षात्मक उत्तर यह है कि शिव की उपस्थिति मे बिन्दु बिना किसी कारण-क्षमता के कार्य आरम्भ कर देता है। (पुरुष की उपस्थिति मे प्रकृति की गतिशीलता से तुलना कीजिए)।

कभी-कभी बिन्दु शात्यतीत के रूप मे वर्णित किया गया है तथा अन्य समय सृष्टि के उपादान कारण के रूप मे। इस कठिनता की व्याख्या इस कल्पना पर की गई है कि बिन्दु का एक भाग शात्यतीत है तथा अन्य भाग ससार का उपादान कारण होने के लिए उत्तरदायी है। बिन्दु तथा शिव से सम्मिलित तीसरा तत्व ईश्वर कहलाता है। केवल अपनी उपस्थिति द्वारा ही शिव बिन्दु में हलचल उत्पन्न करता है। इस प्रकार शिव केवल निर्जीवो की घटनाओ का ही निमित्त कारण नही है वरन् वह मानव शरीर के समग्र कर्मों के लिए उत्तरदायी है, जो मानव इच्छा शक्ति द्वारा उत्पादित प्रतीत होती है।

ज्ञान तथा कर्म मूलत अभिन्न हैं तथा इसी कारण जब कर्म (व्यापार) होते है, हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है कि मानो हम इन कर्मों (व्यापारो) के कर्ता हैं। इस प्रकार कर्म का जो तत्व अपने को व्यक्त करता प्रतीत होता है, कर्म से कुछ अधिक है तथा यह अधिकारी-क्रिया कहलाता है। क्रिया तथा जिस पर क्रिया की जाती है, गुण-सकल्प के फल हैं। शिव चित्-शक्ति के रूप में स्थिर है, जो समग्र शक्तियो को गतिशील करता है। जिस प्रकार सूर्य दूर से कमल को बिना किसी वास्तविक बाधा के खिला देता है।

अपनी दार्शनिक स्थिति मे पुन स्पष्टीकरण के लिए शिव कहते हैं कि बिन्दु का एक भाग अतिक्रामी (शात्यतीत) अवस्था मे है, जबकि अन्य भाग सृष्टि क्रिया के लिए उत्तरदायी है। यह दूसरा तत्व अर्थात् बिन्दु का निम्न अर्ध भाग शिव द्वारा गतिशील किया माना जाता है। बहुधा शक्तियो का वर्गीकरण भिन्न नामो के अन्तर्गत भिन्न कार्यों मे सम्पादन के रूप मे होता है। शक्ति तथा शक्तिमान एक ही है। उनके पृथक कार्यों के अनुसार केवल उनका भिन्न वर्गीकरण किया गया है।

चेतन सत्ता की क्रिया अथवा हस्तक्षेप के बिना, निर्जीव ससार अक्रिय है। वह चेतन सत्ता भगवान शिव है। गाय के स्तन से दूध भी गाय की बछडे के प्रति ममता

के कारण निकलता है। लोह चूर्ण का चुम्बक के प्रति आकर्षण का सिद्धान्त उपयुक्त नही है, क्योकि वहाँ एक व्यक्ति भी है जो चुम्बक को लोहचूर्ण के समीप लाता है।

फिर भी यह नही कहा जा सकता कि पुरुष स्वय क्रियाशील कर्ता माने जा सकते हैं, क्योकि शास्त्रो के अनुसार वे भी ईश्वर के सकल्प द्वारा क्रिया के लिए गतिमान होते हैं।[1]

जगदाभास असत्य अथवा प्रातिभाषिक सिद्ध नही किया जा सकता। यह माया नामक एक सामान्य वस्तु के द्रव्य से बना है, जो बाद मे भिन्न प्रकार के सत्व, रजस एव तमस नामक कार्य करते हुए अनुमान किया जाता है। माया तत्व समग्र कर्मों का कोष है। परन्तु फिर भी सब व्यक्ति अपने समग्र कर्मों के फलो का लाभ नही पाते हैं। उन्हे किसी अन्य सत्ता पर अपने कर्मों के उचित फलो के लिए निर्भर रहना पडता है। यहाँ पर ईश्वर, कर्म के फलो के अन्तिम दाता के रूप मे आता है।

मल सदैव समग्र आत्माओ से सम्बन्धित है। आगम, अन्य विचारधाराओ, जैसे, चार्वाक तथा शकर के एक सत्तावाद के प्रमाण मीमासा सम्बन्धी विचारो के खडन का प्रयत्न करते है। आगम यह मानते है कि, क्योकि आत्माए नित्य है, नित्य अपरिवर्तनशील कारण के हेतु उनका ज्ञान भी नित्य होना चाहिए। मल के विभिन्न आवरणो से व्यक्तियो के ज्ञान मे अस्पष्टता होने के कारण उनके ज्ञान मे अन्तर हो जाता है। ज्ञान का मौलिक कारण सर्व व्याप्त है तथा सब व्यक्तियो मे समान है।[2]

आत्मा का साक्षात्कार अपने तथा दूसरो के प्रकाशन के रूप मे होता है। यदि यह कल्पना की जाय कि आत्मा बुद्धि द्वारा प्रतिबिम्बत होती है तब बुद्धि भी चेतन आत्मा मानी जा सकती है। अत बुद्धि म चेतना के प्रतिबिम्बि की स्थिति के स्पष्टीकरण का विचार भी असफल हो जाता है। पुन, चेतना का बुद्धि मे यह प्रतिबिम्ब चेतन तत्व नही माना जा सकता। यह भी उल्लेख किया जा सकता है

---

१ विवादाध्यासितम् विश्वम् विश्व-वित्-कर्तृ-पूर्वकम्,
कार्यत्वाद् आवयो सिद्धम् कार्यम् कुम्भादिकम् यथा।　　—प्रथम पटल

२ तच्चेह विभुधर्मत्वान न च क्वाचित्कमिष्यते
नित्यत्वमिव तेनात्मा सर्वार्थ-दृक् क्रिय।
ज्ञातृत्वमपि यदस्य क्वाचित्क विभुना कृत
धर्मिणो यावती व्याप्तिस्तावद् धर्मस्य च स्थिति॥
यथा पटस्थित शौकल्य पट व्याप्याखिल स्थितम्
स्थित व्याप्यैव आत्मान ज्ञातृत्व अपि एवंदा
न च निर्विषय ज्ञान परापेक्ष स्वरूपत॥　　—चतुर्थ पटल

कि चेतना, आत्मा के रूप में बुद्धि मे प्रतिबिम्बित नही हो सकती है, जो आध्यात्मिक मानी गई है। चेतना का बुद्धि मे तथा बुद्धि का चेतना मे परस्पर प्रतिबिम्ब का विचार भी अप्रत्याशित है। अत यह स्वीकार करना पडेगा कि नित्य सत्ता के रूप मे आत्मा, समग्र वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण करती है तथा अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकती है। यदि तत्व के गुण स्थायी अथवा अस्थायी रूप मे निहित हो, तब तत्व मे यह निहितता यथास्थित स्थायी अथवा अस्थायी रूप मे जो भी हो, होगी। अत आत्मा की चेतना को प्राणी के अस्तित्व के साथ सहअस्तित्व मानना चाहिए। आत्माएँ अणु के आकार की होती हैं अत पूर्ण शरीर मे व्याप्त नही हो सकती। हमने पहले ही कहा है कि आत्मा अपने प्रकाशन मे अन्य वस्तुओ का भी प्रकाशन करती है। इस सम्बन्ध मे हमे यह स्मरण रखना होगा कि अग्नि के समान सत्ता अपनी शक्ति से विभिन्न नही की जा सकती।

पुन प्रत्यक्षीकरण किए गए पदार्थ केवल अज्ञान नही कहे जा सकते, क्योकि कोई केवल अज्ञान के साथ व्यवहार नही कर सकता, जिस प्रकार बिना घडे के कोई जल नही ला सकता। जिन वस्तुओ का हम प्रत्यक्षीकरण करते है, वे वास्तविक सत्ताएँ हैं। यह अज्ञान प्रागभाव के अर्थ मे नही लिया जा सकता क्योकि तब इसका अर्थ ज्ञान के अन्य उद्गम से होगा, अथवा इसका स्पष्टीकरण अयथार्थ ज्ञान के रूप मे किया जा सकता है। यह अशुद्ध ज्ञान आकस्मिक अथवा स्वाभाविक माना जा सकता है। यदि यह आकस्मिक अथवा स्वाभाविक है, तब यह किन्ही कारणो के हेतु ही होगा, अत इसको अशुद्ध ज्ञान नही माना जा सकता। यदि यह अशुद्ध ज्ञान केवल कदाचित् ही उदित होता है, तब यह यथार्थ ज्ञान का व्याघात नही कर सकता। साधारणत कोई चाँदी की भ्रान्ति को शख के ज्ञान का व्याघाती होने की आशा नही कर सकता है।[1] इसी कारण आत्मा, जिसका अनुभव साक्षात् सर्व-चैतन्य रूप मे होता है, केवल सीमित ज्ञान रखती हुई नही मानी जा सकती। आत्माओ द्वारा प्राप्त सीमित ज्ञान का आभास अवश्य ही उनके मल से समागम के कारण होगा। चेतना की शक्ति नित्य है अत उसके रूप मे मल के समागम से बाधा नही डाली जा सकती, जो धर्म तथा अधर्म से उदित अनुभव का निर्माण कर सकता है। मल सात प्रकार के माने जाते है, तथा अपने मे मद, मोह आदि की उत्तेजनाएँ सम्मिलित करते हैं। यह मल आत्माओ मे स्वाभाविक माने जाते है। मोह का मल अनेक आकारो जैसे—पत्नी, पुत्र, धन आदि के प्रति अनुरक्ति मे व्यक्त होता है।

केवल आध्यात्मिक ही अनाध्यात्मिक का व्याघात कर सकता है। दो आध्यात्मिक अथवा अनाध्यात्मिक सत्ताएँ परस्पर व्याघात नही कर सकती। एक आत्मा दूसरी आत्मा की व्याघाती नही हो सकती।

---

[1] किं चैतदन्यथा ज्ञानम् न सम्यग् ज्ञानबाधकम् —चतुर्थ पटल

यदि मलो का आत्माओ से समागम अनादि माना जाय तब ,वे किस प्रकार आत्मा के रूप का आवरण करेंगे, तथा इस आवरण का रूप क्या होगा ? यह नहीं कहा जा सकता कि इस आवरण का अर्थ, जो पहले से ही प्रकाशित है, उसको ढकना है, क्योंकि तब प्रकाश रूप सत्ता के प्रकाशन की दुर्बोधता का अर्थ इसका नष्ट करना होगा। इसका उत्तर है कि मलो द्वारा चित शक्ति का आवरण नही हो सकता। मल केवल उसका कार्य रोक सकते है।

शक्ति की परिभाषा अव्यवहित अनुभूति तथा क्रिया के रूप मे की है। यदि ऐसा है तब शक्ति ज्ञेय वस्तुओ से सम्बन्धित है। तब वस्तुएँ किस प्रकार शक्ति से भिन्न हो सकती है ? उत्तर मे यह कहा गया है कि अनुभूति ज्ञान तथा क्रिया (दृक क्रिया) अर्थात् शक्ति दृक तथा क्रिया के रूप मे सयुक्त रहती है। वे एक मे अविभाज्य सम्बन्धित हैं, तथा यह हमारे विचारने के लिए है कि हम उन्हें दृक तथा क्रिया मे विभाजित समझे।[1] विशेष वस्तुओ का निर्देश करने वाले सभी शब्द दूसरो के लिए है तथा मल के आवरण मे हैं। मल के दमन से, शक्ति इन्द्रिय पदार्थों की ओर से विमुख हो जाती है। इस प्रकार मल चिच्छक्ति के विरुद्ध कार्य करता है जिसमे मल, आत्मा के सर्व-ज्ञाता स्वरूप को दुर्बोध कर देते है।

पाँचवे अध्याय मे आगम भिन्न प्रकार के पाशो की व्याख्या करते है। यह पाश-कला, अविद्या, राग, काल तथा नियति है। यह पाँच तत्व माया से प्रवृत्त माने जाते है। चेतना स्वय इन कलाओ द्वारा दर्शाती है। चेतना, अनुभूति ज्ञान तथा कार्य शक्ति दोनो से सम्बन्धित है। आत्मा की चेतना को कलाएँ केवल आंशिक रूप मे ही प्रतिबिम्बित करती है। यह प्रतिबिम्ब व्यक्ति के कर्मो के अनुरूप कार्यान्वित होता है।

ज्ञान शक्ति की क्रिया तथा ज्ञेय पदार्थो के कारण समग्र अनुभव होते है। विशिष्ट रूप मे यह ग्राहक अथवा ग्राह्य कहलाता है। चेतना से समागम के द्वारा कलाए वस्तुओ को समझने का कार्य करती प्रतीत होती है। कला से विद्या आती है। कला काल तथा दिक् के रूप मे अनुभव के आधार की पूर्ति करती है। तत्पश्चात् बुद्धि के अन्य तत्व भी विकसित होते हैं तथा हमे बुद्धि का प्रत्यय निश्चित निर्णय के रूप मे मिलता है। इस प्रकार भिन्न तत्व जैसे कि अहकार अथवा अभिमान आदि उत्पन्न होते है। चेतना के अतिरिक्त, जो उन्हे उत्पन्न करती है, वे स्वय मे चेतन नही होगे।

अपनी वासनाओ के अनुरूप बुद्धि अपने पृथक् आकारो मे अभिव्यक्त होती है। उनकी पूर्ण गणना मूल ग्रन्थो मे दी गई है परन्तु हम उन्हे छोड देगे क्योंकि वे

[1] अविभागस्य भागोक्तौ तद् विभाग उपाधित। —चतुर्थ पटल

दार्शनिक महत्त्व के नहीं हैं। किन्तु उनमे विभिन्न सहज प्रवृत्तियो तथा भ्रांतियो का समावेश है जिनकी गणना साख्य तथा अन्य स्थानो मे की गई है।

कठिनाई यह है कि बुद्धि तथा अहकार एक ही क्षेत्र की पूर्ति करते प्रतीत होते हैं। तब बुद्धि की अहकार से भिन्नता किस प्रकार सम्भव होगी ? इसका उत्तर यह है कि जब कोई वस्तु निश्चित इस या उस रूप मे ज्ञात होती है तब वह बुद्धि की अवस्था है। परन्तु अहकार की अवस्था में हम ज्ञाता के रूप मे व्यवहार करते प्रतीत होते है तथा हमारे दृष्टिकोण मे आने वाली सभी वस्तुओ को हमारे ज्ञान के अश का नाम दे दिया जाता है। ऐसी कोई विधि नही है जिससे एक जीव के अभिमान का भ्रम दूसरे के अभिमान से हो सके। इस प्रकार उनका साक्षात्कार एक दूसरे से भिन्न रूप मे होना है।[1]

आगम तीन प्रकार की सृष्टि तथा तीन प्रकार के अहकार से प्रवृत्त सात्विक, राजस्, तामस् के रूप मे वर्णित करता है तथा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तन्मात्र तथा मनस् की उत्पत्ति का वर्णन करता है जबकि वस्तुओ का इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकरण होता है तथा इस या उस रूप मे उनका मूल्य आन्तरिक क्रिया द्वारा निर्धारित होता है, जिससे कि लाल नीले म विभिन्न किया जा सके, उस आन्तरिक क्रिया को मनस् कहते है।[2]

जब हम किसी जानवर को विशष गुणा सहित देखते हैं तब हम शब्द के प्रयोग का विस्तार समान गुण वाले जानवर के निर्देश के लिए कर सकते हैं। जिस आन्तरिक क्रिया द्वारा यह होता है उसे मनस् कहते है।

आगम ज्ञानेन्द्रियो का, विशेष रूप से नेत्र की इन्द्रिय का, विस्तृत वर्णन देता है। केवल चेतना का सामीप्य क्रिया उत्पन्न नही कर सकता। इसकी उत्पत्ति केवल चेतना का इन्द्रियो से समागम होने पर ही हो सकती है।

आगम बौद्ध धारणा की आलोचना करता है तथा मानता है कि अर्थ-क्रिया-कारिता का बौद्ध सिद्धान्त तभी उचित हो सकता है जब सत्ताएँ क्षणिक न हो अपितु उनका काल-स्थायी अस्तित्व हो।

गुणो के विषय मे कहते हुए आगम उनका स्वतन्त्र रूप अस्वीकार कर देते है। केवल जबकि कुछ गुण सयुक्त अवस्था मे रहते है तब उन्हे हम वास्तविक गुण कहते है।

---

[1] यद्यभिन्नमहकृत्स्याद्देवदत्तोऽप्यह मति ।
अन्यस्यामुपजायेत नात्मैकत्व तत स्थितम् । —षष्ठ पटल

[2] चक्षुशा लोचितेह्यर्थे तमर्थं बुद्धिगोचरम् ।
विदधातीह यद्विप्रास्तन्मन परिपठ्यते । —षष्ठ पटल

हमारी इन्द्रियाँ केवल कुछ प्रातिभासिक गुणों का प्रत्यक्षीकरण कर सकती हैं, परन्तु वे उनके अधिष्ठान का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकती। इसलिए किसी ऐसे अधिष्ठान का अनुमान तर्कत प्रयुक्त है जो गुणों के आधार सत् कहे जा सकते हैं। मौलिक उपादान कारण जो कि या तो अविभाज्य परमाणु रूप है अथवा सूक्ष्म प्रकृति-रूप इस तर्क के पश्चात् आगम अमूर्त प्रकृति के पक्ष मे निर्णय करते हैं। परन्तु यह प्रकृति गुणों की साम्यावस्था नही है जैसा साख्य मानते हैं।

इस आगम मे विभिन्न इन्द्रियों के प्राप्य-कारित्व तथा अप्राप्य-कारित्व पर परामर्श किया गया है। वह यह भी कहता है कि मौलिक रूप मे गति प्रत्येक परमाणु मे नहीं होती, परन्तु यह केवल जीवित परमाणुओं और आत्माओं मे ही होती है। यह अन्य वस्तुओं की उपस्थिति मात्र के कारण भी नही हो सकती।

जब मनस् चिच्छक्ति से सयोजित होता है तब यह अन्त करण की क्रिया द्वारा समग्र वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। प्रथम क्षणो मे यह ज्ञान अनिश्चित होता है, तत्पश्चात् विभिन्न निश्चितताएँ इससे सयोजित हो जाती हैं। भिन्न कालो मे वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण मूर्त्त तथा सश्लेषणात्मक होता जाता है, नही तो विभिन्न स्मृति-चित्र बुद्धि मे उदित हो जाएँगे तथा सयुक्त कल्पना के निर्माण मे बाधा देगे जैसा मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण मे देखते हैं।

यह केवल आत्ममान ही है जो कर्तृत्व उत्पन्न कर सकता है। अभिमान के बिना आत्मा तथा अन्य भौतिक पदार्थों मे कोई अन्तर नही होगा। अभिमान से निश्चय की निश्चित चेतना प्रवृत्त होती है।

वस्तुओं का ज्ञान केवल बुद्धि से ही उदित नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि का तथ्य भौतिक है। चिच्छक्ति मे अपने सम्बन्ध के फलस्वरूप ही चेतना कभी-कभी उदित हो सकती है। यदि मानसिक अवस्था मे सदैव परिवर्तन होते रहते है तब उनका स्थिर रूप मे प्रत्यक्षीकरण नही किया जा सकता, यद्यपि वे ऐसे प्रतीत हो सकते हैं जैसेकि दीपक की ज्वाला, जो क्षण-क्षण मे परिवर्तित होती रहती है किन्तु फिर भी एक ही प्रतीत होती है।

बौद्धो की अर्थ-क्रिया-कारिता की ओर पुन जाने पर आगम कहता है कि यदि अर्थ-क्रिया-कारिता का सिद्धान्त स्वीकार किया जाय तब वस्तुओं के अस्तित्व का उचित स्पष्टीकरण नही हो सकता। उचित विचार परिणामवाद है। यदि वस्तुएँ क्षणिक है तब कार्य उत्पन्न नही किए जा सकते क्योंकि एक वस्तु का कार्य उत्पन्न करने के लिए कम से कम दो क्षण रहना चाहिए। यदि दो क्षण पृथक् सत्ताएँ हैं तब एक क्षण दूसरे का कारण नही हो सकता। कारण-परिवर्तन केवल अस्तित्वगत वस्तुओं सदर्भ मे ही हो सकता है परन्तु उन सत्ताओं के विषय मे नही जो क्षणिक हैं। उत्पत्ति हो सकने के लिए एक वस्तु को कम से कम दो क्षण रहना चाहिए।

जिन वस्तुओ का अस्तित्व है उनके लिए यह आवश्यक नही कि वे सदैव उत्पादक हो। कार्य की उत्पत्ति सहायक कारणो पर निर्भर हो सकती है। जल-पात्र धागो द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता परन्तु धागे वस्त्र का टुकडा उत्पादन कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कार्य सदैव पहले से ही कारण मे होता है।

यह भी नही माना जा सकता कि हमारी मानसिक अवस्थाएँ बाह्य पदार्थों से एक-रूप है, क्योकि तब पदार्थों के अनुरूप हमारी ज्ञानात्मक अवस्थाओ की अनेकता का स्पष्टीकरण कठिन हो जायगा। हमारे लिए यह स्पष्ट करना सभव नही है कि किस प्रकार एक सत्ता कितने अधिक पृथक् आकारो मे परिवर्तित हो सकती है। यही मार्ग बचता है कि कुछ बाह्य पदार्थों को स्वीकार कर ले, जिनसे हमारी इन्द्रियो का सम्पर्क होता है। इन पदार्थों मे तन्मात्रो के पिंड हैं। तन्मात्रो के पिंडो मे तथा इनके द्वारा नए गुण उदित होते हैं, जिन्हे हम भूतो का नाम देते हैं। तन्मात्रो तथा भूतो मे यह भेद है कि प्रथम अधिक सूक्ष्म है तथा द्वितीय अधिक स्थूल है। यह विचार साख्य के विचार से कुछ भिन्न है क्योकि यहाँ पर भूतो को एक भिन्न तत्व नही माना है वरन् केवल तन्मात्रो का एक पिड माना है। आगमो ने इस विचार का, कि गुण निश्चित वस्तुगत सत्ताएँ है, बार-बार खडन किया है। इनके अनुसार गुणो का पिंड ही हमारे द्वारा स्वतत्र सत्ता माना जाता है।

तब आगम अविभाजित परमाणु के सिद्धान्त की आलोचना करते है। यह माना जाता है कि अविभाजित परमाणुओ के पार्श्व नही हो सकते जिनमे अन्य परमाणु सयोजित हो सके। प्रश्न यह उठता है कि तन्मात्र अमूर्त्त है इसलिए वे स्वय समग्र आकारो का कारण नही हो सकते। अत आकार-पूर्ण ससार हमे कारण के रूप मे किसी मौलिक पदार्थ के अनुमान की ओर ले जाता है। इसका उत्तर शिव यह देते है कि प्रकृति का आकार से सम्पन्न तथा रहित भी माना जा सकता है।[1]

पुन, शिव प्रश्नो के उत्तर मे कहते है कि जिन वस्तुओ का आकार है उनके पास कारण के रूप मे आकार-सम्पन्न सत्ताएँ अवश्य होनी चाहिए। अत यह अनुमान किया जा सकता है कि परमाणु ससार के कारण है। उस स्थिति मे कोई यह अस्वीकार नही कर सकता कि परमाणु आकार-रहित है। इस विषय मे पुन तर्क करते हुए शिव कहते है कि परमाणु अनेक है तथा उनके अनेक भाग है। इस कारण वे उसी प्रकार के है जैसेकि अन्य कार्य, जैसे जल, पात्र आदि। इस प्रकार ससार का कारण कुछ ऐसी वस्तु को मानना होगा जो आकार-रहित हो। समग्र कार्य अनित्य है, आश्रित है, उनके भाग है, एव अनेक है। अत शैव मानता है कि उनका कारण

---

[1] मायातु परमा मूर्त्तं नित्यानित्यस्य कारणम,
ऐकानेकविभागाध्या वस्तुरूपा शिवात्मिका। —षष्ठ पटल

भिन्न, स्वतन्त्र एव अविभाज्य होना आवश्यक है। अत वह इस विचार को अस्वीकार कर देता है कि परमाणु ससार के उपादान कारण है।[1] स्थूल तत्व धीरे-धीरे पाँच तन्मात्रो से विकसित हो जाते है।

आगम इस विचार का खडन करता है कि आकाश केवल शून्यता है। यदि यह शून्यता होता तब अभाव रूप होता। किन्तु अभाव सदैव किसी भाव पदार्थ का होता है। आगम आकाश को किसी प्रकार का अभाव माने जाने की सम्भावना का खडन करता है। शब्द आकाश का एक विशेष गुण माना गया है।

आगम कहता है कि वह केवल चार प्रमाण स्वीकार करता है प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। वास्तव मे यह समग्र शकाओ-रहित शुद्ध चेतना है जो प्रमाणो मे अन्तर्निहित सत्य का निर्माण करती है। शका बुद्धि के दो ध्रुवो के बीच मन की दोलायमानता से उदित होती है। स्मृति उन पदार्थों की ओर सकेत करती है जिनका पहले अनुभव हो चुका है। किसी ज्ञान को उचित प्रमाणता की अवस्था प्राप्त करने के लिए उसका स्मृतिरहित तथा शकारहित होना आवश्यक है।

शुद्ध चेतना ज्ञान मे वास्तविक वैध भाग है। बुद्धि क्योकि स्वय भौतिक वस्तु है इसलिए वह ज्ञान के वैध तत्व की निर्माता नही मानी जा सकती। कलाओ के तथा उनके द्वारा शुद्ध चेतना वस्तुगत ससार के सम्पर्क मे आती है। यह प्रत्यक्षीकरण निर्विकल्प तथा सविकल्प हो सकता है। निर्विकल्प प्रत्यक्षीकरण बुद्धि मे जाति प्रत्यय अथवा नामो की ओर सकेत नही होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्षीकरण मे बिना नामो के सयोजन आदि के वस्तुएँ जैसी है उसी रूप मे प्रत्यक्ष की जा सकती है।

प्रत्यक्षीकरण दो प्रकार का होता है। (१) ऐन्द्रिय माध्यम (२) अनैन्द्रिय माध्यम से, जैसे योगी का प्रातिभ ज्ञान। इन्द्रियो के माध्यम से प्रत्यक्षीकरण क्रिया वस्तु अथवा आत्मा के बीच का आवरण हटा देता है जिससे वस्तुओ का साक्षात् प्रत्यक्षीकरण हो सके। प्रत्यक्षीकरण के रूप का स्पष्टीकरण करने के लिए आगम स्पष्टीकरण के लिए न्याय की सयुक्त समवाय की युक्ति इत्यादि का अनुसरण करते है। न्याय के समान यह पाँच प्रकार के तर्क-वाक्या प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त उपनय तथा निगमन मे विश्वास करता है।

वातुलागम[2]

अघार की टीका-सहित वातुलागम, मैसूर ओरियन्टल रिसर्च के वातुलागम के लगभग समरूप प्रतीत होता है, केवल इतना ही अन्तर है कि मैसूर के वातुलागम के

---

[1] ततो न परमाणूना हेतुत्व युक्तिभिर्मतम्। —षष्ठ पटल
[2] ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर।

दसवां तथा अन्तिम अध्याय मे अधिक पद्य हैं जिनमे अन्य शैव सिद्धान्तो की अपेक्षा वीर शैव सिद्धान्त की अधिक प्रशसा की गई है। परन्तु मौलिक आरम्भ लगभग सामान्य शैव सिद्धान्त के समान है जैसाकि अघोर शिवाचार्य की टीका के साथ तत्व-प्रकाशिका मे प्राप्त हो सकता है। अनुमान के आधार पर अन्तिम सत्ता के रूप मे शिव के अस्तित्व का अनुसन्धान करने की प्रवृत्ति भी है जो शैव मत की सिद्धान्त-प्रणालियो, जैसे मृगेन्द्रागम अथवा लाकुलीष पाशुपत प्रणाली मे मिल सकती है। वातुलागम का परिशिष्ट भाग वीर शैवो की लिंग धारणा के सिद्धान्त से परिचित कराता है परन्तु इसके विशेष दर्शन अथवा षट्स्थल से सम्बन्धित अन्य सिद्धान्तो के विषय मे कुछ नही कहता।

वातुल-तंत्रम्[1]

शिव तत्व तीन प्रकार का है (१) निष्कल (२) सकल तथा (३) निष्कल-सकल। शिव का दस प्रकार से भेद किया जा सकता है (१) तत्व-भेद (२) वर्ण-भेद (३) चक्र-भेद (४) वर्ग-भेद (५) मत्र भेद (६) प्रणव (७) ब्रह्म-भेद (८) अग-भेद (९) मत्र-जाल (१०) कील। यद्यपि पहले यह तीन प्रकार का कहा गया है तथापि इसके पुन तीन आकार है (१) सुब्रह्मण्य शिव (२) सदाशिव (३) महेश।

शिव निष्कल कहलाते है जबकि उनकी सब कलाएँ अर्थात्, भाग अथवा अवयव या क्रियाएँ उनके भीतर एक मे केन्द्रित होती है। निष्कलत्व के रूप की पुन परिभाषा मे लेखक कहता है कि जब शुद्ध तथा अशुद्ध तत्व, जो अनुभव मे सहायता देते हैं, एक साथ सकलित हो जाते है तथा मौलिक कारण मे मिश्रित हो जाते है तथा विश्व का विकास करने वाली शक्तियों के अकुरित कारण के रूप मे रहते हैं तब निष्कल अवस्था होती है। टीकाकार इस विचार का समर्थन अनेक मूल ग्रन्थो के उद्धरणो द्वारा करता है। सकल निष्कल वह है जिसमे व्यक्ति के कार्य सुप्त अवस्था मे रहते है तथा जब सृष्टि का समय आता है वह अपने को ससार के निर्माण के लिए बिन्दु अवस्था मे सयोजित कर लेता है। बिन्दु मायोपादान का प्रतिनिधित्व करती है जिससे शिव सृष्टि के हेतु अपने को सयोजित करते है।[2] शिव के ये भिन्न नाम सकल, निष्कल तथा सकल-निष्कल केवल शिव मे भिन्न क्षण है तथा उनमे कोई वास्तविक रूपान्तर

---

[1] अद्यार पुस्तकालय हस्तलेख।

[2] महेश. सकल बिन्दु-मायोपादान-जनित-तनु-करणादिभिरात्मान यदा शुद्धा-शुद्धभोग प्रयच्छति तदा शिव-सगक स एव भगवान् सकल इति उच्यते।

का निर्माण नही करते, क्योकि वह सदैव अपने मे अपरिवर्तनशील रहता है। अतः शिव मे कोई परिवर्तन नही होता। परिवर्तन बिन्दु तथा अणु मे मिलेगे।[1]

ईश्वर केवल अनुमान द्वारा ही ससार के उपादान कारण के रूप मे सिद्ध किया जा सकता है। मृगेन्द्रागम के समान यह प्राचीन सिद्धान्त के शैव मत का अनुसरण करना ही है। ईश्वर की कारणता का स्पष्टीकरण इस मान्यता द्वारा हो सकता है कि उसकी कामना से सब कुछ प्राप्त हो सकता है। वह किसी कर्म के सम्पादन मे कोई यत्र अथवा अवयव का उपयोग नही करता। अत जब कुम्हार घडो का निर्माण करता है तब वह ईश्वर की शक्ति की महायता द्वारा ही ऐसा कर सकता है। कुम्हार के दृष्टान्त मे कारणता भिन्न है क्योकि वह अपने तत्रो तथा अवयवो की सहायता से कार्य करता है। शिव अपनी शक्ति द्वारा समग्र वस्तुओ का ज्ञान तथा समग्र क्रियाए कर सकते है।

शिव अपने सरल सकल्प द्वारा सब पदार्थों की सृष्टि करते है तथा यह सृष्टि शुद्धात्व कहलाती है। लेखक भाज की तत्व प्रकाशिका तथा उस पर अघोर शिवाचार्य की टीका का उल्लेख करते है।

शक्ति ईश्वर का सकल्प है तथा वह बिन्दु कहलाती है। उससे नाद उत्पन्न होता है जो समग्र वाणी का उद्गम है।[2]

हमने कुछ महत्वपूर्ण आगमा का विश्लेषण केवल यह प्रदशन करने के लिए किया है कि उनमे किन विषयो के रूप की व्याख्या है। एक अधिक विस्तृत विवरण सुगमता से दिया जा सकता था परन्तु उससे केवल थकाने वाली आवृत्ति होती। एक ही प्रकार के विषया की व्याख्या लगभग एक ही पद्धति एक या अन्य विषय पर अधिक महत्व देकर आकस्मिक रूपान्तरा के साथ की है। उनमे कभी-कभी पद्धति तथा उपस्थिति की विधि के विषय मे भी भिन्नता पाई जाती है। इस प्रकार शिव-ज्ञान-सिद्धि नामक आगम भिन्न विषयो की व्याख्या अनेक आगमा के लिए उद्धरणा द्वारा करता है। यह दर्शाता है कि भिन्न आगमा मे परस्पर आन्तरिक एकता थी। इन

---

[1] लय भोगाधिकारणाना न भेदा वास्तव शिवे, किन्तु बिन्दारगूना च वास्तवा एव ते मता।

[2] शक्तिरिच्छेति विज्ञेया शब्दा ज्ञानमिहोच्यते, वाग्भव स्यात् क्रिया-शक्ति कला वे षोडश स्मृत। या परमेश्वरस्य इच्छा सा शक्तिरितिज्ञेया, शक्तेस्तु जायते शब्द। यत् परमेश्वरस्य ज्ञान तदेव शब्द। शब्दात् जायते वाग्भव या परमेश्वरस्य क्रिया सा तु वाग्भव षोडश स्वरा कला इति उच्यन्ते।
पौष्करागम से उधृत—अचेतन जगद् विप्राश्चेतन-प्रेरक विना।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा न स्वतन्त्र रथादिवत्॥

संकलित रचनाओ से हम भिन्न आगमो की विषय-सूची के विषय में अधिक जान सकते हैं। यह महत्वपूर्ण है क्योंकि इनमे से कुछ आगम एक हस्तलेख के रूप मे भी कदाचित् ही प्राप्त हैं।

इन आगमो की तिथि निश्चित रूप से स्थिर नही की जा सकती। यह प्रस्ताव दिया जा सकता है कि इनमे से सबसे प्राचीन दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी ईसवी में किसी समय लिखे गए थे तथा यह तेरहवी तथा चौदहवी शताब्दी तक प्रचलित रहे होंगे। अध्यात्मवादी तथा धार्मिक सिद्धान्तो के अतिरिक्त उनमे योगाभ्यास विषयक आदेशो से सम्बन्धित भिन्न नाडियो के रूप सम्बन्धी विवरण भी हैं। प्रतिस्पर्धी विचारधाराओ जैसे बौद्ध, जैन तथा सांख्य से कुछ सामान्य वाद-विवाद भी है। परन्तु यह सब बहुत सामान्य हैं तथा इनका वस्तुत प्रत्याख्यान हो सकता है। प्रमाणमीमांसा सम्बन्धी विचारधारा मे इनकी कोई वास्तविक सहायता नही है। हमारे पास एक ही प्रकार के अपरिवर्तनशील तत्व विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त तथा एक ही प्रकार के तर्क हैं जो सृष्टी से स्रष्टा की स्वीकृति या कार्यकारण की स्वीकृति की ओर ले जाते हैं। अत स्पष्ट रूप मे प्रकृति के या कभी-कभी अणु के रूप मे परिणत उपादान कारण, निमित्त कारण रूप ईश्वर से भिन्न है। परन्तु केवल शिव को अनन्त सत्ता मानने के शुद्ध एक सत्तावादी विचार को स्थिर रखने के लिए इस उपादान कारण को प्राय ईश्वर के समतुल्य शक्ति माना जा सकता है। कभी-कभी ईश्वर के पाश की शक्ति द्वारा जीवो के कर्मों के अनुसार उनके सम्मुख सम्पूर्ण सृष्टि आभास के रूप मे वर्णित है। माया अथवा कम से प्राप्त भिन्न अशुद्धियो द्वारा सब जीव दूषित हैं। ये अशुद्धियाँ, अन्त मे जब शैव दीक्षा ली जाती हैं तब, ईश्वर के अनुग्रह द्वारा नष्ट कर दी जाती हैं।

ये आगम भिन्न धार्मिक अभ्यासो तथा अनुशासन के विषय मे आदेशो से तथा भिन्न प्रकार के नियम, कर्मकाण्ड, मंत्र, मन्दिर के निर्माण के विषय मे आदेश अथवा भिन्न प्रकार की लिंग की स्थापना से परिपूर्ण है। किन्तु इन्हे शैव मत की प्रस्तुत व्याख्या मे से पूर्ण रूप से हटाना होगा। यह देखना सुगम है कि आगमो का तथा-कथित शैव दर्शन शैव धार्मिक जीवन तथा अभ्यासो के समर्थन के लिए केवल तत्व-विज्ञान मूलक अवलम्ब मात्र है। जैसाकि हम माणिक्क वाचकर कृत तिरुवाचक मे देख सकते हैं, इनमे अधिकांशत भक्तो को शिव को पूर्णत समर्पित होने तथा भक्ति के मादक उत्साह से पूर्ण नितान्त नैतिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिलती है। इनमे भगवान शिव को जीवन के सम्पूर्ण समर्पण की प्रेरणा दी गई है।

अध्याय २५

वीर शैव मत

वीर शैव मत का इतिहास तथा साहित्य

"वीर शैव" संज्ञक शैव सम्प्रदाय का उद्गम काफी पीछे हुआ प्रतीत होता है। माधव चौदहवी शताब्दी की अपनी "सर्वदर्शन-संग्रह" पुस्तक मे जो पाशुपत तथा आगामी शैवो का उल्लेख करते है उससे प्रतीत होता है कि वे वीर शैवो के विषय में कुछ नही जानते थे। आठवी तथा नवी शताब्दी के शकर वाचस्पति तथा आनन्दगिरी भी वीर शैवो के विषय मे कुछ नही जानते थे, न ही उनका शैवागमो मे कोई उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि "वातुलतंत्र" की पाडुलिपियो के दो सस्करण हैं तथा उनमे से एक मे परिशिष्ट के रूप मे षड्स्थल सिद्धान्त का उल्लेख है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह परिचय सन्देहजनक है। वीर शैवो के लिगायत द्वारा की गई लिंग धारण सिद्धान्त की विधि का कदाचित ही किसी प्राचीन रचनाओ मे अवलोकन किया जा सकता है यद्यपि उत्तर कालीन लेखक, जैसे श्रीपति आदि, ने प्राचीन मूल ग्रन्थो के शब्दो के साथ खीचातानी कर उनका ऐसा अर्थ लगाया है जिससे लिगायतो के लिंग-धारण के अनुष्ठो का समर्थन हो सके।

साधारण परम्परा है कि मादिराज तथा मादाम्बा का पुत्र बसव था जो कि एक ब्राह्मण वीर शैव पथ का सस्थापक था। वह अपने प्रदेश बागेवडी से बहुत अल्प आयु मे ही बम्बई के निकट कल्याण गया जबकि बिज्जल वहाँ राज्य कर रहे थे (११५७-६७ ई०)। जब उनके मामा बलदेव ने रोग के कारण पद-त्याग किया तब बसव की नियुक्ति बिज्जल के सम्पूर्ण कोष तथा शासन सम्बन्धी कार्यों के मंत्री के रूप मे हुई। एक अन्य परम्परा के अनुसार बसव एक हस्त लेख के स्पष्टीकरण मे सफल हुए, जिससे कि एक छिपे हुए धन का पता चला तथा इससे राजा बिज्जल इतने प्रसन्न हुए कि उन्होने बसव को प्रधान-मंत्री का पद प्रदान किया। बसव पुराण के अनुसार जोकि बसव के जीवन का वर्णन कल्पित पौराणिक विधि मे करता है, बसव ने पद ग्रहण करने के पश्चात् उन सबको उपहार बाटने आरम्भ कर दिए जो अपने को शिव का भक्त घोषित करते थे। इससे अन्य पथो मे बहुत सक्षोभ तथा ईर्षा हुई तथा कुछ ऐसा हुआ कि राजा ने शिव के दो भक्तो को कठोरता से दडित किया। इस पर बसव के प्रोत्साहन से उसके एक अनुयायी ने बिज्जल का वध कर दिया। भडारकर ने

कुछ अन्य विस्तृत वर्णन दिए हैं जो प्रस्तुत लेखक को बसव पुराण मे नही मिल सके (जिसे स्वय भडारकर ने मूल माना है)।[1]

बसव पुराण श्रीपति पडित के बाद के काल मे लिखा गया था। यह कहा जाता है कि एक समय नारद ने शिव को सूचना दी कि जब अन्य धर्म सफल हो रहे हैं तब, कुछ अपवादो को छोडकर, ब्राह्मणो मे शैव पथ की समाप्ति हो रही है अत. अन्य जातियो मे भी इसका ह्रास हो रहा है। तब शिव ने नन्दी से वीर शैव पथ को वर्णाश्रम आचार के अनुरूप लाने के लिए उन्हे अवतरित होने को कहा।[2] यदि इस कथन का कुछ महत्व है तब यह स्वीकार करना होगा कि श्रीपति पडित के उत्तरकाल मे भी वीर शैव पथ को कर्नाटक प्रदेश मे कोई महत्ता प्राप्त नही थी। इससे यह भी विदित होता है कि वीर शैव पथ का उद्देश्य हिन्दू प्रणाली की जातियो तथा जाति-धर्मों के विरुद्ध उपदेश देना नही था। यह माना जाता है कि बसव ने जाति तथा जाति-प्रथाओ तथा कुछ अन्य हिन्दू रीतियो को हटाने के लिए समाज-सुधार प्रारम्भ किए। किन्तु इसे प्रमाणित नही किया जा सकता, क्योकि अनेक वीर शैव रचनाओ मे हम हिन्दू जाति-प्रथा के प्रति भक्ति पाते हैं। शिव के उन अनुयायियो मे जो बसव के साथ, अवश्य ही भ्रातृभाव के निर्माण करने की प्रवृत्ति मिलती है, क्योंकि वह राजनैतिक तथा आर्थिक दानो ही रूपो मे शिव के अनुयायियो का सरक्षक था। बसव पुराण यह भी कहता है कि बसव का आठ वर्ष की आयु मे ब्राह्मणो की अनिवार्य दीक्षा की प्रथा के अनुसार यज्ञोपवीत सस्कार के लिए पडितो की मडली मे ले जाया गया था। किन्तु बसव ने उस अल्प आयु मे भी दीक्षा के सस्कार का इस आधार पर विरोध किया कि यज्ञोपवीत न आत्मा को और न शरीर को शुद्ध कर सकता है तथा पौराणिक वर्णनो मे ऐसे अनेक दृष्टान्त है जिनमे महान् यशवान सन्तो ने यज्ञोपवीत नही लिया। हमे बसव का ऐसा कोई भी वर्णन नही मिलता है जिसमे उन्होने हिन्दू प्रथाओ अथवा विधियो अथवा ब्राह्मण मत के विरुद्ध धर्मयुद्ध का उपदेश दिया हो।

बसव के अपने लेख कन्नड भाषा मे उक्तियो अथवा ध्यान के निष्कर्षों के रूप हैं, जैसाकि सामान्य रूप से शैव मत, वैष्णव मत आदि के अन्य पन्थो के भक्तो मे पाया जाता है। प्रस्तुत लेखक को इनमे से बहुत से कथनो का अंग्रेजी अनुवाद पढने का अवसर मिला है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है उनमे भगवान शिव के प्रति आनन्द पूर्ण उत्साह है जो बसव के सम्मुख भगवान कुडल सगम के रूप मे प्रकट हुए। ये उक्तियाँ शिव का महाप्रभु के रूप मे उल्लेख करती हैं तथा स्वय बसव को

[1] देखिए भडारकर कृत वैष्णवमत तथा शैवमत, पृ० १३२।

[2] वर्णाचारानुरोधेन शैवाचरण प्रवर्तय। —बसव-पुराण, अ० २, पृ० ३२।

उनके सेवक अथवा दास के रूप मे निरूपित करती हैं। यहाँ-वहाँ उनमे कुछ जीवन-चरित्र सम्बन्धी सकेत मिलते हैं जिनका पुन निर्माण तत्कालीन प्रमाण की सहायता के अतिरिक्त नही हो सकता। जो कुछ बसव के कथनो से अनुमान किया जा सकता है उसके आधार पर बसव द्वारा वीर शैव विचार का सस्थापित अथवा क्रमबद्ध निश्चित वर्णन देना सम्भव नहीं है। बसव पुराण के अनुसार लिंग धारण की प्रथा बसव से पूर्व ही प्रचलित प्रतीत होती है। बसव षड्स्थल सिद्धान्त के विषय में स्वय कुछ नहीं कहते तथा यह दो अनिवार्य रूप मे आवश्यक विषय हैं, जिनसे कि इसे इसकी दार्शनिक विशेषता के अतिरिक्त शैवमत के अन्य पथो से स्पष्ट रूप मे पृथक् किया जा सकता है। इस पर भी बसव ऐसी कोई निश्चित विचारप्रणाली सूचित करते प्रतीत नही होते जिसे उत्तरकालीन वीर शैव लेखको के विचारो द्वारा शेष पूर्ति अथवा पुर्नरचना किए बिना क्रमबद्ध किया जा सके। यद्यपि वीर शैव दर्शन का मुख्य भाग ईसा काल की प्रथम शताब्दियो मे प्राप्त किया जा सकता है तथा यद्यपि हम छठी शताब्दी ईसवी की सूत-सहिता जैसी रचनाओ मे प्रचलित पाते है तथापि हम यह नही जानते कि किस प्रकार इस विचार धारा को 'वीर शैव' नाम दिया गया।

बसव तथा श्रीपति के कालो के मध्य मे किसी समय रेवणाचार्य द्वारा लिखी गयी सिद्धान्त शिखामणि रचना मे हम 'वीर शैव' नाम को स्थल सिद्धान्त से सबधित पाते हैं तथा सम्भवत प्राप्त साहित्य मे यही इस शब्द का सबसे प्राचीन 'प्रयोग है। सिद्धान्त शिखामणि मे बसव के विषय मे उल्लेख है तथा स्वय इस पुस्तक का उल्लेख श्रीपति ने किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह पुस्तक बसव तथा श्रीपति के कालो के मध्य मे लिखी गई होगी। सिद्धान्त शिखामणि मे "वीर" शब्द की बहुत रोचक व्याख्या इसकी व्युत्पत्ति दी गयी है, उसके अनुसार "वि' अर्थात् ब्रह्म से अभेद का ज्ञान, तथा "र" अर्थात् ऐसे ज्ञान से जनित आनन्द से है। यदि इसे उचित भी मान लें तब भी ऐसी शब्द-व्युत्पत्ति "वीर" नही "विर" बनेगा। "विद्या" का "वि" किस प्रकार दीर्घ "वी' हो जायगा, इसकी कोई व्याख्या नही दी है। अत मेरे लिए यह स्वीकार करना कठिन है कि यह शब्द-व्युत्पत्ति विषयक व्याख्या "वीर" शब्द के "वीर शैव" में प्रयोग का समर्थन करती है। इसके अतिरिक्त वेदान्ती विचारधारा की अनेक पद्धतिया इस व्याख्या के अनुसार वीर कहला सकती है क्योकि अनेक प्रकार के वेदान्त सच्चे तादात्म्य ज्ञान से सुख तथा आनन्द का अनुभव करेगे। अत "वीर" शब्द कोई विशेष चिह्न नही है जिससे हम वीर शैवो को अन्य धर्मों के अनुयायियो से विभिन्न कर सकें। अनेक आगमानुयायी शैव भी जीवो की ब्रह्म अथवा शिव से अभिन्नता मे विश्वास करेंगे। अत मैं यह प्रस्ताव करने का साहस करूँगा कि वीर शैव अपने मत के अनुमोदन मे आक्रमणात्मक अथवा सुरक्षा की वीर प्रवृत्ति के कारण वीर कहलाते थे।

शैव संदर्भ मे हमारे पास कम से कम दो धार्मिक दृष्टान्त हैं। जैसेकि एक चोल राजा कोलुतंग प्रथम ने रामानुज के दो शिष्य, महापूर्ण तथा कुरेश के नेत्र निकलवा दिए थे क्योकि उन्होने शैव मत मे धर्म-परिवर्तन करना अस्वीकार कर दिया था। इसी प्रकार की कथा बसव के जीवन मे भी आती है जहाँ उनके दो शिष्यों के नेत्र बिज्जल ने निकलवा दिए थे तथा स्वय बिज्जल का वध बसव के अनुयायियो ने किया था। ये केवल कुछ ही दृष्टान्त हैं जहाँ धर्म के प्रचार अथवा धार्मिक प्रतिहिंसा के लिए अहिंसा का आश्रय लिया गया था। मैं समझता हूँ कि कुछ शैवो की झगडालू प्रवृत्ति ने, जिन्हाने जाति-नियम तथा प्रथाएँ अस्वीकार की तथा जो शैव मत के उत्साही अनुयायी थे, उनको वीर शैव का नाम दिलाया। सिद्धान्त शिखामणि भी बसव के उस विचार का उल्लेख करती है जो शिव की निन्दा करते हैं उनका वध हो जाना चाहिए।[१] धर्म के लिए ऐसी झगडालू प्रवृत्ति कदाचित् ही अन्य धर्मों तथा धार्मिक पथो मे पाई जाती है। उपरोक्त सदर्भ मे सिद्धान्त शिखामणि नवें अध्याय मे इगित करती है कि यद्यपि वीर शैवो को स्थावर लिंग की भेंट से भाग लेने का निषेध है तथापि यदि इस चिह्न को नष्ट होने का अथवा बाधा का भय हो तब हिंसात्मक आक्रमणो को रोकने के लिए एक वीर शैव को अपने जीवन को भी सकट मे डाल देना चाहिए।

हमारे ऊपर के परामर्श से यह जानने मे बहुत सहायता नही मिलती कि वीर शैव दशन मे अथवा षड्स्थल तथा लिंग-धारण की क्रियाविधि मे बसव का क्या योगदान रहा है। उन्होने विभिन्न प्रकार के शैवो को, जो उनके सम्पर्क मे आए, धार्मिक उत्साह द्वारा अथवा अपनी आर्थिक तथा अन्य प्रकार के सरक्षण के कारण बहुत अधिक भावात्मक उत्साह की प्रेरणा दी होगी। बसव पुराण मे ऐसा प्रतीत होता है कि शिव के भक्तो को उन्होने जो आर्थिक सहायता दी वह अविवेकपूर्ण थी। उनका धन सब शैवो पर वर्षा की बौछार के समान बरसता था। सम्भवत इसी ने उन्हे तत्कालीन शैवो का सबसे अधिक शक्तिशाली सरक्षक बना दिया तथा उनमे से चुने हुओ से उसने एक विद्वात् सभा की स्थापना की जहाँ धार्मिक समस्याओ पर सजीव वाद-विवाद होते थे। इन सभाओं की अध्यक्षता वह स्वय करता था।

---

[१] अथ वीर भद्राचर-बसवेश्वरचार सूचन्मक्ता—चारभेदद प्रतिपादयति—
शिवनिन्दा-करदृष्टवा घातयेदथवा शपेत्,
स्थानं वा तत् परित्यज्य गच्छेद्यदि अक्षमो भवेत्
(सिद्धान्त-शिखामणि —अध्याय ६ पर पद्य २६)।
इस सदर्भ मे पुन यह कहा गया है
ननु प्राणत्यागे दुर्मरण किं न स्यात्,
शिवार्थं मुक्त जीवश्सच्छिव-सायुज्य आप्नुयात् ॥

प्रस्तुत लेखक का अनुमान यह है कि वीर शैव विचार का मुख्य भाग उपनिषदो के समान प्राचीन है तथा यह पर्याप्त व्यवस्थित रूप मे कालिदास की कृतियो मे भी परोक्षत व्यक्त हुआ है, जो कि ईसा सवत् की आरमिक शताब्दियो मे हुए।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि स्कद पुराण का एक भाग सूत सहिता ऐसे दर्शन की शिक्षा देती है जिसकी उसी प्रकार की व्याख्या की जा सकती है जैसीकि श्रीपति द्वारा प्रतिपादित वीर शैव दर्शन की है, यद्यपि टीकाकार शकर के दर्शन के अनुरूप उसकी व्याख्या करते हैं। सूत सहिता ने आगम साहित्य को, जैसे कामिक आदि को, उच्च स्थान दिया है जिससे ज्ञात होता ह कि इसका आगमो शैव मत से निकट सबध था।[२]

परन्तु यह कहना कठिन है कि किस समय वीर शैव पथ की स्थापना हुई तथा कब इसको यह विशेष उपाधि मिली। वीर शैवमत अपने दर्शन तथा स्थल-सिद्धान्त मे, तथा विशेष प्रकार के लिंग-धारण की कुछ अन्य धार्मिक क्रियाओ मे आगमी शैव मत तथा पाशुपत मत से भिन्न है। यह दुर्भाग्य की बात है कि वीर शैवमत का सबसे पहला उल्लेख सिद्धान्त शिखामणि मे मिलता है जो कि सभवत तेरहवी शताब्दी की रचना है। 'वीर शैव गुरु परम्परा'' नामक एक लघु पाडुलिपि मे निम्नलिखित शिक्षको के नाम प्राथमिकता-क्रम मे इस प्रकार दिए गए हैं (१) विश्वेश्वर गुरु (२) एकोराम (३) वीरेश्वराध्य (४) वीर भद्र (५) विश्णाराध्य (६) मणिका-राध्य (७) वच्चय्याराध्य (८) वीर माल्लेश्वराराध्य (९) देशिकाराध्य (१०) वृषभ (११) अक्षक (१२) मुख लिगेश्वर। वीर शैवागम[३] के आठवे पटल मे यह कहा है कि चार पीठो अर्थात् याग पीठ, महापीठ, ज्ञानपीठ तथा सोमपीठ मे चार शिक्षक थे जो वरिष्ठता म भिन्न थे। ये थे—रेवण, मरूल, वामदेव[४] तथा पडिताराध्य। ये नाम पौराणिक स्वरूप के है क्योंकि कहा गया है कि इनका उल्लेख वेदो मे भी हुआ है। किन्तु उपरोक्त जिन नामो को हमने वीर शैव गुरु परम्परा से उद्धृत किया है, वे शिक्षकों की एक अनुक्रमात्मक सूची का निर्माण करते है जो पाडुलिपि के लेखक के काल तक आती है।[५] शिक्षका की अनुक्रमात्मक सूची के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सिद्धान्त शिखामणि मे उल्लिखित वीरभद्र के अतिरिक्त, उन शिक्षकों के

---

[१] देखिए लेखक की सस्कृत साहित्य का इतिहास भाग १, पृ० ७२।

[२] सूत-सहिता, यज्ञ-वैभव खड, अध्याय २२ पद्य २ व ३। अध्याय २०, पद्य २२, अध्याय ३९, पद्य २३ भी देखिए।

[३] मद्रास-पाडुलिपि।

[४] एक अन्य पाठ रामदेव है (आठवा तथा नवा पटल)।

[५] अस्मादाचार्य-पर्यन्त वन्दे गुरु-परम्पराम् (मद्रास-पाडुलिपि)।

विषय मे सकेत अथवा उनके लिखे किसी शास्त्र द्वारा, हम कुछ भी नही जान सकते ।[1] हम यह नही कह सकते कि वीरभद्र सिद्धान्त शिखामणि के लेखको से कितने पूर्व हुए। परन्तु क्योकि वीरभद्र का उल्लेख एक ही सदर्भ में बसव के साथ किया गया है, हम यह अनुमान कर सकते है कि यह वीरभद्र बसव से बहुत पहले का नही हो सकता। अत यदि हम निस्सदिग्ध रूप मे यह अनुमान कर सकते हैं कि वीरभद्र बारहवी शताब्दी में किसी समय वर्तमान था तब हमे केवल वीरभद्र से पूर्व के तीन आचार्यों के समय की गणना करनी है। गणना की साधारण विधियो के अनुसार तीन आचार्यों का शिक्षण काल हम सौ वर्ष रख सकते है। इसका अर्थ होगा कि वीर शैवमत पथ के रूप मे ग्यारहवी शताब्दी मे आरम्भ हुआ। यह सम्भव है कि इन शिक्षको ने द्रविड भाषा मे लिखा अथवा उपदेश दिया हो जिसे उन व्यक्तियो ने ही समझा होगा जिनके मध्य उन्होने उपदेश दिया होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि क्यो कई सस्कृत पुस्तके उनके द्वारा लिखी गई प्राप्त नही हैं। सम्भवत बसव अत्यधिक बुद्धिमान एव भावात्मक विचारक था जिसने अपने उद्गार कन्नड भाषा मे व्यक्त किए।

परन्तु वीर शैव आचार्यों की अनुक्रमात्मक सूची हमारी की व्याख्या के विषय मे अब भी बहुत कुछ कहना शेष है। यह शिक्षको की उन अन्य परपराओ के विषय मे कुछ भी व्याख्या नही करती जिनके विषय मे हम इधर-उधर किवदन्तियो के रूप मे सुनते हैं, जैसे अगस्त्य को शैव मत के प्रथम सस्थापक के रूप मे सुनते हैं। हम यह भी देखते है कि प्राचीनकाल मे किसी समय किसी रेणुकाचार्य ने अन्य वीर शैव रचनाओ के विचारो पर आधारित रेणुक सिद्ध तथा अगस्त्य के पौराणिक सवाद का अभिप्राय देते हुए सिद्धान्तशिरोमणि नामक रचना लिखी। रेणुकसिद्ध रेवणसिद्ध भी कहलाता था तथा यह अनुमान किया जाता है कि कलि-काल के आरम्भ मे उन्होने अगस्त्य को वीर शैव शास्त्र का स्पष्टीकरण किया। बाद मे हमे एक सिद्ध रामेश्वर मिलता है जो वीर शैव के सिद्धान्त मे निष्णात था, उसकी विचारधारा मे हमे शिव-योगीश्वर नामक व्यक्ति मिलता है, जिसने परम्परागत रेणुक तथा अगस्त्य के सवाद का अनुमानित तात्पर्य अन्य प्रासगिक साहित्य की शिक्षाओ द्वारा शेष पूर्ति करते हुए हमे दिया। सिद्ध रामेश्वर के परिवार मे एक महान् शिक्षक मुद्देव ने जन्म लिया था। उसके एक सिद्धनाथ नामक पुत्र था जिसने 'शिव सिद्धान्त निर्णय' नामक रचना मे आगमो का अभिप्राय लिखा। तत्कालीन अन्य आचार्य उन्हे वीर शैव आचार्यों मे से अत्यन्त मुख्य मानते थे (वीर शैव शिखारत्न) तथा रेणुकाचार्य ने, जो अपने को शिव योगिनी भी कहते थे, सिद्धान्त शिखामणि रचना लिखी। इस प्रकार हम देखते है कि रेणुकाचार्य से पूर्व उन वीर शैव आचार्यों की एक लम्बी सूची थी जो सम्भवत तेरहवी शताब्दी मे वर्तमान थे। यदि हम इसको न भी माने तब भी सिद्धान्त

---

[1] सिद्धान्त-शिखामणि। अध्याय ६, छत्तीसवे पद्य की अवतरणिका।

शिखामणि के लेखक रेणुकाचार्य कहते हैं कि उन्होने यह रचना कामिकागम से वातुलागम तक के शैव तत्रो तथा पुराणो से निर्देशन लेते हुए शिव के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए लिखी। पुन, वे कहते है कि शिव-तत्रो मे वीर शैव तंत्र अन्तिम है अत यह सबका सार है।[1]

परन्तु सिद्धान्त-शिखामणि मे व्याख्या किए गए वीर शैव दर्शन का वास्तविक सार क्या है? यह कहा जाता है कि ब्रह्म सत् आनन्द तथा चित् का तादात्म्य है तथा आकार एव भेद-रहित है। यह असीम है तथा सब प्रकार के ज्ञानो से परे है। यह स्वय प्रकाश है तथा ज्ञान, वासना एव शक्ति के अवरोध से सर्वथा रहित है। उसमे ही हमारी इन्द्रियो से अज्ञात सम्भावित रूप मे चित् तथा अचित् ससार रहता है तथा उसी से सम्पूर्ण ससार बिना किसी निमित्त क्रिया के अपनी अभिव्यक्ति अथवा प्रकाशन करता है। इसका अर्थ है कि जब ईश्वर की इच्छा होती है तब वह अपने स्वय के आनन्द से अपने को विस्तृत करता है जिससे ससार प्रकट होता है जिस प्रकार ठोस मक्खन अपने को विस्तृत कर तरल अवस्था मे कर लेता है। शिव के गुण अप्राकृत हैं। सत्, नित् तथा आनन्द का स्वरूप शक्ति है। किन्तु यह आश्चर्यजनक है कि इसमे पूर्णाद्वैतवादी तथा निर्वयक्तिक दृष्टिकोण के साथ साथ यह अवधारणा भी है कि भगवान शिव मे सकल्प शक्ति है जिससे वे ससार की सृष्टि व सहार करते हैं। जैसा कि हमे आगे देखने का अवसर मिलेगा, षड्स्थल का सम्पूर्ण सिद्धान्त जो कि वीर शैव विचारधारा का सारभूत है, इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथा ससार को ईश्वर मे स्थित एव उससे अभिन्न समझना चाहिए। अवश्य ही ऐसे अनेक शब्द हैं जो एक प्रकार का भेदाभेद विचार सूचित करते है परन्तु यह भेदाभेद अथवा एकता मे भेद, वृक्ष, उसके पुष्प तथा फलो मे भेदाभेद के प्रकार का नही है क्योकि ऐसा विचार शिव के स्वरूप मे रूपान्तरण अथवा परिवर्तन प्रस्तावित करेगा। भेदाभेद की व्याख्या उस विचार से करनी होगी जिसमे सर्वातिशायी ईश्वर उन पदार्थों के आकार मे भी प्रतीत होता है जिनका हम प्रत्यक्षीकरण करते हैं तथा जो हमारे अपने स्वरूप जैसा है।

"सिद्धान्त शिखामणि" आगमो पर आधारित थी। अत उसका दार्शनिक दृष्टिकोण अस्थिर स्वभाव का था जैसा हम विभिन्न आगमो मे पाते हैं। जैसे कि सिद्धान्त शिखामणि के अध्याय ५ पद्य ३४ मे यह कहा गया है कि ब्रह्म रूप तथा गुण-रहित है परन्तु अविद्या से अपने अनादि सम्बन्ध के कारण यह जीवो के रूप मे प्रकट होता है। इस अर्थ मे जीव ईश्वर का केवल एक अश है। किन्तु अन्यत्र इसी मे लिखा है कि ईश्वर समस्त जीवित प्राणियो का प्रेरक तथा नियता है। दूसरे श्लोक मे कहा गया

---

[1] सिद्धान्त शिखामणि, अध्याय १ पद्य ३१–२।

है कि ब्रह्म एक ही समय मे ईश्वर तथा प्राणियो की आत्मा दोनो है। शुद्ध शिव में सत्व, रजस्, तमस् कोई गुण नहीं है।[1] किन्तु पुन, इसमे वेदान्त के इस विचार की ओर झुकता है कि जीव, ससार के पदार्थ तथा परम नियता ईश्वर शुद्ध चैतन्य अथवा ब्रह्म पर केवल अध्यास हैं।[2] सिद्धान्त शिखामणि 'अविद्या' तथा 'माया' का वही रूप स्वीकार करती है जो शकर के अनुयायियो ने किया। अविद्या से सम्बन्ध के कारण ही भिन्न प्रकार के जीव हैं तथा माया से सम्बन्ध के कारण ब्रह्म सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान प्रतीत होता है। अविद्या के कारण जीव ब्रह्म से अपनी अभिन्नता का साक्षात्कार नही कर सकता तथा जन्म एव पुनर्जन्म के चक्र मे से होकर निकलता है।

एक और विषय ध्यान देने योग्य है। पतजलि के योग सूत्र मे यह कहा गया है कि हमारे जाति, आयु और भोग का स्वरूप हमारे कर्म द्वारा निश्चित होता है, तथा कर्म-विपाक का नियम रहस्यमय है। परन्तु कर्म के फल स्वत ही होते हैं। पाशुपतो तथा नैयायिको ने इस विचार का केवल रूपान्तर किया है, जो उन्ही के समाज के है। यह ध्यान देना रोचक है कि सिद्धान्त शिखामणि ने इस विचार का अनुकरण पाशुपतो से किया है जो यह मानते हैं कि कर्म-विभाजन का प्रबन्ध तथा नियन्त्रण ईश्वर द्वारा होता है। अत "सिद्धान्त शिखामणि" हमारे सम्मुख सारसग्रही विचार रखती हुई प्रतीत होती है जो अस्थिर है तथा अभी तक निर्माण की अवस्था मे है। इससे ग्रन्थकार द्वारा उन विचार-तथ्यो के अव्यवस्थित सकलन का स्पष्टीकरण होता है जो पाशुपत सिद्धान्त, परिवर्तनशील आगम सिद्धान्त, साख्य के प्रभाव तथा अन्त मे शकर के अनुयायियो मे वेदान्त से प्राप्त किए है। इस कारण तेरहवीं शताब्दी मे बसव के समय मे हम दार्शनिक प्रणाली के रूप में विशेष रूप के क्रमबद्ध वीर शैव दर्शन की आशा नही कर सकते। हमारे लिए यह दिखाना सुगम होगा कि बसव के शिक्षक अल्लमप्रभु शकर के वेदान्त मत के सम्प्रदाय से प्रभावित थे।

शकर के एक शिष्य आनदगिरि ने "शकर विजय" मे शिव के विभिन्न प्रकार के भक्तो का विस्तृत वर्णन दिया है जो अपने बाह्य चिह्नो द्वारा परस्पर भिन्न किए जा सकते है। शकर स्वय केवल उन पाशुपतो तथा शैवो के विषय मे लिखते हैं जिन्होने सिद्धान्तो तथा आगमो का वर्णन किया, जिसमे भगवान शिव उपादान कारण (जिसमे ससार का निर्माण हुआ है) से भिन्न निमित्त-कारण के रूप में वर्णित है।

---

[1] गुणत्रयात्मिका शक्ति ब्रह्मनिष्ठा सनातनी,
तद्वैषम्यात् समुत्पन्ना तस्मिन् वस्तु त्रयाभिधा।
—सिद्धान्त-शिखामणि, अध्याय ५ श्लोक ३९।

[2] भोक्ता भोज्य प्रेरतिया वस्तुत्रयमिद स्मृत,
अखडे ब्रह्म चैतन्ये कल्पितम् गुण भेदत। —वही, अध्याय ५, श्लोक ४१।

शकर के सूत्र २-२-३७ पर भाष्य की अपनी टीका भामति मे वाचस्पति शिव के चार प्रकार के अनुयायियो के विषय मे लिखते हैं। इनमे से हमें शैवो तथा पाशुपतो का यथेष्ठ साहित्य मिला है तथा हम यह प्रस्ताव करने का साहस कर सकते हैं कि कारुणिक सिद्धान्त भी आगमी शैव विचारधारा के अनुरूप ही थे। परन्तु रामानुज के भाष्य के उसी सूत्र मे उल्लिखित कापालिका तथा कालमुखों का हमे कोई साहित्य प्राप्त नही हो सका है। सूतसहिता मे कामिक तथा अन्य आगमो, कापालिकों, लाकुलो, पाशुपतो, सोमो तथा भैरवो जिनके भी आगम थे, के नाम हमे मिलते हैं। ये आगम अनेक पथा तथा सप्रदायो की शाखाओ मे विभाजित हो गए।[१] अन्वेषण से हमे यह ज्ञात होता है कि लाकुल तथा पाशुपत एक ही थे तथा हमारे पास इस विषय मे 'सर्वदर्शन सग्रह' के लेखक माधव का प्रमाण है। सम्भवत सूतसहिता छठी शताब्दी ई० की रचना है जबकि माधव की रचना चौदहवी शताब्दी की है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपत लाकुलो से पूर्व काल के थे। न शकर और न वाचस्पति ही लाकुलीशो को पाशुपता के समान बताते है। परन्तु चौदहवीं शताब्दी से कुछ समय पूर्व लाकुलीश तथा पाशुपत सयुक्त हो गए थे तथा बाद मे एक प्रणाली के रहे, जैसाकि हम देखते है कि सोलहवी शताब्दी के अप्पय दीक्षित ने अपनी टीका वेदान्तकल्पतरुपरिमल मे इन्हे एक ही माना है। परन्तु इसमे कुछ भी सन्देह नही कि छठी शताब्दी ईसवी से बहुत पूर्व, जो समवत सूतसहिता की तिथि है, लाकुलो के अपने आगम थे। हमे भैरवो के उल्लेख मिलते है। भैरव नाम शिव के अधिष्ठाता पुस्-पक्ष का दिया गया है और दक्ष-पुत्री तथा शिव की अर्धांगिनी शक्ति स्त्री-लिग की प्रतीक है। परन्तु हमे ऐसा कोई आगम प्राप्त नही हो सका जिसमे कि भैरव-सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त का विवरण हो, यद्यपि हमें भैरव के आनुष्ठानिक उल्लेख मिले है। सूत सहिता भी आगमी ऋषि, जैसे श्वेत, का उल्लेख करती है। इन अट्ठाइस ऋषियो मे प्रत्येक के चार शिष्य थे, जिनस कि सख्या ११२ हो गई। इनका उल्लेख सूत सहिता (खड ४, अध्याय २१, श्लोक २-३) मे भी है जहाँ कि शरीर पर भस्म मले हुए तथा रुद्राक्ष की माला पहने हुए इनका वर्णन किया गया है। इतने प्राचीन काल मे इतने अधिक शैव सन्तो का होना स्वाभाविक रूप मे शैव मत की प्राचीनता दर्शाता है। ये शैव सन्त वर्णाश्रम धर्म के प्रति भक्ति रखते हुए प्रतीत होते है।

सभवत तेरहवी शताब्दी के एक उत्तरकालीन वीर शैवागम नामक आगम मे चार प्रकार की प्रणालियो मे शैव, पाशुपत, वाम तथा कुल के विषय मे उल्लेख है। शैव पुन सौम्य तथा रौद्र मे विभाजित है। सौम्य पाच प्रकार के है जिनमें पिशाच विद्या तथा जादू निवारण के रूप मे सम्मिलित हैं। शैव सम्प्रदाय दक्षिण कहलाता है

---

[१] सूतसहिता ४, यज्ञ-वैभव खड, अध्याय २२ श्लोक २-४।

तथा शक्ति का पंथ वाम कहलाता है। वाम तथा दक्षिण को संयुक्त करके एक सम्प्रदाय माना जा सकता है। केवल शिव से संबंधित सिद्धांत शास्त्र शुद्ध शैव कहलाता है। किन्तु एक और मत है अथवा वस्तुतः एक मत के तीन सम्प्रदाय, दक्षिण, कालमुख तथा महाव्रत नामक हैं।[1] भंडारकर ने सुझाया है कि कालमुख तथा महाव्रतधारी एक ही और अभिन्न हैं। सिद्धांत पुन तीन मतो मे विभाजित हैं– आदिशैव, महाशैव तथा अन्तशैव। शैव मत की ये प्रतिशाखाएँ पाशुपत शैवमत से उत्पन्न हुई हैं। वीर शैवागम के लेखक कहते हैं कि शैव मत ने असंख्य प्रकार के विचार सम्प्रदायो अथवा भक्तो के समुदाय मे अपना प्रसार कर लिया था तथा उनके पास उनकी स्थिति का पोषक विशाल साहित्य था।[2] ये सब सम्प्रदाय, यदि उनका कोई साहित्य था तो अपने उस समस्त साहित्य के साथ अब प्राय नष्ट हो गए हैं।

उसी आगम के प्रमाण से यह प्रतीत होता है कि वीर-शैवमत प्राचीन शैवो का अंग नही था, परंतु यह एक सैद्धांतिक सम्प्रदाय के रूप मे उत्पन्न हुआ, जिसमे मठो (धर्मस्थानो) मे चार लिंगो पट्स्थल के रूप मे शिव की पूजा तथा उनके विशेष कर्मकाड एव पद्धतियो को अपनाया। यह विचार ठीक हो सकता है क्योकि शैव मत पर किसी भी पूर्वतर रचना मे हम वीर शैव को एक विचार-प्रणाली के रूप मे नहीं पाते है। हस्तलेखो मे मुकुटागम, सुप्रभेदागम वीरशैवागम, आदि अनेको वीरशैवागम हमे उपलब्ध है। परन्तु वीर-शैव सारोद्धार नाम से भी अभिहित, सोमनाथ के भाष्य से युक्त बसव-राजीय (हस्तलेख) के अतिरिक्त उनमे से किसी ने भी बसव अथवा वीर शैव दर्शन का भी उल्लेख नही किया है। 'बसव-राजीय' बसव को शिव के बैल (नन्दी) के अवतार तथा शैवो के सरक्षक के रूप मे वर्णित करता है। परन्तु इस कृति के लेखक ने बसव के दार्शनिक सिद्धानो के विषय मे कुछ भी नही कहा है, वरन् षट्स्थल के कल्प विस्तृत किया है।

प्रोफेसर साखरे, नन्दिकेश्वर कृत लिंग-धारण-चन्द्रिका के अपने परिचय मे स्वायंभुवागम से एक अंश उद्धृत करते है, जिनमे रेवणसिद्ध के सोमेश लिंग से, मरुल-सिद्ध के सिद्धेशलिंग से, पंडिताचार्य के मल्लिकार्जुन-लिंग विश्वाराध्य से, एकोराम के रामनाथ-लिंग से तथा विश्वाराध्य के विश्वेश लिंग से पौराणिक उद्गमो का वर्णन है। इसके आगे हमारे पास इन आचार्यों अथवा इनकी शिक्षाओ की प्रकृति का कोई प्रमाण नही है। हमे यह भी ज्ञात नही है कि वे अपने को वीर-शैव कहते भी थे या नही। यह विवरण वीर-शैव-गुरु परम्परा अथवा जिनसे हम परिचित हैं। उन प्रकाशित या अप्रकाशित अन्य वीर शैव मूल ग्रन्थो मे प्राप्त वर्णन के अनुरूप नही है।

---

[1] देखिए–रामानुज का भाष्य (श्रीभाष्य) २–२–३७।

[2] समुद्र-सिकतासंख्यासामयास्सन्ति कोटिश। –वीर शैवागम।

–मद्रास-हस्तलेख।

सुप्रभेदागम मे दिए हुए और अज्ञात भूतकाल मे उत्पन्न वीर शैवो के गोत्र तथा प्रवर सर्वथा काल्पनिक है। अत उनका आगे विचार अनावश्यक है। ऐसा विचार वीर-शैव दर्शन तथा मतग्राहिताओ के उद्‌गम तथा विकास पर कोई ऐतिहासिक प्रकाश नहीं डाल सकता है।

हम पहले ही देख चुके है कि एक परपरा है जो अगस्त्य, रेणुका अथवा रेवण-सिद्ध, सिद्धराम तथा सिद्धात शिखामणि के लेखक रेणुकाचार्य को सयुक्त करती है। श्रपति मुख्यत अपने तर्कों को उपनिषदो तथा पुराणो पर आधारित करते हैं, परन्तु वह अगस्त्य सूत्र तथा रेणुकाचार्य का भी उल्लेख करते हैं। किन्तु वह बसव तथा अल्लमप्रभु, चन्नबसव, माचय, गोग, सिद्धराम तथा महादेवी प्रभृति उसके सहयोगी समकालिको का उल्लेख नहीं करते हैं।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि वीर-शैवमत के विकास की दो या अधिक धाराएँ थी जो बाद मे एक-दूसरे मे मिल गई और वीर-शैव सिद्धात का एकमात्र सम्प्रदाय मानी जाने लगी। बसव के वचनो से बसव द्वारा प्रतिपादित मत के वास्तविक दार्शनिक महत्व का मूल्याकन करना कठिन है। प्रभुलिग-लीला तथा बसव-पुराण मे हमे एक ऐसी विचार-प्रणाली मिलती है जिसको कि अन्य समर्थक सामग्री की अनुपस्थिति मे, बसव के समय मे वीर-शैवमत के नाम से ज्ञात विचार-प्रणाली का प्राय. रेखाकन करने वाला माना जा सकता है।

हम देखते है कि स्थल तथा लिग-धारण के सिद्धात प्रभुलिग-लीला के लेखक को ज्ञात थे। परतु, यद्यपि एक स्थान पर, जहाँ अल्लम प्रभु बसव को शिक्षा दे रहे हैं, षट्स्थल का उल्लेख है, तथापि सम्पूर्ण पुस्तक मे सम्पूर्ण बल सत्ता के आधार शिव से (जीव) आत्मा की एकता के सिद्धात पर है।[2] उपरोक्त गद्याश मे यह माना गया है

---

[1] अन श्रीकर भाष्य २-२-३७, पृ० २३६, तथा ३-३-१, पृ० ३४७ मे श्रीपति के कथन स यह प्रतीत होता है कि रेवणसिद्ध, मरुलसिद्ध, रामसिद्ध, उद्‌भटाराध्य, वेमनाराध्य वास्तविक आचार्य थे जिन्होने अपने विचार अथवा विश्वास के सिद्धातो को किन्ही विशेष रचनाओ मे व्यक्त किया था। परतु दुर्भाग्य मे ऐसी रचनाओ का कुछ भी चिह्न नही खोजा जा सका है, न ही उनके द्वारा प्रतिपादित उनके साक्षात् विचारो का वर्णन ही सभव है। यह केवल अनुमान का ही विषय है कि श्रीपति ने स्वय उन्हे देखा था अथवा नही। वह उन आचार्यों की रचनाओ से उद्धरण नही देते हैं तथा यह पूर्णतया सभव हो सकता है कि वे केवल परम्परा के आधार पर ही कथन कर रहे हो। अन्य गद्याश (२-१-४) मे श्रीपति मनु, वामदेव, अगस्त्य, दुर्वासा, उपमन्यु के नाम का उल्लेख करते हैं जो रेवणसिद्ध तथा मरुलसिद्ध के साथ पूर्णत देवशास्त्रीय पौराणिक चरित्र हैं।

[2] देखिए—प्रभुलिंगलीला, अध्याय १६, पृ० १३२-४।

कि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण से संबंधित दोहरी गांठ है जिसके अनुसार एक-एक जोड़े वाले तीन वर्गों मे छ स्थल हैं। इस प्रकार स्थूल से सयोजित दो गाठें, भक्त तथा महेश्वर के नाम से जानी जाती हैं। सूक्ष्म के साथ, प्रारभ से सयोजित प्राण तथा प्रसादलिंग स्थल कहलाते हैं। जो कारण के साथ हैं वे भावात्मक रूप के हैं तथा शरण एव ऐक्यस्थल कहलाते है। अन्य रचनाओं जैसे बसवराजीय, वीर शैवागम तथा सिद्धात शिखामणि में स्थलो के नामो की सख्या १०१ तक पहुँच गई है। किन्तु इनमें से किसी भी रचना में उनका दार्शनिक महत्व दर्शाने के लिए भिन्न स्थलो के विचार की व्याख्या नही की गई है। प्रभुलिंग-लीला मे हम सुनते हैं कि चन्नबसव षट्स्थल का रहस्य जानते थे परतु हम यह नही जानते कि वास्तव मे वह रहस्य क्या था। इस सबध में गुरु, लिंग, चर, प्रसाद तथा पादोदक का भी उल्लेख है। पुस्तक मे सम्पूर्ण प्रमुखता आत्मा तथा अन्य किसी भी वस्तु की शिव से एक रूपता का साक्षात्कार करने की आवश्यकता पर दी गई है। वल्लभ बाह्य कर्मकाडो की निन्दा करते है तथा विश्व की अनत सत्ता एव आत्मा का शिव से साक्षात्कार करने की आवश्यकता पर बल देते है। वे प्राणी जीवन के प्रति सब प्रकार की क्षति की अत्यधिक निन्दा करते है तथा गोग को पृथ्वी पर हल जोतने को त्यागने के लिए विवश करते है क्योंकि इससे अनेक कीटों की हत्या होगी। अल्लम पुन गोग को अपने समग्र कमफलों का ईश्वर को समर्पित करने तथा राग रहित कर्तव्य करने की शिक्षा देते है। वास्तव मे अल्लम द्वारा प्रतिपादित वीर-शैवविचार, शकर के दर्शन से कदाचित् ही विभिन्न किया जा सकता है, क्योंकि अल्लम ने एक सत्ता स्वीकार की जो माया तथा अविद्या की उपाधि के अन्तर्गत पृथक् आकारो मे प्रदर्शित हुई। इस अर्थ मे सपूर्ण ससार का एक भ्रम होगा। अल्लम द्वारा आदेशित भक्ति भी बौद्धिक स्वरूप की है, जिसके अतर्गत निरतर अविचल चिंतन तथा सब वस्तुओ की अतिम सत्ता का शिव मे साक्षात्कार करना है। भक्ति का यह विचार-सिद्धात शिखामणि के लेखक रेणुकाचार्य को प्रभावित करता प्रतीत होता है, जिन्होने अतरभक्ति का लगभग इन्ही शब्दो मे वर्णन किया है।[1]

---

[1] लिंगे प्राण समाधाय प्राणे लिंग तु साम्भवम्
स्वस्थ मनस्तथा कृत्वा न किंचिच्चिन्तयेद्यदि।
साभ्यन्तरा भक्तिरिति प्रोच्यते शिव योगिभि,
सा यस्मिन् वर्तते तस्य जीवन भ्रष्टवीजवत्।
—सिद्धात शिखामणि अध्याय ६, पद्य ८–९।

तत सावधानेन तत्प्राण लिंगे,
समीकृत्य कृत्यानि विस्मृत्य मत्या,
महायोग–साम्राज्य–पट्टाभिषिक्तो
भजेदात्मनो लिंगतादात्म्य–सिद्धिम्– —प्रभुलिंग लीला अध्याय १९, पृ० ६३।

मुक्ताई से अपने उपदेश मे अल्लम कहते हैं कि जिस प्रकार एक दूध पीते बालक को मा के दूध से छुड़ाकर अनेक प्रकार के भोजन दिए जाते हैं, उसी प्रकार वास्तविक शिक्षक, भक्त को बाह्य प्रकार की पूजा मे ध्यान केन्द्रित करने की शिक्षा देता है तथा बाद मे उनको छुड़वा देता है, जिससे अंत में वह सब प्रकार के कर्त्तव्यो से विरक्त हो जाता है, तथा सत्य-ज्ञान प्राप्त करता है जिससे उसके सब कर्म नष्ट हो जाते है। यहाँ अध्ययन तथा व्याख्यान का यथेष्ठ उपयोग नही है परतु सबका शिव से तादात्म्य का साक्षात्कार करना आवश्यक है।[1]

सिद्धराम तथा गोरक्ष से अपने वार्त्तालाप में, वह केवल शिव के अतिरिक्त सब वस्तुओ का अभाव ही प्रदर्शित नही करते वरन् एक प्रकार के जादूपूर्ण याग से अपना परिचय बताते है, जिसका विस्तृत वर्णन नही दिया है, तथा पतजलि के योगशास्त्र मे भी नही मिल सका है। अपने शिष्य बसव को आदेश मे अल्लम ने भक्ति, षठ्स्थल तथा योग के स्वरूप की सक्षिप्त व्याख्या की है। ऐसा प्रतीत होता है कि योग द्वारा प्राप्त शातिपूर्ण निष्क्रियता अन्य कुछ नही वरन् केवल भिन्न प्रकार के अनुभवो तथा एक पूर्ण व्यक्ति के रूप मे हमारे जीवन के अनुभव के साथ-साथ परम सत्य शिव से सपूर्ण तथा स्थिर अभिन्नता है। यह योग जो परम तादात्म्य की ओर प्रवृत्त करता है, शरीर के स्नायुसस्थान की सब जीव सबधी क्रियाओं को उच्च एव उच्च स्तर पर रोकने से, जब तक शक्तिया महान् सत्ता (भगवान शिव) से एक न हो जाए, किया जा सकता है। इस प्रकार जब तक योगी शिव मे स्थिर नही हो जाता, चक्र घूमते तथा चलते रहते हैं। सम्पूर्ण भौतिक क्रिया, विशेष योग विधि द्वारा रोक दी जाती है, हमारा चित्त भटकता अथवा परिवर्तित नही होता वरन् शुद्ध भगवान शिव की चेतना मे स्थिर रहता है।

बसव के शिक्षक अल्लम कहते है कि प्राणशक्ति-वायु को पूर्ण रूप से रोककर, प्रबल प्रयत्न से चित्त को स्थिर किए बिना भक्ति नही हो सकती, तथा बधन से मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। प्राण शक्ति अथवा वायु को रोकने से ही वीर-शैव का चित्त रुक जाता है तथा शरीर के भौतिक मूल तत्वों, जैसे अग्नि, जल आदि मे मिश्रित हो जाता है। माया मनस की उत्पत्ति है तथा वायु भी मनस की उत्पत्ति मानी जाती है तथा यह वायु, मनस की क्रिया द्वारा शरीर बन जाती है। शरीर का अस्तित्व केवल वायु की क्रिया द्वारा ही सभव है जो हमे शिव के साथ सब वस्तुओं की एकता का साक्षात्कार करने से, जो भक्ति भी कहलाती है, दूर रखता है। अत वीर-शैव को वायु की साधारण क्रिया की, उन्हे एक बिन्दु पर केन्द्रित करके तथा वायु की भिन्न चक्रो अथवा स्नायु-ततु-जाल से श्रेष्ठता स्वीकार कर, विरुद्ध क्रिया का सहारा लेना

[1] देखिए प्रभुलिंग लीला, अध्याय १२, पृ० ५७–८।

पड़ता है, (शास्त्रीय भाषा मे जो छः चक्रों पर नियन्त्रण के रूप में ज्ञात है), जो स्वय में ही वायु के नियन्त्रण की क्रिया की अवस्थाएँ अथवा स्थल, षट्स्थल माने गए हैं।[1] इस प्रकार देखा गया है कि प्रभुलिंग लीला मे दिए हुए षट्स्थल के सिद्धात के वर्णन के अनुसार षट्स्थल की क्रिया स्थलो के एक समूह से होती हुई ऊपर की ओर जाने वाली यात्रा के समान मानी जाएगी तथा केवल इसी के द्वारा शिव से तादात्म्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। योग की इस शक्तिपूर्ण क्रिया का आदेश एक अर्ध-शारीरिक क्रिया की व्यावहारिक विधि है जिससे ईश्वर तथा आत्मा के परम तादात्म्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। शकर के अद्वैत दर्शन मे यह कहा गया है कि ब्रह्मन् से आत्मा के परम तादात्म्य का साक्षात्कार प्राप्त करना, योग्य जीवन का उच्चतम लक्ष्य है। किन्तु यह कहा गया है कि ऐसे ज्ञान का साक्षात्कार अद्वैत मूल सूत्रों जैसे "तत्त्वमसि" के महत्व की उचित अनुभूति द्वारा हो सकता है। यह किसी ऐसे शक्तिपूर्ण अभ्यास को अस्वीकार करता है जिसे अल्लम द्वारा शिक्षित वीर-शैव के षट्स्थल सिद्धात मे बहुत प्रबलता से आदेशित किया गया है।

अल्लम अपनी एक यात्रा मे गोरक्ष से मिले थे। गोरक्ष ने भी जो सभवत शैव थे, अपनी यौगिक क्रियाओ द्वारा ऐसी चमत्कारपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त कर ली थी कि किसी भी शास्त्र के प्रहार का उन पर आघात नही हो सकता था। उन्होने इसका प्रदर्शन अल्लम को दिखाया था। इसके उत्तर मे अल्लम ने अपने शरीर मे एक ओर से दूसरी ओर तलवार निकालने के लिए उनसे कहा। परतु गोरक्ष को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जब उन्होने अल्लम के शरीर के भीतर अपनी तलवार डाली तब उसके आघात का शब्द भी नही हुआ। अल्लम के शरीर से तलवार इस प्रकार निकली जैसे वह रिक्त स्थान मे से निकल रही हो। गोरक्ष ने बहुत नम्रतापूर्वक वह रहस्य ज्ञात करना चाहा, जिससे कि अल्लम ऐसी चमत्कारपूर्ण शक्ति का प्रदर्शन कर सके। इसके उत्तर मे अल्लम ने कहा कि शरीर के समान माया जम जाती है तथा जब माया व शरीर दोनो जम जाते है तब छायारूप आकर वास्तविक प्रतीत होने लगते है।[2] तथा शरीर व चित्त एक प्रतीत होते है। जब शरीर तथा माया हृदय मे हटा दिए जाते है तब प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है। इस पर गोरक्ष ने अल्लम से पुन आग्रह किया कि वह उन्हे शक्तियो की दीक्षा द। अल्लम ने उनके शरीर का स्पर्श किया तथा उन्हे आशीर्वाद दिया परिणामस्वरूप एक आनरिक परिवर्तने उत्पन्न हुआ। इसके प्रभाव से राग नष्ट हो गया तथा राग नष्ट होने से घृणा, अहकार तथा अन्य दोष भी नष्ट हो गए। अल्लम ने पुन यह कहा कि जब तक आत्मा यह नही अनुभव

---

[1] प्रभुलिंग लीला भाग ३, पृ० ६–८ (प्रथम प्रकाशन)।

[2] वही, पृ० ५५ (प्रथम प्रकाशन)।

कर लेती कि शरीर सबध असत्य है तथा दोनो पूर्ण रूप से पृथक् हैं, तब तक उन भगवान शिव से वास्तविक तादात्म्य का अनुभव नही हो सकता, जिसके प्रति भक्ति समग्र सत्य-ज्ञान का कारण है। शिव के निरतर चितन तथा प्राणायाम की उचित विधि द्वारा ही परम एकता का साक्षात्कार समव है।

षट्स्थल की शक्तिपूर्ण क्रिया को उचित तथा व्यावहारिक रूप मे ग्रहण करने तथा शकर द्वारा आदेशित अभिन्नता के साक्षात्कार मे एक सूक्ष्म अतर है। शकर वेदात मे, जब अनुरूप सहायक क्रियाओ द्वारा चित्त उचित रूप से तैयार हो जाता है तब गुरु, शिष्य अथवा होने वाले सत को आत्मा तथा ब्रह्मन् की अभिन्नता के परम ज्ञान के विषय मे उपदेश देता है तथा होने वाला सत केवल एक ही सत्ता ब्रह्मन् से, अपने तादात्म्य के सत्य का प्रत्यक्षीकरण कर लेता है। वह यह भी तुरत प्रत्यक्ष कर लेता है कि द्वैत का सब ज्ञान असत्य है। यद्यपि वह अपने को शुद्धचित्त अथवा ब्रह्मन् की शून्यता मे वास्तविक रूप मे परिवर्तित नही करता है। वीरशैव-प्रणाली मे षट्स्थल की योजना यौगिक क्रियाओ के सपादन की योजना है। इनके द्वारा भिन्न प्राण-शक्तियो तथा स्नायु चक्र से सयोजित प्राण-क्रियाओ का नियत्रण होता है तथा इसी विधि द्वारा योगी अपनी वासनाओ को नियत्रित कर लेता है तथा तब तक नई एव उन्नत ज्ञान की अवस्थाओ से परिचित कराया जाता है जब तक उसकी आत्मा नित्य सत्ता शिव से इस प्रकार एक रूप नही हो जाती कि तथ्य तथा विचार दोनो मे द्वैत तथा मिथ्याभास नष्ट हो जाए। इस प्रकार एक सफल वीर शैव सत को केवल शिव से अपने तादात्म्य का ज्ञान ही नही करना चाहिए वरन् उसके समस्त शरीर का (जो सत्ता का आभास अथवा प्रतिबिम्ब था) अस्तित्व समाप्त हो जाना चाहिए। उसका प्रगट शरीर ससार मे भौतिक तथ्य नही होगा इससे अन्य भौतिक पदार्थों से भी कोई सघात सभव नही होगा, यद्यपि बाह्य रूप मे वे भौतिक पदार्थ प्रतीत हो सकते है।

एक समान दार्शनिक विचार, 'सिद्ध सिद्धात-पद्धति' नामक एक रचना मे पाया जा सकता है जो गोरक्ष कृत कही जाती है, जो स्वय शिव के अवतार एक शैव सत माने जाते हैं। उनके विषय मे अनेक आख्यान हैं तथा उनके व उनके शिष्य की चमत्कारपूर्ण क्रियाओ तथा कार्यों की प्रशसा मे बगला तथा हिन्दी भाषा मे अनेक कविताएँ रची गई हैं। उनका काल अनिश्चित है। आठवी से पद्रहवी शताब्दी तक के लेखको मे गोरक्ष के उल्लेख मिलते है तथा गुजरात, नैपाल, बगाल तथा अन्य उत्तरी पश्चिमी भारत के भागो मे उनके चमत्कारपूर्ण क्रियाओ के करने का वर्णन है। उनके एक प्रसिद्ध शिष्य का नाम मत्स्येद्रनाथ था। शिव पशुओ के भगवान, पशुपति कहलाते है तथा गोरक्ष का अर्थ भी पशुओ का रक्षक है। कोष मे 'गो' का अर्थ एक ऋषि के नाम से तथा पशु के नाम से भी है। अत गोरक्ष तथा पशुपति शब्दो मे

एक सुगम सहचार है। गोरक्ष के विचार वही माने जाते है जो कि सिद्धांत के हैं। यह हमे इस तथ्य का स्मरण कराता है कि दक्षिण के शैव सिद्धात 'सिद्धात' मे महेश्वर अथवा शिव द्वारा प्रतिपादित माने जाते हैं, जिसका विस्तृत वर्णन सिद्धातो के आगम-दर्शन के रूप मे, इस रचना मे अन्य स्थान पर दिया हुआ है। गोरक्षनाथ के उपदेशो के दार्शनिक पक्ष पर केवल कुछ ही सस्कृत पुस्तके हमको प्राप्त हैं। किन्तु स्थानीय भाषाओ मे अनेक पुस्तकें हैं जो कि गोरक्षनाथ (जो गोरखनाथ भी कहलाते हैं) के सप्रदाय के कानफटायोगियो की चमत्कारपूर्ण अद्भुत शक्तियो का वर्णन करती हैं।

इनमे से एक सस्कृत रचना 'सिद्ध-सिद्धात-पद्धति' कहलाती है। यहा पर अचल की परम सत्ता तथा शुद्ध चैतन्य का वह स्थिर स्वरूप देखा जा सकता है जो हमारे आतरिक तथा बाह्य अनुभवो का अनत आधार है। यह कभी उत्पन्न अथवा नष्ट नहीं होता तथा उस अर्थ मे नित्य तथा सदैव स्वय प्रकाश है। इस प्रकार यह उस साधारण ज्ञान से भिन्न है, जो बुद्धि कहलाता है। साधारण ज्ञान का उदय तथा अस्त होता रहता है परतु यह शुद्ध चैतन्य, जो शिव से एकरूप है, समस्त घटनाओ तथा काल से परे है। अत यह सब वस्तुओ का आधार माना जाता है। इसी से समस्त कार्य, उदाहरणार्थ शरीर, करण (इन्द्रिय), कर्त्ता तथा आत्माए अथवा जीव उत्पन्न होते हैं। इसी की स्वच्छदता से तथाकथित ईश्वर तथा उसकी शक्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रारभिक अवस्था मे शिव अपने को अपनी शक्ति से अभिन्न प्रदर्शित करते हैं। यह सामरस्य कहलाता है अर्थात् दोनो का एक ही रस होना। यह परम स्वरूप मूल अहम् है (जो कुल भी कहलाता है), जो अपने को भिन्न रूपो में प्रदर्शित करता है। हमे सत्ता के इस अनन्त स्वरूप को, जो अपरिवर्तनशील है, उस सत्ता से विभिन्न करना है जो जाति प्रत्यय तथा अन्य विभिन्न लक्षणो से सबधित है। यह विभिन्न लक्षण महान् सत्ता मे भी रहते हैं, क्योकि अनुभव की समस्त अवस्थाओ मे अनत सत्ता के अतिरिक्त इन विभिन्न लक्षणो की कोई सत्ता नही है, जो सबको शुद्ध चैतन्य की ऐक्यता मे आश्रय देती है। क्योकि इन विभिन्न गुणो की अपने से परे अपरिवर्तनशील आधार की तुलना मे कोई सत्ता नही, अत अत मे उन्हे सर्वव्याप्त सत्ता से समरस मानना होगा।

समरस का प्रत्यय एकरसता है। एक वस्तु जो अन्य वस्तु से भिन्न प्रगट होती है, किन्तु जो वास्तविकता अथवा साररूप से वही है, वह प्रथम समरस कहलाती है। यह भी वही विधि है जिससे सत्ता तथा आभास के भेदाभेद सिद्धात की व्याख्या की है। जिस प्रकार जल की एक बिन्दु जल के उस विस्तार से भिन्न प्रतीत होती है जिसमे वह रहती है परन्तु वास्तव मे उसकी कोई भिन्न सत्ता नही है तथा जल के विस्तार से भिन्न स्वाद नही है। परम सत्ता अपना स्वरूप नष्ट किए बिना, अपने को

भिन्न रूपो में प्रदर्शित करती है यद्यपि उन सबमें अथवा उनके द्वारा केवल वही परम सत्ता के रूप मे रहती है। यही कारण है कि यद्यपि परम सत्ता सब शक्तियो से प्रदत्त है तथापि यह अपना प्रदर्शन भिन्न अभिव्यक्त रूपो के अतिरिक्त नहीं करती है। इस प्रकार सर्वशक्तिमान शिव यद्यपि समस्त शक्तियां का उद्गम है, तथापि वह इस प्रकार व्यवहार करता है जैसे शक्ति रहित हो। अत यह शक्ति शरीर में सदा जाग्रत कु डलिनी शक्ति के रूप मे तथा भिन्न आकारो में भी अभिव्यक्त होती है। शरीर का अनश्वर समझना 'कार्यसिद्धि' कहलाता है।

'सिद्ध-सिद्धात-पद्धति' मे दिए हुए गोरक्ष के दार्शनिक विचारों की व्याख्या के अधिक विस्तार मे जाने की हमें आवश्यकता नही क्योकि ऐसा करने से विषयांतर हो जाएगा। परतु हमे हठयोग अर्थात् नाडी चक्र के नियत्रण का आश्चर्यजनक सयोग जीव तथा ससार का एक समान सत्ता होने के विचार से (यद्यपि वे भिन्न प्रतीत होते हैं) मिलता है जैसा हमे प्रभुलिग-लीला के उस व्याख्यान मे मिलता है, जो अल्लम प्रदत्त माना गया है। यह एक प्रकार का भेदाभेद का सिद्धान्त भी मानता है तथा शकर द्वारा उपस्थित उपनिषदो की व्याख्या का विशेष विरोधी है।

षट्स्थल का विचार अवश्य ही या तो पृथक् सिद्धात के रूप मे अथवा शैवमत के किसी प्रकार के अश के रूप मे प्रचलित होगा। हम जानते है कि शैव मत के अनेक सप्रदाय थे जिनमे से अनेक अब लुप्त हो गए है। षट्स्थल का नाम किसी भी धार्मिक सस्कृत रचना मे नही मिल सकता है। सिद्धात शिखामणि से पूर्व हमारे पास वीर शैव मत का कोई विवरण नही है। रचनाओं में इसका वर्णन मिलता है जिनमे से अत्यत महत्वपूर्ण मे से कुछ 'प्रभुलिग-लीला' तथा 'बसव-पुराण' है। हम यह भी सुनते हैं कि बसव के भतीजे चन्न बसव को षट्स्थल के सिद्धात की दीक्षा दी गई थी। प्रभुलिग लीला मे हम देखते हैं कि अल्लम ने षट्स्थल सिद्धात की शिक्षा बसव को दी थी। प्रभुलिग-लीला मे हम अल्लम तथा गोरक्ष के मध्य एक रोचक सवाद भी पाते हैं। गोरक्ष के 'सिद्ध-सिद्धात-पद्धति' की विषय-सूची का भी हमने सक्षिप्त परीक्षण किया है तथा हम यह देखते है कि अल्लम द्वारा उपदिष्ट षट्स्थल का सिद्धात 'सिद्ध-सिद्धात-पद्धति' मे प्राप्त योग सिद्धात के लगभग समान है। यदि हमारे पास अधिक स्थान होता तो अल्लम तथा गोरक्ष के सिद्धातो की रोचक तुलना देते। यह असभव नही है कि गोरक्ष तथा अल्लम के विचारो का परस्पर विनिमय हुआ हो। दुर्भाग्य से गोरक्ष का काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सकता, यद्यपि यह ज्ञात है कि उनके सिद्धात मध्यकाल मे लम्बी अवधि तक भारत के भिन्न भागो में बहुत दूर तक विस्तृत थे।

षट्स्थल की व्याख्या करने वाली भिन्न रचनाओं मे इस (षट्स्थल) की व्याख्या भिन्न हैं। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि बसव के पश्चात् षट्स्थल का सिद्धात

वीरशैव-मत का अत्यत महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता था तथापि षट्स्थल क्या हो सकता था, इसके विषय मे हम सब भ्रम मे हैं। सत्य तो यह है कि हम सख्या के विषय में भी निश्चित नहीं है। जिस प्रकार कि वीरशैव-सिद्धान्त मे १०१ स्थलों का उल्लेख है तथा इसी प्रकार 'सिद्धात-शिखामणि' में भी है। परतु अन्य स्थानो, जैसे श्रीपति के भाष्य, मायिदेव के 'अनुभवसूत्र' तथा 'प्रभुलिग-लीला' एव 'बसव-पुराण' मे हम केवल छ स्थलो का ही उल्लेख पाते हैं।

इसी प्रकार विभिन्न प्रमाणित रचनाओ मे स्थल समान नही हैं। इन स्थलो के विचार भी भिन्न हैं। कभी-कभी वे भिन्न अर्थ मे उपयोग किए गए हैं। कुछ रचनाओ में स्थल का उपयोग शरीर के छ नाडी चक्र के निर्देश के लिए हुआ है अथवा उन छ केन्द्रो के लिए, जिनसे ईश्वर की शक्ति भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होती है। कभी कभी उनका उपयोग ईश्वर की छ गौरवपूर्ण शक्तियो के निर्देश के लिए हुआ है, तथा कभी मुख्य प्राकृतिक तत्वो से जैसे पृथ्वी, अग्नि, जल आदि के निर्देश के लिए हुआ है। सम्पूर्ण भाव ऐसा प्रतीत होता है कि समष्टि विश्व तथा व्यष्टि का सूक्ष्म दर्शन अभिन्न सत्ताए होने के कारण, किसी केन्द्र की दुष्चरित्र शक्तियो का नियत्रण सभव है तथा शक्ति की अभिव्यक्ति के अधिक शक्ति केन्द्रित बिन्दु की ओर जाया जा सकता है एव यह एक अवस्था से दूसरी पर, आरोहण की ऊर्ध्वगामी प्रक्रिया है।

मायिदेव का अनुभव-सूत्र[1]

प्रथम शिक्षक उपमन्यु का जन्म आईपुर मे हुआ था। द्वितीय शिक्षक भीमनाथ प्रभु थे। तत्पश्चात् महागुरु कालेश्वर आए। श्रौत तथा स्मार्त साहित्य तथा उनकी प्रथाओ व विधियो मे कुशल उनके पुत्र श्री बोप्पनाथ थे। बोप्पनाथ के पुत्र श्री नाकराज प्रभु थे जो वीरशैव-कर्मकाड तथा धर्म की प्रथाओ मे कुशल थे। नाकराज के शिष्य सगमेश्वर थे। सगमेश्वर के पुत्र मायिदेव थे। ये शिवाद्वैत के ज्ञान मे कुशल हैं तथा षट्स्थल ब्रह्मवादी हैं। शैवागम कामिक से आरम्भ होते हैं तथा वातुल से समाप्त होते हैं। वातुल तत्र अत्यत उत्तम है। दूसरे भाग (जो प्रदीप कहलाता है) के अतर्गत शिव सिद्धात तत्र है। षट्स्थल का सिद्धात प्राचीन विचारो के साथ गीता के सिद्धातो पर आधारित है। इसका समर्थन शिक्षको के उपदेशो तथा अनुभव के

---

[1] अनुभव-सूत्र, दो भागो मे पूर्ण 'शिव-सिद्धान्त-तत्र' का दूसरा भाग है। प्रथम भाग 'विशेषार्थ प्रकाशक' है। 'अनुभव-सूत्र' मायिदेव द्वारा लिखा हुआ है, यह अनुभव-सूत्र के परिशिष्ट से स्पष्ट है। इसका उल्लेख 'शिव-सिद्धान्त-तत्र' के अन्तिम परिशिष्ट मे भी है।

साक्षात्कार एव तर्क द्वारा किया गया है। अनुभव सूत्र में (१) गुरु परपरा (२) स्थल की परिभाषा (३) लिंगस्थल (४) अगस्थल (५) लिंग-सयोग-विधि (६) लिंगार्पण सद्भाव (७) सर्वांग-लिंग-साहित्य तथा (८) क्रिया विश्रांति हैं।

स्थल की परिभाषा एक ब्रह्मन् के रूप मे दी है जो सत्-चित् तथा आनद से अभिन्न ही है, जो ससार की अभिव्यक्ति तथा सहार के आधार शिव का परम तत्व कहलाता है। यह वह तत्व भी है, जिसमे से, महत् आदि भिन्न तत्व उत्पन्न हुए हैं। 'स्थ' का अर्थ है 'स्थान' तथा 'ल' का अर्थ है–'लय'। यह समस्त शक्तियो का उद्गम है तथा सब प्राणी इसमे से आए हैं तथा इसी मे वापिस जाएगे। इस परम तत्व को शक्ति के आत्म क्षोभ के कारण ही अन्य भिन्न स्थल विकसित होते हैं। यह एक स्थल, लिंग स्थल तथा अगस्थल मे विभाजित किया जा सकता है। जिस प्रकार रिक्त स्थान को कमरे के अदर के स्थान अथवा जलपात्र के अदर के स्थान का विशेष गुण दिया जा सकता है, उसी प्रकार स्थल का द्विविभाजन, पुजारी तथा पूजा का विषय प्रतीत हो सकता है।

शिव अपने मे अपरिवर्तनशील रहकर इन दो रूपो मे प्रगट होते हैं। एक ही शिव शुद्ध चित्त तथा लिंग के एक अग के रूप मे प्रगट होते हैं। लिंगाग जीव भी कहलाता है।

जैसे, स्थल, ब्रह्मन् तथा जीव दो भागो मे हैं वैसे ही उसकी शक्ति भी दोहरी है। वह निर्विकल्प है तथा महेश्वर कहलाता है। यह अपनी शुद्ध स्वेच्छा से दो रूप ग्रहण कर लेता है। इसका एक भाग लिंग अथवा ब्रह्मन् से सयोजित है तथा दूसरा अग अथवा जीव से। वास्तव मे शक्ति तथा भक्ति समान हैं।[1] जब शक्ति सृष्टि के लिए गतिशील होती है तब वह प्रवृत्ति के रूप मे शक्ति कहलाती है तथा अवरोध के रूप में निवृत्ति भक्ति कहलाती है।[2] भक्ति के अनेक रूप होने के कारण उसकी निर्विकल्पता का अवच्छेद भिन्न आकारों मे हो जाता है। शक्ति के दोहरे कार्य, उच्च तथा निम्न अपने को उस तथ्य मे प्रगट करते हैं कि उच्च, ससार की अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा निम्न, भक्ति के रूप मे ईश्वर मे वापस जाने की ओर प्रवृत्त होता है। वही इन दोहरे रूपो मे माया तथा भक्ति कहलाती है। लिंग मे शक्ति, भक्ति मे अग के रूप मे प्रगट होती है तथा जीव एव अग की ऐक्यता शिव तथा जीव की अभिन्नता है।

---

[1] शक्ति भक्तयोर्न भेदोऽस्ति। —अनुभव-सूत्र, पृ० ८।

[2] शक्त्या प्रपच सृष्टि स्यो,
भक्त्य तद्विलयोमत'। वही।

लिंग-स्थल तीन प्रकार के हैं जैसे, (१) भावलिंग (२) प्राणलिंग तथा (३) इष्टलिंग। भावलिंग केवल शुद्ध सत्ता की आंतरिक अनुभूति से ही जाना जा सकता है तथा भावलिंग निष्कल कहलाता है। प्राणलिंग विचार द्वारा समझी हुई सत्ता है अतः यह निर्विकल्प तथा सविकल्प दोनों है। इष्टलिंग वह है जो आत्म-साक्षात्कार अथवा भक्ति के रूप में किसी के शुभ की पूर्ति करता है तथा वह दिक् व काल से परे है।

अनंत शक्ति शुद्ध निर्भ्रान्त है तथा सबसे परे है, शान्त्यतीत है, इसके पश्चात् इच्छा शक्ति है जो शुद्ध ज्ञान के रूप में विद्या भी कहलाती है। तीसरी, क्रियाशक्ति कहलाती है, जो निवृत्ति की ओर ले जाती है। इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की तीन शक्तियाँ छः प्रकार की हो जाती हैं।

छः स्थलों का पुनः वर्णन निम्नलिखित रूप में हैं

(१) वह जो स्वयं में सम्पूर्ण रूप से पूर्ण, सूक्ष्म, अनादि, अनंत तथा अपरिभाषित है परन्तु शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति के रूप में केवल हृदय की अनुभूति समझा जा सकता है, महात्मलिंग कहलाता है।

(२) वह जिसे हम इन्द्रियों से परे शुद्ध चैतन्य के रूप में विकास का बीज पाते हैं जो सादाख्य तत्व भी कहलाता है, प्रसादघनलिंग कहलाता है।

(३) शुद्ध प्रकाशमान पुरुष जो बाह्याभ्यंतर भेद रहित है, आकार रहित है तथा आत्मन् के नाम से जाना जाता है चर लिंग कहलाता है।

(४) जब यह इच्छाशक्ति द्वारा स्वयं को अहंकार में अभिव्यक्त करता है, तब हमें शिवलिंग मिलता है।

(५) जब यह अपने ज्ञान, शक्ति तथा सर्वव्याप्ति द्वारा सब प्राणियों को समस्त सुखों के क्षेत्र के परे ले जाने के लिए गुरु का स्थान ग्रहण करता है, तब यह गुरुलिंग कहलाता है।

(६) इसका वह पक्ष जिसमें कि यह अपनी क्रिया द्वारा विश्व को आश्रय देता है तथा सबको अपने चित्त में रखता है, आचार लिंग कहलाता है।

इन स्थलों, अंगस्थलों के पुनः विभाग व उपविभाग हैं।

'अम्' से तात्पर्य है ब्रह्म तथा 'ग' से तात्पर्य है वह जो जाता है। अंगस्थल तीन प्रकार का है, जैसे, योगांग, भोगांग, त्यागांग। प्रथम में, मनुष्य शिव से संयोग का आनन्द प्राप्त करता है। द्वितीय भोगांग में मनुष्य शिव के साथ उपभोग अनुभव करता है तथा त्यागांग में मनुष्य भ्रम अथवा जन्म व पूर्वजन्म के असत्य विचार को त्याग देता है। योगांग मूल कारण है, भोगांग सूक्ष्म कारण है तथा त्यागांग भौतिक

कारण है। योगांग स्वप्नरहित अवस्था है, भोगांग साधारण सुप्तावस्था है तथा त्यागांग जागरण की अवस्था है। योगांग प्रज्ञा की, भोगांग तेजस की तथा त्यागांग विश्व की अवस्था है। योगांग शिव से ऐक्य तथा शरणस्थल कहलाता है। भोगांग दो प्रकार का है—प्राणलिंगी तथा प्रसादी। स्थूल भी दो प्रकार का है—भक्त-स्थल तथा महेश्वर-स्थल। पुन प्रज्ञा ऐक्यस्थल तथा शरणस्थल है। तेजस, प्राणलिंगी तथा प्रसादी है। विश्व पुन महेश्वर तथा भक्तस्थल के रूप मे दो प्रकार का है। ऐक्य शरण, प्राणलिंगी, प्रसादि, माहेश्वर तथा भक्त क्रमानुसार छ स्थल माने जा सकते हैं।

पुन सर्वशक्तिमत्ता सतोष तथा अनादि चेतना, स्वतत्रता, शक्ति की अनवरुद्धता तथा अनत शक्ति—ये ईश्वर के अश है जो षट्स्थल मे होने के कारण भिन्न उपाधियो पर आधारित छ प्रकार की भक्ति के रूप मे माने जाते है। भक्ति अपने को अनेक रूपो मे अभिव्यक्त करती है, जिस प्रकार भिन्न फलो मे जल भिन्न स्वादो मे अभिव्यक्त होता है। भक्ति शिव के स्वरूप की है। तब यह आनन्दस्वरूप है। पुन, यह अनुभव स्वरूप है तथा वह नैष्ठिकी के स्वरूप की और छठी अच्छे व्यक्तियो मे भक्ति के स्वरूप की है। आगे यह कहा गया है कि यह समस्त वर्गीकरण निरर्थक है। मेरा तथा प्रत्येक वस्तु का तादात्म्य सत्य है, अन्य सब असत्य है—वह ऐक्यस्थल है। ज्ञान के स्वय प्रकाश द्वारा, ईश्वर से सयुक्त होने के कारण, शरीर तथा इन्द्रियाँ आकार रहित प्रतीत होती हैं, जब प्रत्येक वस्तु शुद्ध प्रतीत होती है, वह शरणस्थल कहलाता है जब कोई समस्त भ्रमो का अथवा शरीर आदि के विषय मे दोषो का परिहार करता है तथा कल्पना करता है कि वह लिंग के साथ एक है, तब वह प्राणलिंग अथवा चर-स्थल कहलाता है। जब कोई सुख के सब पदार्थों को ईश्वर को समर्पित कर देता है, वह प्रसाद-स्थल कहलाता है तथा जब कोई ईश्वर से एक होने के रूप मे अपनी बुद्धि ईश्वर पर केन्द्रित कर लेता है तब वह माहेश्वर-स्थल कहलाता है। जब असत्य सत्य प्रतीत होता है तथा जब चित्त भक्ति की आराधना-क्रिया द्वारा उससे विरक्त हो जाता है तब व्यक्ति ससार से विरक्त हो जाता है, यह भक्ति-स्थल कहलाता है। इस प्रकार हमारे पास अन्य छ प्रकार के षट्स्थल हैं।

पुन, अन्य दृष्टिकोण से हमारे पास षट्स्थल का एक अन्य वर्णन है, जैसेकि आत्मा से आकाश का विकास, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी का विकास होता है। पुन, आत्मन् तथा ब्रह्मन् की ऐक्यता व्योमांग कहलाती है। प्राणलिंग, वायवांग कहलाता है तथा प्रसाद अनलांग, तथा महेश्वर, जलांग कहलाता है एव भक्त भूम्यंग कहलाता है। पुन, बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है और नाद से कला उत्पन्न होती है तथा इसके विपरीत, कला से बिन्दु तक जाया जा सकता है।

वैष्णवों के असदृश, अनुभवसूत्र भक्ति का उस अनुराग के रूप मे वर्णन नहीं करता है, जिसमे पुजारी तथा पूजक के मध्य द्वैत भावना हो, वरन् प्रबल शब्दो मे ईश्वर से शुद्ध ऐक्यता अथवा तादात्म्य के प्रकाशन के रूप मे वर्णन करता है। इसका यह अर्थ है तथा वास्तव में यह विशेष रूप से कहा गया है कि पूजा के वे सब कर्मकाण्डी रूप जिनमे द्वैतावस्था है, केवल काल्पनिक रचनाए हैं। अपनी लीलामय भावना में भगवान अनेक रूप ग्रहण कर सकते हैं परन्तु भक्ति के प्रकाश को यह व्यक्त करना चाहिए कि वे सब उससे एक हैं।

—॥—

अध्याय ३६

श्रीकंठ का दर्शन

श्रीकंठ की ब्रह्मसूत्र पर टीका तथा उस पर अप्पयदीक्षित की उपटीका में श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित शैवमत का दर्शन

परिचय

प्रस्तुत रचना के पिछले भागो मे प्राय कहा गया है कि बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र उन अनेक प्राचीन उपनिषदो मे, जो भारतीय दर्शन के अनेक आस्तिक सप्रदायो के विचारो के आधार का निर्माण करते है, प्राप्त विभिन्न विचारधाराओ को प्रकट रूप मे क्रमबद्ध करने का प्रयत्न है। भिन्न विचारधाराओ के प्रतिपादको ने ब्रह्मसूत्र की भिन्न प्रकार से व्याख्या की है, उदाहरणार्थ, शकर, रामानुज, भास्कर, माधव, वल्लभ आदि। इन सबका विवरण प्रस्तुतत रचना के पिछले भागो मे दिया जा चुका है। वेदात का मौलिक अर्थ है, उपनिषदो की शिक्षाए। फलस्वरूप ब्रह्मसूत्र उपनिषदीय ज्ञान की क्रमबद्धता है तथा विभिन्न दार्शनिक विचारो के भिन्न प्रतिपादको द्वारा विभिन्न प्रकारो मे इसकी अनेक व्याख्याए, सभी वेदात के नाम से ज्ञात हैं, यद्यपि एक सप्रदाय के विचारको का वेदातदर्शन किसी भी अन्य सप्रदाय से विशेषत भिन्न प्रतीत हो सकता है। जिस प्रकार, जबकि शकर द्वारा ब्रह्मसूत्र का स्पष्टीकरण अद्वैत है, माधव की व्याख्या स्पष्ट रूप से अनेकवादी है। प्रस्तुत रचना के चतुर्थ भाग मे हमने शताब्दियो मे विस्तृत दानो विचारधाराओ के प्रतिपादको के मध्य प्रतिवाद की तीव्रता देखी।

क्योकि श्रीकठ ने अपने विचारो का प्रतिपादन ब्रह्मसूत्र की व्याख्या के रूप मे किया है तथा उनकी उपनिषदो के प्रति भक्ति तथा निष्ठा है, अत. इस रचना को वेदात की व्याख्या मानना होगा। वेदात की अनेक व्याख्याओ के सादृश (उदाहरणार्थ रामानुज, माधव, वल्लभ अथवा निम्बारकर द्वारा) श्रीकठ का दर्शन, व्यक्तिगत आस्था से सबधित है, जहाँ ब्रह्मन् से समानता होने के कारण शिव को उच्चतम देव माना है। अत शैवमत के प्रमाणित स्पष्टीकरण के रूप मे इसकी माग की जा सकती है। शैवमत अथवा शैवदर्शन ने भी अनेक रूप ग्रहण किए थे जैसाकि सस्कृत रचनाओ तथा द्रविड भाषा की रचनाओ मे व्यक्त किया गया है, परन्तु प्रस्तुत रचना मे हमारी रुचि केवल सस्कृत रचनाओ मे शैवदर्शन के स्पष्टीकरण से है। प्रस्तुत लेखक की पहुच

मौलिक द्रविड साहित्य जैसे तमिल, तैलगु, कन्नड तक नही है तथा प्रस्तुत रचना की प्रस्तावित योजना के अन्तर्गत भारत की प्रादेशिक भाषाओ के साहित्य मे सामग्री सग्रह करना नही है।

अपनी टीका के परिचय मे श्रीकठ कहते हैं कि उनकी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या का लक्ष्य उसके उद्देश्य का स्पष्टीकरण करना है क्योकि पूर्व आचार्यों ने इसे अस्पष्ट कर दिया था।[1] हम यह नही जानते कि ये पूर्व शिक्षक कौन थे परतु शकर तथा श्रीकठ की टीकाओ की तुलना यह दिखाती है कि शकर उनके लक्ष्यो मे से एक थे। शकर के शैवमत पर विचार, सक्षेप में, उनकी ब्रह्मसूत्र २-२-३५-३८ पर टीका से प्राप्त किए जा सकते हैं तथा उनके शैवदर्शन पर विचार कुछ पौराणिक व्याख्याओ के अधिक अनुरूप हैं जो पूर्ण सभव है कि विज्ञान भिक्षु द्वारा इनकी विज्ञानामृत भाष्य नामक ब्रह्म-सूत्र की टीका तथा ईश्वर गीता पर कूर्म पुराण की टीका मे ले ली गई थी। शकर आठवी शताब्दी ई० मे किसी समय विद्यमान थे तथा उनका प्रमाण यह दिखाता है कि जिस प्रकार का शैवदर्शन उन्होने प्रतिपादित किया वह बादरायण को भली प्रकार ज्ञात था अत उन्होने खडन करने के लिए इसको ब्रह्मसूत्र मे सम्मिलित किया। इससे शैव-विचार-प्रणाली की महान् प्राचीनता ज्ञात होती है। पृथक् खड मे हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

शकर दक्षिण मे केरल प्रदेश के थे तथा वे अवश्य ही शैवदर्शन के कुछ लेखो अथवा शैवागमो से परिचित होगे। पर न तो शकर और न उनके टीकाकारो ने इनके नाम का उल्लेख किया है। परतु स्पष्ट है कि श्रीकठ ने कुछ शैवागमो का अनुकरण किया, जिनका प्रारभ पूर्वकाल मे शिव के अवतार श्वेत नामक व्यक्ति ने किया था, जिसका अनुकरण उसी सप्रदाय के अन्य शिक्षको ने अवश्य किया होगा तथा श्रीकठ के अपने प्रमाण के अनुसार अठाइस अवतार श्रीकठ से पूर्व विद्यमान थे जिन्होने शैवागम रचनाएँ लिखी थी। शिव महापुराण की वायवीय सहिता मे प्रारभिक शिक्षक श्वेत का उल्लेख भी है।[2]

मगलाचरण के श्लोक मे श्रीकठ, अहम् पदार्थ के रूप मे शिव की पूजा करते हैं। उप टीकाकार अप्पय दीक्षित (१५५० ई०) महाभारत का अनुकरण करते हुए शिव का चरित्र-चित्रण एक काल्पनिक रीति से मूल 'श' अर्थात् 'सकल्प' से शब्द व्युत्पन्न

---

[1] व्यास सूत्र इद नेत्र विदुषा ब्रह्मदर्शने।
पूर्वाचार्य. कलुषित, श्रीकठेन प्रसाद्यते।

—श्रीकठ भाष्य प्रारभिक पद्य ५।

[2] शिव-महापुराण, वायवीय-सहिता १-५-५ आदि।

वेंटेश्वर प्रेस, बम्बई १९२५।

करने का प्रयत्न करते है। इसका यह अर्थ है कि भगवान शिव का व्यक्तित्व शुद्ध अहम् के स्वरूप का है तथा उसकी इच्छा-शक्ति सदैव समग्र प्राणियो के श्रेय तथा आनद को कार्यान्वित करने में प्रवृत्त रहती है। यह अहम्, सत्-चित् तथा आनंद के रूप मे भी वर्णित है। आगे श्रीकठ कहते है कि उनकी टीका उपनिषद् तथा वेदांत की शिक्षाओ के सार की व्याख्या है और यह उनको आकर्षित करेगी जो शिव के भक्त हैं। श्रीकठ ने शिव का वर्णन एक ओर अहम् के तत्व के रूप मे किया है जो जीव के व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा उसी समय वे उसको शुद्ध सत्, चित् तथा आनद स्वरूप मानते हैं। उनका यह विचार है कि जीव का यह व्यक्तित्व केवल असीमित अर्थ मे ही शिव के असीम रूप से अभिन्न माना जा सकता है। इस पद्य पर टीका करते हुए अप्पय दीक्षित वैयक्तिक ईश्वर के रूप मे शिव के व्यक्तिगत पक्ष को प्रमुखता देने के लिए कुछ उपनिषदो के प्रमाण उद्धृत करते हैं।[1] साधारणत सत्-चित् आनद-रूपाय शब्द सत्, शुद्ध चित् तथा आनद की साकार ऐक्यता के अर्थ मे शकर के अद्वैत वेदात सप्रदाय के लेखो मे प्रयोग किया जाएगा। परन्तु इस प्रकार का अर्थ पूर्ण ईश्वरीय दर्शन के लिए उपयुक्त नही है। इस कारण अप्पय कहते है कि सत्-चित्-आनद शब्द महाईश्वर शिव के गुण है, तथा यह अतिम शब्द 'रूपाय' द्वारा निर्देशित होता है क्योंकि ब्रह्मन् स्वय अरूप है। सीमित जीव का शिव के असीम रूप मे विस्तार भी यह सूचित करता है कि जीव उसके (ब्रह्मन् के) साथ आनद तथा चित् के गुणो का उपभोग करता है। शकर की एक व्याख्या के अनुसार, जो व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह ब्रह्मन् अर्थात् सत्-चित्-आनद की ऐक्यता से एक हो जाता है। वह चित् अथवा आनद का उपभोग नही करता परतु वह उससे तुरत एक है। शकर तथा उनके सप्रदाय की प्रणाली मे ब्रह्मन् पूर्णरूप से निर्गुण तथा निर्विशेष है। रामानुज ब्रह्मसूत्र की अपनी टीका मे निर्गुण तथा निर्विशेष ब्रह्म के विचार का खडन करने का प्रयत्न करते है तथा ब्रह्म को अनत सख्या मे शुभ तथा हितैषी गुण एव धर्मो का निवास मानने है। यह सगुण ब्रह्मन् अर्थात् गुणयुक्त कहलाता है। श्रीकठ ने यही विचार भिन्न रूप मे प्रस्तावित किया है। पुराणो तथा कुछ प्राचीन सस्कृत साहित्य के अतिरिक्त सगुण ब्रह्मन् का विचार रामानुज के अतिरिक्त वर्तमान दार्शनिक साहित्य मे उपलब्ध नही है। कहा जाता है कि रामानुज ने बोधायन वृत्ति का अनुकरण किया किन्तु वह अब अप्राप्य है। अत यह प्रस्ताव किया जा सकता है कि श्रीकठ के भाष्य को प्रेरणा, बोधायन वृत्ति अथवा रामानुज या सरल ईश्वरीय विचार मानने वाले किसी भी शैवागम से मिली थी।

---

[1] आनमोऽह पदार्थाय लोकानां सिद्धिहेतवे,
सच्चिदानन्द रूपाय शिवाय परमात्मने।

—श्रीकठ द्वारा शिव की प्रारम्भिक स्तुति।

एक ओर भगवान शिव, महान् तथा अनुभवातीत देवता माने जाते हैं तथा दूसरी ओर, वह इस भौतिक विश्व के उपादान कारण माने जाते हैं, जिस प्रकार दही का उपादान कारण दूध है। स्वाभाविक है कि इससे कुछ आपत्तियां उत्पन्न होती हैं, क्योंकि महान् ईश्वर एक ही समय मे पूर्ण अनुभवातीत तथा साथ ही भौतिक विश्व की सृष्टि के लिए परिवर्तित होते हुए जिसको (विश्व) कि स्वय ईश्वर का स्वरूप मानना है, नही माना जा सकता। इस आपत्ति से बचने के लिए अप्पय, श्रीकठ के विचार का सक्षिप्त वर्णन करते हैं तथा अद्वैतवादी एव द्वैतवादी व्याख्याओ को इगित करते हुए उपनिषदो के मूल ग्रन्थो मे अनुरूपता लाने का प्रयत्न करते हैं। अत वह कहते हैं कि ईश्वर स्वय भौतिक विश्व के रूप मे रूपांतरित नही होता वरन् ईश्वर की शक्ति, जो स्वय को भौतिक विश्व के रूप मे अभिव्यक्ति करती है, ईश्वर के पूर्ण व्यक्तित्व का एक अश है। अत जड जगत् भ्रम अथवा ईश्वर का गुण (स्पिनोजा के अर्थ मे) नही माना जा सकता है, न ही यह ईश्वर का अंश अथवा अवयव माना जा सकता है जिससे कि विश्व की सब क्रियाए ईश्वर के सकल्प पर निर्भर है, जैसाकि रामानुज अपने विशिष्टाद्वैत के सिद्धात मे मानते हैं। श्रीकठ ईश्वर तथा विश्व के सबध के उस स्वरूप को भी नही मानते हैं जैसाकि लहरा अथवा फेन तथा समुद्र के मध्य होता है। लहरे अथवा फेन न तो समुद्र से भिन्न है और न एक, यह भास्कर का भेदाभेदवाद कहलाता है। यह भी ध्यान दिया जा सकता है कि श्रीकठ का यह विचार विज्ञान भिक्षु के उस विचार से पूर्णत भिन्न है जिसे उन्होने ब्रह्मसूत्र की टीका "विज्ञानामृत-भाष्य" मे व्यक्त किया है, जिसमे वह पुराणो मे भली-भांति प्रचलित इस विचार को स्थापित करना चाहते है कि, प्रकृति तथा पुरुष ईश्वर मे बाहर निवासित सत्ताए हैं तथा जिनका ईश्वर से सह अस्तित्व है, व ईश्वर द्वारा विश्व की उत्पत्ति के लिए, पुरुष के उपभाग तथा अनुभव के हेतुवादी उद्देश्य के लिए तथा अत मे पुरुषो को बधन से परे मोक्ष की ओर ले जाने के लिए क्रियान्वित करता है। यहा शकर की ब्रह्मसूत्र (२-२-३७) पर टीका की ओर सकेत करना अनुचित न होगा जहा वे एक शैव सिद्धात के खडन का प्रयत्न करते हैं, जो ईश्वर को निमित्त कारण मानता है, जो विश्व के निर्माण के लिए प्रकृति का रूपान्तर करता है—यह विचार उस विचार के लगभग समान है जो विज्ञान भिक्षु के "विज्ञानामृत भाष्य" मे मिलता है। यह शैव विचार, श्रीकठ द्वारा व्यक्त, शैव विचार से पूर्ण रूप से भिन्न प्रतीत हुआ है, जो स्पष्ट रूप से श्वेत से प्रारम्भ हुए अट्ठाईस, योगाचार्यों की परम्परा पर आधारित है। महान् वैयक्तिक ईश्वर भगवान् शिव हमारी कामनाओ अथवा कल्याणकारी अभिलाषाओ की पूर्ति करते हुए माने जाते हैं। यह विचार अप्पय द्वारा उनकी 'शिव' शब्द की किंचित काल्पनिक शब्द व्युत्पत्ति मूल 'वश' तथा 'शिव' शब्द अर्थात् 'शुभ' से दोहरी शब्द-व्युत्पत्ति मे उपस्थित किया गया है।

श्रीकठ शैवो के प्रथम गुरु के प्रति भक्ति रखते है तथा उन्हे (श्वेत को) अनेक आगमो का निर्माता मानते हैं। अप्पय भी अपनी टीका मे 'नानागम विधायिने' शब्द

के अर्थ के विषय मे अनिश्चित है। वह दो वैकल्पिक व्याख्याए देते हैं। एक मे उनका यह प्रस्ताव है कि पूर्व गुरु ने उपनिषद् के मूल ग्रन्थो के अनेक व्याघातो को निश्चित किया था तथा एक ने शैव-प्रणाली प्रारभ की थी जिसका उचित समर्थन उपनिषद् के मूल ग्रथो द्वारा हो सकता है। द्वितीय व्याख्या मे उनका प्रस्ताव है कि 'नानागम विधायिने' शब्द अर्थात् वह जिसने अनेक आगमो को उत्पन्न किया है, का अर्थ केवल इतना है कि श्वेत-प्रणाली अनेक आगमो पर आधारित थी। ऐसी व्याख्या में हमे निश्चित नही हैं कि यह आगम उपनिषदो पर आधारित थे, अथवा अन्य द्रविड मूल ग्रथो पर अथवा दोनो पर।[1] शकर के ब्रह्मसूत्र (२-२-३७) के भाष्य पर टीका करते हुए वाचस्पति अपनी 'भामती' मे कहते है कि वह प्रणालियो जो शैव, पाशुपत, कारुणिक-सिद्धातिन तथा कापालिको के रूप मे ज्ञात हैं, वे माहेश्वर नामक चार प्रकार के सप्रदायो के रूप मे जानी जा सकती हैं।[2] वे सब प्रकृति, महत् आदि के साख्य सिद्धात मे तथा ओम शब्द के किसी प्रकार के योग मे विश्वास करते हैं, उनका अतिम लक्ष्य मोक्ष तथा समस्त दुःखो का अत था। जीव, पशु कहलाते हैं तथा पाश शब्द का अर्थ बधन है। माहेश्वर विश्वास करते हैं कि ईश्वर, ससार का निमित्त कारण है, जिस प्रकार कुम्हार जलपात्र अथवा मिट्टी के बर्त्तनो का है।

शकर तथा वाचस्पति दोनो ही इस महेश्वर-सिद्धात को उपनिषदिक शास्त्रो के विरोधी उन सिद्धातो पर आधारित मानते हैं जिन्हे महेश्वर ने लिखा था। उनमे से कोई भी गुरु श्वेत के नाम का उल्लेख नही करता जो श्रीकठ के भाष्य तथा शिव महापुराण म आलेखित हैं। अत यह स्पष्ट है कि यदि शकर के प्रमाण को स्वीकार किया जायगा तब इस शब्द 'नानागम विधायिने' का अर्थ वह समाधानित सिद्धात नही हो सकता जिसकी रचना श्वेत तथा अन्य सत्ताईस शैव गुरुओ[3] ने उपनिषदो

---

[1] अस्मिन् पक्षे 'नानागमविधायिनी' इत्यस्य
नानाविध पाशुपताद्यागम निर्मात्रा इत्यर्थं।
—श्रीकठ के भाष्य पर अप्पय की टीका (बम्बई १६०८) भाग १, पृ० ६।

[2] किन्तु रामानुज ने उसी सूत्र की अपनी टीका मे चार प्रकार के सप्रदायो—कापाल, कालमुख, पाशुपत एव शैव का उल्लेख किया है।

[3] वायवीय-सहिता खड श्वेत से प्रारभ करके अठाईस योगाचार्यों के नाम का उल्लेख करता है। उनके नाम निम्नलिखित हैं
श्वेतः सुतारो मदन सुहोत्रः कङ्कँ व च
लौगाक्षिश्च महामायो जैगीषव्य तथैव च। २
दधिवाहश्च ऋषभो मुनिरुग्रोऽत्रिरेव च
सुपालको गौतमश्च तथा वेदशिरा मुनि। ३

के आधार पर की थी। हमने पहले ही इंगित किया है कि शैव सिद्धांत जिसे हम श्रीकंठ में पाते हैं, माहेश्वर-विचारधारा से यथेष्ठ भिन्न है जिसका शंकर तथा वाचस्पति खंडन करना चाहते थे। वहां पर शंकर ने महेश्वर विचारधारा को न्याय-दर्शन के लगभग समान तुलना की है। महेश्वर द्वारा तथाकथित लिखे सिद्धांत लेख क्या थे, यह अभी तक अज्ञात है। परन्तु यह निश्चित है कि वे ईसा काल के पूर्व अथवा आरंभ में रचे गए थे क्योंकि उस सिद्धांत का बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में उल्लेख किया था। श्रीकंठ निश्चित रूप से कहते हैं कि आत्माएँ तथा निर्जीव पदार्थ, जिनसे विश्व का निर्माण हुआ है, सब महान् भगवान की पूजा की सामग्री की रचना करते है। मानव आत्माएँ प्रत्यक्ष रूप से उनकी पूजा करती हैं तथा निर्जीव पदार्थ उस सामग्री की रचना करते है, जिससे उनकी पूजा होती है। अतः संपूर्ण विश्व महान् भगवान के हेतु अस्तित्व रखता माना जा सकता है। श्रीकंठ आगे कहते हैं कि भगवान की शक्ति अथवा बल, उस आधार अथवा स्थूल पृष्ट की रचना करता है जिस पर सम्पूर्ण संसार अनेक रंगों में चित्रित है। अतः संसार की सत्ता स्वयं ईश्वर के स्वरूप में है। विश्व जैसा हमें प्रतीत होता है, केवल एक चित्र-प्रदर्शन है, जिसका आधार ईश्वर की परम सत्ता है जो उपनिषदों में निश्चित रूप से वर्णित तथा प्रमाणित माना गया है।[1] श्रीकंठ के प्रमाण पर, उनके द्वारा व्याख्या किया हुआ शैवमत का दर्शन उपनिषदों की व्याख्या का अनुकरण करता है तथा उन पर आधारित है।

गोकर्णश्च गुहावासी शिखांडी चापरः स्मृतः
जटामाली चाट्टहासो दारुको लाङ्गली तथा। ४
महाकालश्च शूली च दण्डी मुण्डिश्चैव च
सविष्णुस्सोम-शर्मा च लकुलीश्वरेव च। ५

वायवीय-संहित २–६ पद्य २–५। कूर्म-पुराण १–५३–४ से तुलना कीजिए। उनके शिष्यों के नाम २–६ पद्य ६–२० में दिए हुए है (कूर्म-पुराण १–५३, १२) से तुलना कीजिए।

प्रत्येक योगाचार्य के चार शिष्य थ। उनमे से प्रमुख निम्नलिखित है (वायवीय-संहिता २-६-१०) कपिल, असुरि, पंचशिख, पराशर, बृहदश्व, देवल, शालिहोत्र, अक्षपाद, कनाद, उलूक, वत्स।

[1] निज-शक्ति-भित्ति-निर्मित-निखिल-जगज्जाला-चित्र-निकुरुम्बः
स जयति शिवः परात्मा निखिलागम-सार-सर्वस्वम्। २
भवतु स भवतां सिद्धयै परमात्मा सर्व-मंगलो-पेतः,
चिदचिन्मयं प्रपञ्चं शेषो शेषोऽपि यस्यैष।३

—प्रारंभिक पद्य, श्रीकंठ का भाष्य।

यह दुर्भाग्य है कि जिन विद्वानो ने शैवमत के अध्ययन पर लेख लिखे है अथवा उस पर पुस्तकें लिखी हैं उनमे से अनेको ने बहुधा श्रीकठ द्वारा प्रतिपादित दर्शन की उपेक्षा की है, यद्यपि उनकी रचना १६०८ मे ही प्रकाशित हो गई थी।

हमनें पहले ही देखा है कि ब्रह्मसूत्र (२-२-३७) पर अपने भाष्य मे शकर ईश्वर की निमित्तता का सिद्धात साहित्य के सिद्धात के रूप मे सबधित मानते हैं जिसे अनुमानत महेश्वर ने लिखा था। श्रीकठ द्वारा व्याख्या किए हुए उसी विषय पर टीका करते हुए अप्पय कहते हैं कि यह विचार शैवागमो मे, उन्हे अपूर्ण रूप से समझने पर पाया जा सकता है। परतु न तो वह और न श्रीकठ, हम तक प्राप्त किसी भी उन शैवागमो का उल्लेख करते हैं, जो ईश्वर की निमित्तता का वर्णन करते हैं। अतः श्रीकठ भी उस विचार के खडन का प्रयत्न करते है जो यह मानता है कि ईश्वर ससार का निमित्त कारण ही है। अत हम अनुमान कर सकते है कि कुछ शैवागमो की व्याख्या ईश्वर को ससार का निमित्त कारण मानने के आधार पर की गई थी।

ब्रह्मसूत्र (२ २-३७) पर श्रीकठ का भाष्य तथा उस पर अप्पय की टीका कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषय उपस्थित करते है। इनमे हमे ज्ञात होता है कि आगम दो प्रकार के थे जिनमे से एक उन तीन वर्णों के लिए था जिनकी पहुँच वैदिक साहित्य तक थी तथा दूसरा उनके लिए था जिनकी पहुँच वैदिक साहित्य तक नही थी। यह उत्तरकालीन आगम, द्रविड प्रादेशिक भाषाओ मे लिखे हुए हो सकने है अथवा सस्कृत सग्रहो से द्रविड प्रादेशिक भाषाओ मे अनुवाद किए गए हो। ब्रह्मसूत्र की श्रीकठ की अपनी व्याख्या मुख्यत, शिव महापुराण के वायवीय सहिता भाग में प्रतिपादित विचारो पर आधारित है। कूर्म पुराण तथा वाराह पुराण मे भी हम भिन्न प्रकार के शैवागम तथा शैव विचारधाराओ के विषय मे सुनते है। कुछ शैव सप्रदाय जैसे नकुलीश अथवा वाराह वैदिक विचारो की सीमा के बाहर समझे जाते हैं तथा इस विचार के अनुयायी भ्रमात्मक शास्त्र का अनुकरण करते माने जाते हैं। इसके उत्तर मे यह माना जाता है कि इनमे से कुछ सप्रदाय अपवित्र प्रथा का अनुकरण करते हैं तथा इसी कारण भ्रमात्मक शास्त्र के रूप मे माने जाते हैं। परंतु वे पूर्ण रूप से वैदिक अनुशासन के विरोधी नही हैं तथा वे भक्ति व पूजा की कुछ विधियो को प्रोत्साहित करते हैं जो वैदिक प्रथा में मिलती हैं। उपरोक्त प्रकार के आगम अर्थात् जो शूद्र तथा अन्य निम्न जातियो के लिए हैं, प्रसिद्ध आगमो जैसे कामिक, मृगेन्द्र आदि के समान हैं। किंतु कहा गया है कि यह वेद विरोधी आगम तथा वायवीय सहिता मे प्राप्त वैदिक शैवमत मुख्यत प्रमाणित हैं तथा दोनो ही अपने उद्गम के लिए भगवान शिव के आभारी हैं। उनके प्रमुख सिद्धात समान हैं क्योकि दोनो ही शिव को

संसार का उपादान तथा निमित्त कारण मानते हैं। कुछ अल्पज्ञ व्याख्याकारों ने महान् भगवान की निमित्तता को प्रमुखता देते हुए आगमों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है तथा उपरोक्त विषय का उद्देश्य महान् भगवान के विषय में ऐसे विचार का खंडन करना है जिसके अनुसार वह केवल निमित्त कारण है।

यह ध्यान देना आश्चर्यजनक है कि शैवदर्शन के दो सम्प्रदाय-लाकुलीश व पाशुपत तथा शैवदर्शन जैसी उनकी 'सर्व-दर्शन-सग्रह' मे व्याख्या की गई है, मुख्यत ईश्वर के उस पक्ष की व्याख्या करते हैं जिसमे वह (ईश्वर) विश्व का निमित्त कारण है। वे विविध प्रकार के कर्मकाण्डो को प्रमुखता देते हैं तथा नैतिक अनुशासन के कुछ रूपो को भी प्रोत्साहित करते है। यह भी ध्यान देना आश्चर्यजनक है कि 'सर्व-दर्शन-सग्रह' श्रीकंठ के भाष्य का उल्लेख न करें यद्यपि प्रथमोक्त ईसवी की चौदहवी शताब्दी के लगभग किसी समय लिखा गया होगा और श्रीकंठ भाष्य उस समय के बहुत पहले लिखा गया होगा। यद्यपि हमारे लिए अभी तक यह सभव नहीं है कि हम उनका निश्चित समय निर्धारित कर सकें। न ही सर्व-दर्शन-सग्रह, शिव महापुराण, कूर्म-पुराण तथा वाराह पुराण मे प्राप्त पौराणिक सामग्रियो का उल्लेख करता है। परतु हम प्रणालियो की व्याख्या बाद मे अन्य खड मे करेंगे तथा श्रीकंठ के भाष्य में प्रतिपादित दर्शन से उनका सबध वहाँ तक प्रदर्शन करेंगे जहा तक कि हस्तलिखित सामग्री तथा अन्य प्रकाशित शास्त्र प्राप्त हैं।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की व्याख्या करते हुए श्रीकंठ पहले अथ शब्द के अर्थ पर एक लम्बा तर्क उपस्थित करते हैं। साधारणत 'अथ' का अर्थ 'पश्चात्' है अथवा यह एक विषय को उचित आरम्भ से उपस्थित करता है। श्रीकंठ मानते हैं कि 'अथातो धर्म जिज्ञासा' से प्रारम्भ होकर जैमिनी कृत सम्पूर्ण मीमासा सूत्र ब्रह्मसूत्र (४–४–२२) के अतिम सूत्र 'अनावृत्ति शब्दादनावृत्ति शब्दात्' तक एक ही है। फलस्वरूप ब्रह्म-जिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मन् के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा धर्म-जिज्ञासा के बाद अवश्य आना चाहिए जो जैमिनी के मीमासा-सूत्र के विषय की रचना करता है। हमने इसी कृति के अन्य भागो में देखा है कि पूर्व मीमासा का विषय धर्म के स्वरूप की परिभाषा से आरम्भ होता है। जो वैदिक आदेशो (चोदना लक्षणोर्थे धर्म) की आज्ञा से निकले हुए लाभदायक फलो के रूप मे माना गया है। अत यज्ञ, धर्म के रूप मे माना जाता है तथा यह यज्ञ कुछ अशो मे इच्छित लाभो की प्राप्ति, जैसे पुत्र-जन्म, सफलता-प्राप्ति, वृष्टि अथवा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग मे दीर्घकाल तक निवास के लिए होता है। कुछ अशो मे यह यज्ञ आवश्यक कर्मकाण्ड के रूप मे तथा समारोह के अवसरो पर आवश्यक अनुष्ठानो के लिए होता है। साधारणत इन यज्ञ सबधी कर्त्तव्यो का ब्रह्म जिज्ञासा से बहुत सबध नही है। अत शकर ने ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर अपनी टीका मे यह दिखाने का बहुत प्रयत्न किया है कि ब्रह्म-जिज्ञासा का जिनको

अधिकार है उनसे पूर्णतया भिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियो को यज्ञ सबधी कर्त्तव्य निर्दिष्ट करने चाहिए। कर्म तथा ज्ञान के दो भाग पूर्ण भिन्न हैं तथा मनुष्यो की दो जातियो के लिए उद्देशित हैं। पुन जब धर्म का फल सासारिक सफलता अथवा स्वर्ग के कुछ काल के लिए निवास तथा कुछ समय पश्चात् पुनर्जन्म तथा मृत्यु की शृखला मे ले आता है तब एक बार प्राप्त ब्रह्म ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति मनुष्य को समस्त बधन से परम मोक्ष दिला देगा। अत ये दो मार्ग अर्थात् कर्म मार्ग व ज्ञान मार्ग परस्पर पूरक नही माने जा सकते। उन्हे एक ही वृत्त के खड मानना भूल है। यह शकर का कर्म तथा ज्ञान के सयुक्त सपादन के खडन के रूप मे ज्ञान है जो शास्त्रीय भाषा मे 'ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद' कहलाता है।

श्रीकठ यहाँ इसके विपरीत विचार व्यक्त करते है। वह कहते है कि जिस ब्राह्मण का यज्ञोपवीत हो चुका है उसे वेद के अध्ययन का अधिकार है, वास्तव मे एक उपयुक्त आचार्य के अन्तर्गत वेद के अध्ययन का उसका आवश्यक कर्तव्य है तथा जब वह वेदो पर अधिकार प्राप्त कर लेता है तब उसे अपने को उनके अर्थ से परिचित कराना पडता है। अत पूर्ण अर्थ समझने के साथ वेद का अध्ययन ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय मे किसी जिज्ञासा अथवा तर्क के पूर्व आने वाला मानना पडेगा। क्योकि धर्म वेदो मे ज्ञात हो सकता है अत ब्रह्मन् का ज्ञान भी वेदो के अध्ययन मे करना होगा। परन्तु यह नही कहा जा सकता कि वेदो के केवल अध्ययन के पश्चात् ही किसी को ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय मे तर्क करने का अधिकार हो जाता है। ऐसे मनुष्य को, वेदो के अध्ययन के पश्चात् धर्म के स्वरूप का विचार करना होगा जिसके बिना उसे ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय मे तर्क से परिचित नही कराया जा सकता। अत ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय मे तर्क, धर्म के स्वरूप के पश्चात् ही आरभ हो सकता है।[1] वे आगे कहते है कि यह हो सकता है कि पूर्वमीमासा मे प्राप्त वैदिक आदेशो की व्याख्या मे प्रयुक्त नियम तथा सिद्धात, ब्रह्मन् के स्वरूप के तर्क की ओर ले जाने वाले उपनिषदीय मूल ग्रथो को समझने के लिए आवश्यक हो। इसी कारण ब्रह्मन् के स्वरूप के विचार से पूर्व धर्म के स्वरूप के विषय मे एक तर्क अनिवार्यत आवश्यक है।

किन्तु, यह नही कहा जा सकता कि यदि यज्ञ ब्रह्मन् के स्वरूप के ज्ञान की ओर ले जाते है तब उसके स्वरूप के विषय मे विवेचना का क्या लाभ है। इससे तो धर्म के स्वरूप के विषय मे विचार करना अच्छा है, क्योकि जब बिना किसी लक्ष्य की पूर्ति

---

[1] तर्हि किमनन्तरमस्यारम्भ। धर्म-विचारान्तरम्। श्रीकठ का भाष्य १-१-१ भाग १, पृ० ३४।
न वय धर्म-ब्रह्म विचार-रूपयोश्शास्त्रयोरत्यन्तभेदवादिन।
किन्तु एकत्ववादिन। —वही।

की कामना के वैदिक कर्म किए जाते हैं, वे स्वय एक मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध कर देंगे तथा ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा करने के योग्य बना देंगे, क्योंकि वैदिक यज्ञो के ऐसे निष्काम कर्मों से व्यक्ति अपने पापो से मुक्त हो जाता है तथा यह ब्रह्मन् के स्वरूप-प्रकाशन की ओर ले जा सकता है।[1] उन्होने गौतम तथा अन्य स्मृतियो की ओर यह विचार स्थापित करने के लिए सकेत लिए हैं कि केवल वे, जो वैदिक धार्मिक रचनाओ मे दीक्षित हैं, ब्रह्मन् मे निवास तथा उससे एकाकार होने के अधिकारी है। अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है कि केवल वे वैदिक बलिदान जो बिना किसी लक्ष्य-प्राप्ति के विचार के किए जाते हैं वे ही अन्त मे पापो की समाप्ति की ओर ले जाते है जिससे ब्रह्म-ज्ञान सभव हो जाता है। ऐसे मनुष्य के दृष्टान्त मे कर्म का फल वही होता है जो ज्ञान का फल होता है। सत्य ज्ञान के उदित होने तक कर्म किए जाते है फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मन् के स्वरूप पर विचार से पूर्व दिए हुए वैदिक कर्म से उत्पन्न 'धर्म' के स्वरूप पर विचार आवश्यक है। ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा का अर्थ वैदिक आदेश का पालन करना नही है, वरन् ऐसी बहुमूल्य सम्पत्ति जो किसी के पास हो सकती है, उसके उच्च आकर्षण से मनुष्य उसकी ओर जाते हैं तथा यह हम देखते है कि निष्काम भावना से वैदिक धर्म पालन करने से जब किसी की बुद्धि पूर्ण शुद्ध हो जाती है तब ही ब्रह्मन् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। केवल इसी रूप मे धर्म के स्वरूप पर तर्क ब्रह्मन् के स्वरूप पर तर्क की ओर ले जाता हुआ मान सकते हैं। निष्काम भावना मे, वैदिक कर्म को करने से यदि बुद्धि शुद्ध नही हुई है तब वैदिक धर्म का केवल सपादन ही किसी को ब्रह्मन् के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा का अधिकारी नही बना देता।

श्रीकठ के उपरोक्त भाष्य पर अप्पय दीक्षित टीका करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मन् के स्वरूप पर विचार का अर्थ है उपनिषदो के मूल ग्रन्थो पर विचार स्वाभाविक ही ऐसे तर्क ब्रह्मन् के ज्ञान की ओर ले जाएँगे। ब्रह्मन् शब्द की उत्पत्ति मूल 'बृह्यति' अर्थात् 'महान्' से हुई है जो काल, दिक् तथा गुण की विशेषताओ से सीमित नही है अर्थात् जो असीम रूप से महान् है। हमे यह अर्थ स्वीकार करना होगा क्योकि किसी भी प्रकार की सीमा को सूचित करने के लिए कुछ भी नही है (सकोचकाभावत्)। ब्रह्मन् समस्त चेतन व अचेतन से भिन्न है। शक्ति दो प्रकार की होती है, वह जो भौतिक बल अथवा शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है (जड शक्ति) जो अपने को ब्रह्मन् के आदेश अथवा निमित्ता के अतर्गत भौतिक विश्व के आकार मे रूपातरित कर लेती है, चैतन्य के रूप मे भी शक्ति (चिच्छक्ति) है तथा जैसाकि हम चेतन प्राणियो

[1] तस्य फलाभिसन्धि-रहितस्य पापापनयन-रूपचित्त-शुद्धि-सपादन द्वारा बोध-हेतुत्वात्।
—श्रीकठ का भाष्य १–१–१, भाग १, पृ० ३६।

मे देखते हैं, यह चेतन शक्ति ब्रह्मन् द्वारा नियन्त्रित है।[1] ब्रह्मन् स्वय अचेतन वस्तुओ तथा चेतन आत्माओ से पूर्ण जगत् प्रपञ्च से भिन्न है। परन्तु, क्योकि चेतन आत्माए तथा अचेतन ससार दोनो ही ब्रह्मन् अथवा शिव या उसके किसी अन्य नाम से ईश्वर की शक्ति है, अतः ससार की सृष्टि तथा पालन के लिए स्वय ईश्वर के पास कोई अन्य निमित्त नही है। अत ब्रह्मन् की महानता सर्वथा नि सीम है क्योकि उसके परे ऐसा कुछ नही है जो कुछ आलम्बन दे सके। उपादान-कारण तथा आध्यात्मिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हुई ईश्वर की दो शक्तियाँ किसी प्रकार ईश्वर की गुण मानी जा सकती हैं।

जिस प्रकार एक वृक्ष मे पत्ते तथा फूल होते है परतु इस भेद के उपरात भी वृक्ष एक माना जाता है, इसी प्रकार यद्यपि ईश्वर मे भी गुणो के रूप मे अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं, तथापि वह एक माना जाता है। अत यद्यपि भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियो के दृष्टिकोण से निरूपण करने पर ब्रह्मन् के स्वरूप से दानो का भेदातर किया जा सकता है, तथापि आतरिक निरूपण करने पर उन्हे ब्रह्मन् से एक मानना चाहिए। इन दो शक्तियो का ईश्वर से पृथक् कोई अस्तित्व नही है। ब्रह्मन् शब्द का अर्थ केवल असीमता ही नही वरन् इसका अर्थ यह भी है कि वह समस्त सम्भावित उद्देश्यो की पूर्ति करता है। सृष्टि के समय वह ससार की सृष्टि करता है तथा अनेक सुखो तथा दु खो मे से आत्माओ को ले जाता हुआ अन्त मे जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है तब उन्हे अपने स्वय के स्वरूप मे विस्तृत कर लेता है।

एक लम्बे तर्क के पश्चात् अप्पय दीक्षित, निष्कर्ष मे यह दर्शाते करते है कि वे समस्त व्यक्ति, जो यज्ञ धर्म के अनुशासन से होकर निकले है, ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा के अधिकारी नही है। पूर्व जीवन के कर्मों के कारण जिनकी बुद्धि उचित रूप से शुद्ध हो गई है, केवल वे ही इस जीवन में वैदिक कर्मो के निष्काम भावना के पालन द्वारा अपनी बुद्धि को पुन शुद्ध कर सकते है तथा नित्य एव अनित्य का विवेक-युक्त ज्ञान तथा आवश्यक वैराग्य, मोक्ष की कामना तथा कर्म पर आतरिक व बाह्य नियन्त्रण प्राप्त कर सकते है, जिससे वे अपने को ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा करने का अधिकारी बना लेते है। इस प्रकार अप्पय दीक्षित श्रीकंठ तथा शकर के दृष्टि-कोणो के बीच की खाई को भरने का प्रयत्न करते है। शकर के विचारानुसार केवल आतरिक गुण एव विशेषताएँ मोक्ष के लिए कामना आदि ही एक व्यक्ति को

---

[1] तस्य चेतनाचेतन प्रपच विलक्षणत्वा-भ्युपगमेन वस्तु-परिच्छिन्नत्वादित्याशका निरसितुमाद्य-विशेषणम्। सकल-चेतनाचेतन-प्रपच कार्यायां तद्रूप-परिणामित्या परम-शक्त्या जड-शक्तेर्मायाया नियामकत्वेन तत उत्कृष्टया चिच्छक्त्या विशिष्टस्य।
—शिवार्कमणिदीपिका, अप्पय की टीका, भाग १, पृ० ६८।

ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय मे जिज्ञासा करने का अधिकारी बना देती हैं। शकर के अनुसार वैदिक कर्मों के स्वरूप अथवा उनके सपादन पर लम्बा तर्क ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा का अति आवश्यक पूर्व साधना की रचना नही करता। परतु अप्पय दीक्षित श्रीकठ के विचार को शकर के विचार से इस प्रस्ताव द्वारा सबधित करना चाहते हैं कि जहाँ पूर्व जीवन के शुभ कर्मों के कारण किसी व्यक्ति की बुद्धि वैदिक धर्मों के निष्काम सपादन से पुन. पवित्र करने के लिए यथेष्ठ शुद्ध हो गई है, केवल ऐसे ही दृष्टांतो में ही शकर द्वारा इगित अनिवार्य अभीष्ट वस्तु के अभाव के रूप मे ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा के लिए एक व्यक्ति मानसिक गुण तथा साधन प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय मे तर्क की सभावना के समर्थन का प्रयत्न, अप्पय दीक्षित यह इगित करके करते हैं कि उपनिषदो के अनेक मूल ग्रथो में ब्रह्मन् का वर्णन अनेक प्रकार से अहम्, अन्न, प्राण आदि के रूप मे हुआ है। अत मूल ग्रथ सबधी आलोचना द्वारा ब्रह्मन् का निश्चित स्वभाव ज्ञात करना आवश्यक है। यदि ब्रह्मन् का अर्थ केवल अहम् है अथवा यदि इसका अर्थ शुद्ध भेदरहित चैतन्य है तब तर्क का कोई स्थान नही रहेगा। अपने स्वय के सीमित अहम् के विषय मे किसी को शका नही है तथा उस ब्रह्मन् के ज्ञान से कुछ लाभ नही है जो शुद्ध भेद रहित चैतन्य है। इस कारण उपनिषदो के उन अनेक मूल ग्रथो के विषय मे तर्क आवश्यक है जो वैयक्तिक ईश्वर का प्रमाण देते हैं, जो (ईश्वर) अपने भक्त को आनद तथा परम चैतन्य प्रदान कर सकता है।

ब्रह्मन् का स्वरूप

श्रीकठ अनेक उपनिषदीय मूल ग्रथो को उपस्थित करते है जो ब्रह्मन् के स्वरूप की परिभाषा अथवा वर्णन करते हुए माने जाते है। प्रकट रूप मे उनमे परस्पर विरोध है तथा परिभाषाओ को क्रम से एक के बाद एक अथवा एक साथ लेने से व्याघात का समाधान नही होता तथा इस कारण यह आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसी मूल ग्रन्थ-सबधी तथा आलोचनात्मक परिभाषा का निरूपण किया जाए जिनसे एक सयुक्त अर्थ निकल। यह मूल ग्रन्थ ब्रह्मन् का इस प्रकार वर्णन करते है कि वह, जिसमे प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उदित हुआ तथा अत मे जिसमे प्रत्येक वस्तु वापस चली जाएगी एव वह, जिसका स्वरूप शुद्ध आनद, शुद्ध सत् तथा शुद्धचित्त है। अप्पय दीक्षित कहते है कि क्योकि ऐसे गुणो से अनेक देवताओ को विशेषित किया गया है अत यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम वास्तविक अनत देवता भगवान शिव को खोजें जिनमे यह सब गुण है। वह एक लम्बा तर्क उपस्थित करते हैं कि इन अनेक विशेषणो से विशेषित होने मे उस सत्ता अथवा व्यक्ति जिसमे वे हैं–के विषय मे क्या

कोई उचित शका उत्पन्न होगी ? वह पुन: शका के उस स्वरूप पर लम्बा तर्क करते हैं जो तब उदित होती है जब एक सत्ता अनेक विशेषणो द्वारा वर्णित हो अथवा जब एक सत्ता अनेक व्याघाती विशेषणो द्वारा वर्णित हो या जब अनेक पदार्थ एक सामान्य विशेषण द्वारा वर्णित हो। इस तर्क की प्रक्रिया मे वे शका की अनेक समस्याओ को उपस्थित करते हैं जिनसे हम भारतीय दर्शन की व्याख्या मे पहले से ही परिचित हो चुके हैं।[1] अत मे अप्पय इस तथ्य को प्रमुखता देने का प्रयत्न करते है कि ये गुण शिव के व्यक्तित्व मे स्थाई माने जा सकते है तथा कोई व्याघात नही हो सकता क्योंकि गुणो का अर्थ व्याघाती सत्ता नही होता है। भिन्न स्वभाव के अनेक गुणो का एक सत्ता अथवा व्यक्ति मे सामजस्य हो सकता है।

ससार की सृष्टि, उसके पालन तथा अत मे उसके सहार के अथवा बधन की समाप्ति द्वारा आत्माओ के मोक्ष के अनुमानित कारण भगवान् शिव है। ससार की सृष्टि, उसके पालन आदि के समस्त गुण दृष्टि विषयक उपस्थित ससार के है अत: इनसे उनकी आवश्यक परिभाषा की रचना करते हुए भगवान् शिव को विभूषित नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि एक व्यक्ति अपने शुभ कर्मों तथा सासारिक सुखो से निवृत्ति तथा भक्ति द्वारा स्वत मोक्ष प्राप्त कर सकता है। परतु ऐसे दृष्टातो मे भी यह उत्तर देना होगा कि यद्यपि एक व्यक्ति अपनी क्रियाओ के सदर्भ मे क्रियाशील कर्ता माना जा सकता ह तथापि उससे उसकी क्रिया करवाने के लिए ईश्वर का अनुग्रह स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार क्योकि सृष्टि-पालन आदि के समस्त विशेषण ससार के आभास के हैं, वे किसी भी प्रकार भगवान् शिव के स्वरूप को सीमित करते नही माने जा सकते। अधिक से अधिक वे ऐसे अनावश्यक गुण माने जा सकते हैं जिनसे हम ब्रह्मन् का स्वरूप का केवल अर्थ बता सकते है परतु उसके अपने वास्तविक स्वरूप तक नही पहुँच सकते। कारणता के प्रत्यय की विशेष व्यक्तियो अथवा निर्जीव पदार्थों पर नियुक्ति केवल महत्व के लिए ही है, क्योकि कुछ दृष्टिकोणो से यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति अपने ही कर्मों से मोक्ष प्राप्त करता है जबकि अन्य दृष्टिकोण से व्यक्ति का सम्पूर्ण कर्म ईश्वर के अनुग्रह के कारण माना जा सकता है।

यह कहा जा सकता है कि यदि भगवान शिव सर्व-कृपापूर्ण हैं तब वे समस्त प्राणियो को मोक्ष देकर उनके दुख का निवारण क्यो नही कर देते ? इस प्रश्न के लिए यह कहा जा सकता है कि जब केवल मनुष्यो के कर्मों द्वारा अज्ञान का आचरण तथा अशुद्धता हट जाती है तब ही ईश्वर की गतिशील कृपा सदैव मनुष्य को मोक्ष देने मे अपने को अभिव्यक्त करती है। अत· दो प्रकार की क्रिया होती हैं—एक स्वय व्यक्ति द्वारा तथा दूसरी उसके कर्मों के अनुरूप ईश्वर की कृपा के विस्तार द्वारा।

---

[1] मुख्यत देखिए प्रस्तुत रचना का तीसरा भाग जो वेंकट मे शका की समस्या की व्याख्या करता है।

पुन जगदाभास का लय जादू से अदृश्य होना नही है वरन् प्रकृति के स्थूल रूप का अथवा प्राकृत द्रव्य का उसी प्रकृति के सूक्ष्म रूप में वापस जाना है। सपूर्ण संसार भ्रम नहीं है वरन् एक समय मे इसने अपने को प्रकट सत्ता के स्थूल आकार मे अभिव्यक्त कर लिया था तथा अत मे यह पुन प्रकृति अथवा औद्भौम पदार्थ मे वापस चली जाएगी। सूक्ष्म प्रकृति के स्वरूप मे यह वापस जाना ईश्वर के अनुग्रह द्वारा समस्त प्राणियो के सयुक्त कर्मों के कारण है।

अप्पय की व्यवस्था के आधार पर श्रीकठ के अनुसार, द्वितीय सूत्र, जो ब्रह्मन् का वर्णन अथवा परिभाषा इस प्रकार करता है कि ब्रह्म जिसमे से समस्त वस्तुए उत्पन्न हुई हैं, अत मे जिसमे समस्त वस्तुए वापस चली जाएगी तथा जिसमे सब वस्तुओ का पालन होता है, समस्त वस्तुओ की सृष्टि, पालन तथा सहार के इन गुणो का उपादान तथा निमित्त, दोनो को अतिम निश्चित कारणता के पक्ष के रूप मे मानता है, जिसके कारण ईश्वर के रूप मे ब्रह्मन् का स्वरूप अनुमित किया जा सकता है। अत श्रीकठ तथा अप्पय के अनुसार इस सूत्र 'जन्माद्यस्य यत' को ब्रह्मन् के स्वरूप के निश्चित अनुमान का कथन मानना चाहिए। शकर ने अपनी टीका में निश्चित रूप से इगित किया है कि जो ईश्वर का समस्त वस्तुओ तथा प्राणियो का कारण मानते हैं वे इस सूत्र की व्याख्या अनुमान के उदाहरण के रूप मे करते हैं जिससे ब्रह्मन् के नि सीम रूप का प्रत्यक्ष तक किया जा सके तथा ऐसी परिभाषा युक्तियाँ बताने के कारण यथेष्ठ हैं, न अधिक विस्तृत न अधिक सकुचित। अत इस तर्क द्वारा सपूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक विश्व के महान् तथा नि सीम प्रभु के रूप मे ब्रह्मन् को समझा जा सकता है। शकर निश्चित रूप से ऐसी व्याख्या अस्वीकार करते हैं तथा इसका उन उपनिषदीय मूल ग्रथो का सामान्य अभिप्राय कहते हुए मानते हैं जो यह कहते है कि समस्त वस्तुए ब्रह्मन् से उत्पन्न हुई हैं तथा समस्त वस्तुए ब्रह्मन् मे तथा ब्रह्मन् द्वारा जीवित रहती हैं तथा अत मे समस्त वस्तुए ब्रह्मन् मे वापस चली जाती हैं। शकर तथा श्रीकठ के मध्य मुख्य विवाद का विषय यह है कि जबकि शकर इस सूत्र को ब्रह्मन् के अस्तित्व के पक्ष मे तर्क स्थापित करने के रूप मे अस्वीकार कर देते है, तथा वह ब्रह्म-सूत्र का उद्देश्य उपनिषदो के विभिन्न मूल ग्रथो के समाधान तथा सगति लाने के अतिरिक्त और अधिक कुछ नही समझते, तब श्रीकठ तथा अन्य शैव इस सूत्र को नि सीम ब्रह्मन् अथवा भगवान शिव के पक्ष मे एक तर्कसिद्ध कथन को मानते है।[1]

रामानुज भी इस सूत्र की व्याख्या ब्रह्मन् के अस्तित्व अथवा स्वरूप को स्थापित

---

[1] एतदेवानुमान ससारिव्-व्यतिरिक्ते श्वरास्तित्वादि-साधन मन्यन्त ईश्वर-कारणीन। ननु इहापि तदेवोपन्यस्त जन्मादि सूत्रे, न, वेदान्त वाक्य-कुसुम-ग्रथनार्थत्वात्सूत्रा नाम्। ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर शकर का भाष्य।

करने के तर्कसिद्ध कथन के रूप मे नही करते हैं। उनका विचार है कि उपनिषदीय मूल ग्रथो के प्रकट रूप में व्याघाती कथनो के समर्थन द्वारा तथा ब्रह्मन् को सृष्टि-पालन तथा क्षय के कारण के रूप मे मान लेने से उपनिषदीय मूल ग्रथो द्वारा ब्रह्मन् के स्वरूप की अनुभूति करना अथवा समझना सभव है।[1]

श्रीकठ ने ब्रह्मन् के अनेक विशेषणो जैसे, आनद, सत् एव ज्ञान आदि के साथ-साथ इस तथ्य की व्याख्या का प्रयत्न किया है कि कुछ मूल ग्रथो मे मूल कारण के रूप मे शिव का उल्लेख इस अर्थ मे है कि शिव विश्व के मूल तथा अतिम कारण दोनो ही हैं। ब्रह्मन् पर इन विशेषणो की क्रम से एक के बाद एक अथवा एक साथ नियुक्ति के विषय मे वह (श्रीकठ) कठिनाइयाँ उपस्थित करते है। वे पुन यह कठिनाई उपस्थित करते है कि कुछ उपनिषदीय मूल ग्रथो मे अचेतन प्रकृति, माया तथा अचेतन ससार का कारण कहलाती है। यदि ब्रह्मन् का स्वरूप ज्ञान अथवा चित् है, तब वह स्वय को भौतिक ससार के आकार मे रूपातरित नहीं कर सकता था। शुद्ध चैतन्य का भौतिक विश्व मे रूपातर का अर्थ होगा कि ब्रह्मन् परिवर्तनशील है तथा यह इस उपनिषदीय कथन का व्याघात करेगा कि ब्रह्मन् सर्वथा कर्मरहित है तथा निष्क्रिय अवस्था मे है। इस दृष्टिकोण से विरोधी यह कह सकता है कि उपनिषद् मे उन समस्त विशेषणो से जिनसे ब्रह्मन् विशेषित है, एक साथ उस पर नियुक्ति नही की जा सकती तथा उन्हे एकत्रित रूप मे ब्रह्मन् के स्वरूप के परिभाषित लक्षणो के रूप मे नही लिया जा सकता। अत श्रीकठ का विचार है कि ब्रह्मन् के लिए प्रयुक्त गुणवाची शब्द सत्य, चित एव आनद आदि को महेश्वर के व्यक्तिगत गुणो के रूप मे लेना होगा। अत ब्रह्मन् को शुद्ध व चित् मानने के स्थान पर श्रीकठ महेश्वर का जो सदैव सवज्ञ, सदैव स्वय-सतुष्ट तथा स्वतत्र मानते है अर्थात् वह जो सदैव बल अथवा शक्ति निहित रखता है तथा जो सर्वशक्तिमान है, वह सदैव (नित्य अपरोक्ष) विद्यमान है तथा अपनी शक्ति अथवा बल के सपादन के लिए किसी बाह्य वस्तु पर निर्भर नही है (अनपेक्षित बाह्य कारण)। अत भगवान शिव सर्वज्ञ होने के कारण समस्त चेतन प्राणियो के कर्मों का तथा इन समस्त कर्मफलों का, जिनके वे अधिकारी है, ज्ञान रखते है तथा उन्हे शरीरो के उन आकारो का भी ज्ञान है जो पूर्व कर्मों के अनुसार इन चेतन आत्माओ को प्राप्त होने चाहिए तथा इस प्रकार शिव को उन पदार्थों के सग्रह का प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है जिनसे इन शरीरो का निर्माण होना है।[2] इस तथ्य

---

[1] ब्रह्मसूत्र १—१—२ पर रामानुज का भाष्य।

[2] अनेन सकल-चेतन बहु-विध-कर्म-फल भोगानु कूल-तत्तच्छरीर-निर्माणोपाय-सामग्री-विशेषज्ञं ब्रह्म निमित्त भवति।

ब्रह्मसूत्र १—१—२ पर श्रीकठ का भाष्य, पृ० १२१।

की व्याख्या कि ब्रह्मन् आनद के रूप मे वर्णित है, इस अर्थ मे की गई है कि भगवान् शिव सदैव आनदपूर्ण तथा स्वय-सतुष्ट है।[1]

उपनिषदो मे कहा गया है कि ब्रह्मन् का शरीर आकाश है (आकाश शरीरम् ब्रह्म)। कुछ उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि यह आकाश आनद है। श्रीकठ कहते है कि यह आकाश भूताकाश नही है, इसका अर्थ केवल चित्त के स्तर से है (चिदाकाश) तथा इस प्रकार इसका अर्थ अनत पदार्थ (पर-प्रकृति) से है जो अनत शक्ति ही है। अप्पय इगित करते है कि ऐसे व्यक्ति है जिनका विचार है कि चेतना की शक्ति विश्व की सृष्टि के साधन के समान है जिस प्रकार वृक्ष काटने के लिए कुल्हाडी होती है। परतु अप्पय इस विचार को अस्वीकार कर देते है तथा मानते है कि अनत शक्ति आकाश कहलाती है।[2] चित् की यही शक्ति (चिच्छक्ति) सब वस्तुओ मे व्यापक मानी जाती है तथा यही शक्ति विश्व की सृष्टि के लिए रूपातरित होती है। इस चिच्छक्ति को जीवन की मूल शक्ति मानना होगा जो अपने को जीवन की क्रियाओ से अभिव्यक्त करती है। समस्त प्रकार की जीवन क्रियाएँ तथा सुख के समस्त अनुभव इस अनत जीवन-शक्ति के निम्न अथवा उच्चस्तर पर निर्भर हैं जो चिच्छक्ति अथवा आकाश भी कहलाती हैं।

पुन ब्रह्मन् को सत्, चित् तथा आनद के स्वरूप के रूप मे वर्णित किया है। इस दृष्टात मे यह माना गया है कि बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के ब्रह्मन् अपने स्वय के आनद का उपभोग करता है तथा इसी कारण मुक्त आत्माए बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के सर्वोत्तम आनद का अनुभव कर सकती हैं। चित् के रूप मे सत्य शुद्ध आनद के उस रूप का ही सत्य है, जो अमूर्त गुणो के रूप मे नही वरन् भगवान शिव के शरीर से अवलम्बित मूर्त गुणो के रूप मे अपने अस्तित्व मे नित्य हैं। अत यद्यपि ब्रह्मन् अथवा भगवान शिव अपने मे सर्वथा अपरिवर्तनशील हो तथापि उसकी शक्ति उन रूपातरो मे हो सकती है जिनसे इस ससार की सृष्टि हुई है। इस प्रकार ब्रह्मन् मे चित् की शक्ति तथा भौतिक शक्ति दोनो है, जो विश्व के तत्व का निर्माण करती हैं (चिदचित्पपच-रूप शक्ति विशिष्टत्वम् स्वाभाविकमेव ब्रह्मण·)। उन शक्तियो मे तथा उनके द्वारा ब्रह्मन् विश्व के उपादान कारण की रचना कर सकते हैं क्योकि उसकी शक्ति असीम है। क्योकि सभी बाह्य वस्तुओ के लिए यह कहा जाता है कि वह 'सत्ता' जो उन सबमे व्याप्त है, एक सामान्य तत्व के रूप में होती है,

---

[1] परब्रह्म-धर्मस्त्वेन च स एव आनन्दो ब्रह्मेति प्रचुरत्वाद् ब्रह्मत्वेनोपचर्यते। तादृशानन्द-भोग-रसिकं-ब्रह्मनित्य-तृप्तमित्युच्यते।

ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर श्रीकठ का भाष्य, पृ० १२२।

[2] यस्य सा परमा देवी शक्तिराकाश सज्ञीता।

अप्पय की टीका, भाग १, पृ० १२३।

इस कारण वह ब्रह्मन् की 'सत्ता' के उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें वह संसार का उपादान कारण है। महेश्वर, शर्व महेश्वर कहलाते हैं क्योंकि समस्त वस्तुएं अंत में उसमें लय हो जाती है। वह ईशान कहलाता है क्योंकि वह समस्त वस्तुओं पर प्रभुत्व करता है अत. वह पशुपति भी कहलाता है। 'पशुपति' विशेषण से यह सूचित होता है कि वह केवल समस्त आत्माओं (पशु) का ही प्रभु नही है वरन् उस समस्त का भी प्रभु है जो उन्हे बंधन मे बद्ध करता है (पाश)। इस प्रकार ब्रह्मन् चेतन सत्ताओं तथा भौतिक संसार का नियंता है।[1]

यह कहा गया है कि माया आद्य द्रव्य है, प्रकृति, विश्व का उपादान कारण है। परन्तु कहा जाता है कि ईश्वर अथवा भगवान् शिव सदैव माया से संयोजित हैं अर्थात् माया से सर्वथा परे उनका कोई पृथक् अस्तित्व नही है। इस मत के अनुसार यदि माया विश्व का उपादान कारण मानी जाएगी तब भगवान् शिव को भी, जो माया से संबंधित है, किसी अस्पष्ट अर्थ मे विश्व का उपादान कारण मानना होगा। अतः अंतिम निष्कर्ष यह है कि सूक्ष्म चेतना तथा सूक्ष्म पदार्थ से संबंधित रूप मे ब्रह्मन्, कारण है तथा विश्व कार्य है जो केवल स्थूल पदार्थ से संबंधित स्थूल चित् है।[2] वास्तव मे यह सत्य है कि उत्पत्ति, पालन तथा संहार के तथ्य विशेषण हैं जो केवल दृष्टि विषयक, संसार पर ही नियुक्त किए जा सकते है अत वे तर्क सिद्ध कथन के रूप मे ब्रह्मन् के स्वरूप को निश्चित करते हुए आवश्यक गुण नही माने जा सकते। फिर भी संसार प्रपंच की उत्पत्ति, पालन तथा संहार ब्रह्मन् के स्वरूप के अस्थाई पक्ष (तटस्थ लक्षण) माने जा सकते है। यह भी ध्यान देना है कि जब ईश्वर की नियंत्रण शक्ति के द्वारा माया अपने को संसार मे रूपांतरित कर लेती है, तब माया से अनंत संबंध होने के कारण ईश्वर स्वयं किसी अर्थ मे संसार का उपादान कारण भी माना जा सकता है यद्यपि परात्पर रूप से वह माया से परे रहता है। इस विचार तथा रामानुज के विचार मे यह अंतर है कि रामानुज के अनुसार ब्रह्मन् एक मूर्त्त

---

[1] अनेन चिदचिन्नियामकं ब्रह्मेति विज्ञायते।

ब्रह्मसूत्र १–१–२ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १२७।

[2] 'माया तु प्रकृतिं विद्याद् इति मायाया प्रकृतित्वं ईश्वरात्मिकाया एव मायिनं तु महेश्वरम्' इति वाक्यशेषात्। सूक्ष्म-चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कारणं स्थूल-चिदचिद्विशिष्टम् तत्कार्यं भवति। –ब्रह्मसूत्र १–१–२ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १३४।
सत्यं मायोपादामिति ब्रह्मापि उपादानमेव। अपृथक्-सिद्ध-कार्यावस्था श्रेयत्व-रूपं हि मायाया उपादानत्वं समर्थनीयम्। तत्समर्थ्यमानमेव ब्रह्म-पर्यन्तमायाति। नित्ययोगे खलु मायिनमिति माया-शब्दादि निप्रत्यय। ततश्च मायाया ब्रह्मा पृथक् सिद्धयैव तदपृथक्-सिद्धाया कार्यावस्थाया अपि ब्रह्मापृथक् सिद्धिस् सिद्धयति।
–अप्पयदीक्षित की टीका, भाग १, पृ० १३४।

सामान्य है जिसमें संपूर्ण भौतिकता है तथा जिससे आत्माओं के समुदाय सदैव उसी प्रकार संबंधित तथा प्रत्यक्ष रूप से नियमित होते हैं जिस प्रकार एक व्यक्ति के अंग स्वयं व्यक्ति द्वारा नियमित होते हैं। यह प्रत्यय एक संपूर्ण संगठन का है जिसमें ब्रह्म संगठन है तथा आत्माओं एवं पदार्थों का संसार उसके द्वारा शासित पूर्ण रूपेण उसका भाग है। शंकर का मत इससे सर्वथा भिन्न है। वह मानते हैं कि सूत्र का मुख्य अर्थ मूल ग्रंथों की केवल एक व्याख्या है जो यह दिखाता है कि संसार ब्रह्मन् से उत्पन्न हुआ है, उससे पालित है तथा अंत में उसमें वापस चला जाएगा। परंतु इससे यह घोषित नहीं होता कि संसार का यह आभास परम सत्य है। शंकर का आभास के वास्तविक स्वरूप से कोई संबंध नहीं है, परंतु उनका चित् आनंत तथा अपरिवर्तनशील अधिष्ठान पर केंद्रित है जो सदैव सत्य रहता है तथा जो दृष्टिगोचर संसार के समान केवल सापेक्ष सत्य नहीं है।[1] हमने ऊपर लिखा है कि श्रीकंठ दूसरे सूत्र को ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान सूचित करते हुए मानते हैं। परंतु बाद के तर्कों में वे दूसरी ओर जाते प्रतीत होते हैं तथा ब्रह्मन् के अस्तित्व को वेदों के प्रमाण द्वारा प्रमाणित मानते हैं। संपूर्ण विश्व के उद्देश्य की एकता का सामान्य तर्क आवश्यक रूप से एक सृष्टा को स्वयं सिद्ध मान लेने की ओर नहीं ले जा सकता क्योंकि एक भवन अथवा मंदिर जो उद्देश्य की एकता दर्शाता है, वास्तव में अनेक शिल्पकारों तथा कारीगरों द्वारा कार्यान्वित होता है। उनका यह भी विचार है कि ईश्वर ने वेदों की उत्पत्ति की है। यह भी किसी प्रकार उसके अस्तित्व का अतिरिक्त प्रमाण माना जा सकता है। ब्रह्मन् का स्वरूप भी उन भिन्न उपनिषदीय मूल ग्रंथों के समाधान द्वारा ज्ञात किया जा सकता है जो सब भगवान् शिव के परम अस्तित्व को इंगित करते हैं। ब्रह्मसूत्र २-१-१८-१९ में श्रीकंठ कहते हैं कि अपने में संकुचित ब्रह्मन् कारण है, परन्तु जब वह अपनी आंतरिक कामना द्वारा अपने को विस्तृत कर लेता है तब वह स्वयं को तथा विश्व को दर्शाता है, जो उसका कार्य है।[2] यह विचार वल्लभ के विचार के लगभग समान है तथा श्रीकंठ द्वारा १-१-२ में दिए गए ब्रह्म के विचार से विशेष रूप से भिन्न है। अपने विचार की पुनः व्याख्या करते हुए श्रीकंठ कहते हैं कि वह ब्रह्मन् को विश्व का अंतिम उपादान-कारण इसी अर्थ में स्वीकार करते हैं कि

---

[1] शंकर तथा उनके संप्रदाय के विचार के लिए देखिए भाग १ तथा २। रामानुज तथा उनके संप्रदाय के विचार के लिए देखिए भाग ३।

[2] 'चिदात्मैव हि देवो' न्तः–स्थितमिच्छा-वशाद् बहिः। योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेद् इति। निरुपादानमिति अनपेक्षितोपादानान्तरं स्वयं उपादानं भत्वेत्यर्थः। ततः परम-कारणात्परब्रह्मनः शिवादभिन्नमेव जगत्कार्यमिति–यथा संकुचितः सूक्ष्म-रूपः पटः प्रसारितो महापटकुटी रूपेण कार्यं भवति, तथा ब्रह्मापि संकुचित रूपं कारणं प्रसारित-रूपं कार्यं भवति। –श्रीकंठ का भाष्य, भाग २, पृ० २९।

प्रकृति, जिससे ससार विकसित होता है, स्वय ब्रह्मन् में है। क्योकि ब्रह्मन् अपनी शक्ति के अतिरिक्त नही रह सकता, अत वह ससार का उपादान कारण माना जा सकता है यद्यपि वह अपने मे परात्पर रहता है तथा केवल उसकी माया ही, ससार की उत्पत्ति मे अर्तनिहित कारण के रूप मे कार्य करती है। इस प्रकार वे कहते हैं कि जीवो तथा ब्रह्म मे भेद हैं एव प्रकृति तथा ब्रह्मन् में भेद हैं। वह यह स्वीकार नही करेंगे कि ससार-प्रपच, ब्रह्मन् से सर्वथा भिन्न है, न ही वह यह स्वीकार करेंगे कि वे सर्वथा अभिन्न है। उनकी स्थिति रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के समान विशिष्टाद्वैती जैसी है। जीव तथा निर्जीव ससार से परे ब्रह्मन् का अस्तित्व सर्वथा अनुभवातीत है। परतु फिर भी, क्योकि जीव तथा भौतिक ससार उसकी शक्ति से उत्पादित है, इसलिए चित्-अचित् मय यह ससार उनके अश माने जा सकते है यद्यपि वह इनसे परे है।[1]

नैतिक उत्तरदायित्व तथा ईश्वर का अनुग्रह

प्रश्न यह है कि महाप्रभु ने सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि क्यो की ? वह सदैव स्वानुभवपूर्ण तथा स्वय सतुष्ट हैं तथा उन्हे कोई अनुराग एव घृणा नही है। वह नितात तटस्थ तथा अपक्षपाती है। तब फिर वह ऐसे ससार की सृष्टि क्यो करे जो कुछ के लिए आनद से पूर्ण है (उदाहरणार्थ देवता) तथा दूसरो के लिए दुख तथा चिताओ से पूर्ण है। स्वाभाविक रूप से यह हमे पक्षपात तथा कठोरता के आरोप की ओर प्रवृत्त करेगा। इसके अतिरिक्त क्योकि सृष्टि से पूर्व अवश्य ही सहार हुआ होगा इसलिए यह आवश्यक रूप से तर्क किया जाएगा कि ईश्वर स्वय इतना कठोर है कि केवल कठोरतावश वह विश्व-सहार मे लग जाता है। अत सामान्यत यह तर्क किया जा सकता है कि ईश्वर का ऐसे ससार की सृष्टि करने का क्या उद्देश्य है जो हमारी अपनी कामनाओ एव मूल्यो की प्राप्ति का क्षेत्र नही है। इसका यह उत्तर दिया गया है कि ईश्वर कर्म तथा कर्म फलो की विभिन्नताओ के अनुरूप ससार की सृष्टि तथा सहार मे लगता है।

---

[1] भेदाभेद-कल्पन विशिष्टाद्वैत साधयाम न वय ब्रह्म-प्रपचयोरत्यन्तमेव भेदवादिन घट पटयोरिव। तदनन्यत्वपर श्रुति-विरोधात्। न वाऽत्यन्ता-भेदवादिन, शुक्ति-रजतयोरिव। एकतर मिथ्यात्वेन तत्स्वाभाविकगुणभेद परश्रुति-विरोधात्। न च भेदाभेदवादिन, वस्तुविरोधात्। किन्तु शरीर-शरीरिणोरिव गुण-गुणिनोरिव च विशिष्टाद्वैत-वादिन प्रपच-ब्रह्मणोरनन्यत्व नाम मृद्-घटयोरिव गुण-गुणिनोरिव च कार्य कारणत्वेन विशेषण-विशेष्यत्वेन च विनाभावरहितत्वम्।

—ब्रह्मसूत्र २–२–२२ पर श्रीकठ का भाष्य, भाग १, पृ० ३१।

यह तर्क नही किया जा सकता कि सृष्टि से पूर्व आत्मा का अस्तित्व नहीं था क्योकि उपनिषदो मे कहा गया है कि ईश्वर तथा आत्माओ का अस्तित्व नित्य है। क्योंकि आत्माएँ अनादि हैं अत उनके कर्म भी अनादि हैं। इससे अनवस्था उत्पन्न हो सकती है किन्तु यह अनवस्था दोषपूर्ण नही है। ससार मे भिन्न शरीरो मे जन्म-मृत्यु का क्रम अनादि कर्म के चक्र मे निहित हैं। क्योकि ईश्वर अपनी सर्वज्ञता के कारण अनुभूति द्वारा उन अनेक प्रकार के कर्मो का जो व्यक्ति द्वारा किए जाएँगे प्रत्यक्ष ज्ञात कर लेता है अत उसके द्वारा प्रत्याशित ऐसे कर्मों के उपभोग तथा दण्ड के लिए वह उपयुक्त शरीरो तथा परिस्थितियो का प्रावधान करता है। अत सृष्टि मे विभिन्नता व्यक्ति के कर्मों की अनेकरूपता के कारण है। प्रलय का समय तब आता है जब आत्माएँ जन्म तथा मृत्यु के क्रम से थक जाती हैं तथा शान्त हो जाती हैं एव उन्हे स्वप्न-रहित निद्रारूपी विश्राम की आवश्यकता होती है। अत सहार का कार्यान्वित करना ईश्वर की क्रूरता सिद्ध नही करता।

जब समस्त प्राणियो के सुख व दुख उनके कर्मों पर निर्भर है तब किसी भी प्रकार के ईश्वर को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? उत्तर है कि कर्म का नियम ईश्वर के सकल्प पर निर्भर है तथा यह व्यक्ति की स्वेच्छा या स्वायत्त विधि से नही होता, न ही यह ईश्वर की स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता का अवरोध करता है। किन्तु यह घुमा फिराकर हमे उसी स्थिति की ओर ले जायगा क्योकि जब मनुष्यो के सुख व दुख मनुष्यो के कर्मों तथा कर्म के नियम पर निर्भर है तथा कर्म का नियम ईश्वर के सकल्प पर निर्भर है तो वास्तव मे इसका अर्थ यह है कि प्राणियो के सुख व दुख अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के पक्षपात के कारण हैं।

फिर चूँकि कर्म तथा कर्म का नियम दोनो ही बुद्धिरहित है, अत ईश्वर की बुद्धि द्वारा उनका सम्पादन आवश्यक है। तब, सृष्टि के पूर्व जब प्राणी जन्म और मृत्यु के चक्र से रहित होते है, किसी शरीर से युक्त नही होते और आनन्द की स्थिति मे होते है—तो फिर ईश्वर उन्हें जन्म और पुनर्जन्म के चक्र मे क्यो फँसा देता है और क्यो इतना कष्ट सहने को छोड देता है? उत्तर है कि चूँकि ईश्वर अपना अनुग्रह सबको प्रदान करता है (सर्वानुग्राहक परमेश्वर) अत उसे ऐसा करना होता है, क्योकि बिना कर्मफल (कर्मपाकमन्तरेण) के शुद्ध ज्ञान नही हो सकता, और बिना शुद्ध ज्ञान के चरम आनद के उपभोग रूपी मोक्ष प्राप्त नही हो सकता, साथ ही सुख व दुख द्वारा कर्म-फल का पूर्ण उपभोग किए बिना ऐसे अनुरूप शरीर नही हो सकते जिनके द्वारा आत्माएँ कर्मफल का उपभोग अथवा कष्ट सहन कर सकते है, अत शरीर का उन समस्त आत्माओ से सयोजित होना आवश्यक है जो प्रलय के समय निष्क्रिय पडे हुए थे। अत जब इस प्रकार, सुख व दुख द्वारा व्यक्ति के कर्म समाप्त हो जाते है तथा प्राणियो की बुद्धि शुद्ध

हो जाती है, केवल तब ही मोक्ष के परम आनन्द की ओर प्रवृत्त करता हुआ आत्मज्ञान उदित हो सकता है।

पुन, यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ईश्वर सर्वथा अनुग्राहक है तब वह एक ही समय मे समस्त व्यक्तियो के कर्मों के फलित होने का प्रबन्ध क्यो नही करता तथा क्यो नही उन्हे मोक्ष के आनन्द का अनुभव करने देता ? उत्तर यह है कि, यदि ईश्वर समग्र व्यक्तियो के प्रति एक रूप से अपना अनुग्रह प्रदान कर भी देता तब वे, जिनके मल नष्ट हो चुके हैं, मुक्त हो जाते तथा वे जिनके कुछ मल अब भी रह गए हैं, केवल काल के अनुसार ही मोक्ष प्राप्त कर सकते। इस प्रकार, यद्यपि ईश्वर सदैव आत्म-सतुष्ट है, तथापि उसे केवल समस्त प्राणियो के लाभ के लिए कार्य करना होता है।

अप्पय की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि 'अनुग्रह' शब्द 'उन्होने 'न्याय' के अर्थ मे लिया है। अत ईश्वर केवल अपना अनुग्रह ही प्रदान नही करता वरन् उसका अनुग्रह व्यक्तियो के कर्मों के अनुरूप न्याय की एक प्रक्रिया है, अत वह पक्षपाती अथवा कठोर नही माना जा सकता।[1] अप्पय इस आपत्ति को पहले से अनुमानित करते है कि इस विचार मे ईश्वर के निरपेक्ष प्रभुत्व के लिए कोई स्थान नही है क्योकि वह केवल कर्म के नियम के अनुरूप सुख व दुख प्रदान करता है। अत यह कहना निरर्थक है कि वह ईश्वर ही है जो जब किसी व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अवनत अथवा करना उत्पन्न चाहता है तब वह उससे पाप अथवा शुभ कर्म करवाता है। क्योकि ईश्वर अपने स्वय के सकल्प द्वारा किसी से अशुभ अथवा शुभ कर्म नही करवाता है वरन् व्यक्ति स्वय पूर्व सृष्टि मे प्राप्त अपनी प्रवृत्तियो के अनुसार शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है तथा कर्म के नियम की पूर्ति के लिए, उन कर्मों के अनुरूप ही नई सृष्टि का निर्माण होता है।[2] अप्पय पुन कहते है कि शुभ अथवा अशुभ कर्म केवल व्यक्तियो के अन करण के गुण है। प्रलय के समय यह अत करण भी माया मे विलीन हो जाते हैं जहा वे अचेतन सस्कारो या वासनाओ के रूप मे रहते है तथा वहा रहने से नई सृष्टि म उन्हे व्यक्तिगत शरीरों तथा उनकी क्रियाओ के रूप मे उसी प्रकार उत्पन्न किया जा सकता है क्योकि यद्यपि वे माया मे विलीन हो गए थे तथापि वे परस्पर एकीभूत नही होते तथा आगामी जन्म मे

---

[1] एव च यथा नरपति प्रजना व्यवहार-दर्शने तदीय युक्तायुक्त-वचनानुसारेण अनुग्रह-निग्रह-विशेष कुर्वन् पक्षपातित्व—लक्षण वैषम्य न प्रतिपद्यते एवमीश्वरोऽपि तदीय-कर्म-विशेषानुसारेण विषमसृष्टि कुर्वन्न तत्प्रतिपद्यते।

—अप्पय दीक्षित की टीका, भाग २, पृ० ४७०।

[2] परमेश्वरो न स्वय साध्वसाधूनि कर्माणि कारयिनि तै सुख-दुखादीनि च नोत्पादयति, येन तस्य वैषम्यमापतेत्। किन्तु प्राणिन एव तथाभतानि कर्माणि यानि स्व-स्व-रुच्यनु-सारेण पूर्वसर्गेषु कुर्वन्ति तान्येव पुनस्सर्गेषु विषम-सृष्टि—हेतव भवन्ति।

—तत्रैव भाग २, पृ० ४८।

प्रत्येक अपनी विशेष बुद्धि तथा कर्मों से सयोजित हो जाते है।[1] उन आगमो मे जहाँ ३६ तत्त्वों की गणना की गई है नियति के नाम से कर्म नियम भी उन तत्त्वो में से एक माना गया है। यद्यपि नियति का तत्त्व स्वीकार किया गया है, तथापि यह अविवेकी रूप मे नहीं वरन् केवल ईश्वर के निरीक्षण मे ही क्रिया कर सकता है, जिससे एक व्यक्ति के कर्म अथवा कर्मफलो का दूसरे द्वारा अपहरण न हो जाय। शुद्ध नियति अथवा कर्म का नियम ऐसा नही कर सकता था। जिस विचार का यहाँ समर्थन किया गया है वह यह है कि जब सहार के समय समस्त कर्म गहरी निद्रा की अवस्था में होते हैं, ईश्वर उन्हे जागृत करता है तथा उनके अनुरूप शरीर की रचना मे सहायता देता है तथा अलग-अलग आत्माओ को उनके शरीरो से सयोजित करता है एव उनको, उनके कर्मों के अनुरूप सुख अथवा दु ख का अनुभव करवाता है।

यह समस्या अभी भी अस्पष्ट है कि हम किस प्रकार समस्त व्यक्तियो के इच्छा स्वातत्र्य का ईश्वर द्वारा किए निश्चय के साथ सामजस्य बिठाएँगे ? यदि ईश्वर हमारे शुभ या अशुभ रीति मे कार्य करने के लिए उत्तरदायी समझा जाता है तब ईश्वर द्वारा निर्धारण को अनादि जीवनो पर छोडने से, समस्या के समाधान मे सहायता नही मिलती। यदि ईश्वर निश्चय कर लेता है कि हमे अमुक रीति से इस जीवन मे व्यवहार करना है तथा यदि वह रीति हमारे पूर्व-जन्म के कर्मों द्वारा निश्चित की गई है उस जन्म की रीति उससे पूर्व जन्म के कर्मों के द्वारा, तब जब हम प्रारभिक निश्चय को खोजते है, तो हमारे लिए यह स्वीकार करना आवश्य हो जाता है कि ईश्वर पक्षपाती है, क्योकि किसी दूरस्थ काल मे उसने अवश्य ही हमारा भिन्न प्रकार से क्रिया करना निश्चित किया होगा तथा वह हमसे क्रिया करवाता है एव उसके अनुरूप सुख व दु ख का अनुभव करवाता है। इस प्रकार अतिम उत्तरदायित्व ईश्वर का है। इसके उत्तर मे अप्पय, श्रीकठ की टीका की व्याख्या करते हुए यह मानते है कि हमारा सबका अशुद्धियो के साथ जन्म हुआ था। हमारा बधन उस आवरण के साथ है जो हमारा विवेक तथा कर्म ढक लेता है तथा ईश्वर जिसे नित्य तथा अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं, हमसे इस प्रकार के कर्म करवाने का प्रयत्न करता रहता है जिनसे अत मे हम अपने को शुद्ध कर सकें तथा अपने को उसके समान बना सके। स्वाभाविक रूपातर द्वारा हमारी अशुद्धियो का सहार शरीर मे उस फोडे अथवा घाव के समान है जो कुछ कष्ट देने के पश्चात् ही अदृश्य हो जाता है। नित्य तथा नैमित्तिक वैदिक धर्म हमे

---

[1] परमेश्वरस्तु पूर्व-सर्ग-कृताना तत्तदन्त करण-धर्मरूपाणा साध्व साधु कर्मणा-प्रलये सर्वान्ति -करणाना विलीनतया मायायामेव वासना-रूपतया लग्नानां केवल असकरेण फल-व्यवस्थापक । अन्यथा मायायां सकीर्णेषु कर्मफल अन्यो गृह्णीयात् ।

—अप्पय दीक्षित की टीका, भाग २, पृ० ४८ ।

इन अशुद्धियो से मुक्त होने मे सहायता करते हैं जिस प्रकार औषधि घाव के आरोग्य मे सहायता करती है तथा इसके कारण जन्म व मृत्यु का चक्र आवश्यक हो सकता है। हमारे कर्मों के फलित होने पर ही उनसे ज्ञान उदित हो सकता है। इसी प्रकार वेदो मे निर्धारित नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों के सपादन द्वारा हमारे कर्म परिपक्व होते हैं तथा हम मे वैराग्य की भावना, शिव के प्रति भक्ति तथा उसके प्रति जिज्ञासा उदित होती है जो अत में हम मे विवेक उत्पन्न करती है जो मोक्ष की ओर प्रवृत्त करता है। ससार मे प्राप्त आवरण के बिना या उसके बाहर व्यक्ति के कर्म फलित नहीं हो सकते। अत अनत मोक्ष के लिए कुछ कार्यों का करना हमारे लिए आवश्यक है। ईश्वर हमसे इन कार्यों को करवाता है तथा हमारे कर्मों के अनेक रूपो के अनुसार वह भिन्न प्रकार के शरीरो का सृजन करता है, हमसे ऐसे कार्य करवाता है जिनसे हम दुःख भोगें, जिसके द्वारा हम धीरे-धीरे मोक्ष के अतिम लक्ष्य की ओर आगे बढ सके। हमारी प्रारभिक अशुद्धियो तथा क्रियाओ की विभिन्नता के अनुसार हमसे भिन्न प्रकार के कर्म करवाए जाते है जिस प्रकार एक चिकित्सक भिन्न प्रकार के रोगो के लिए भिन्न प्रकार की चिकित्सा निर्धारित करता है। यह सब ईश्वर के परम अनुग्रह के कारण है। श्रीकठ का 'कर्म' शब्द के प्रयोग से अभिप्राय यही है, कि कर्म वे है जिनके कारण ईश्वर की कारणता द्वारा जन्म व पुनर्जन्म का कालचक्र सभव हो सके।[1] अवश्य ही प्रलय मे कर्मों के फलित होने अथवा उनकी पूर्ति होने की कोई प्रक्रिया नही हो सकती अत वह अवस्था समस्त प्राणियो को विश्राम देने के लिए है।

ब्रह्म-सूत्र २-३-४१ मे श्रीकठ निश्चित रूप से स्पष्ट करते प्रतीत होते है कि जीव स्वय इस प्रकार के कार्य करते हैं जो पूर्व कर्मफलो के अनुरूप उनके विशेष प्रकार के कार्य करने अथवा विशेष प्रकार के कार्य नही करने का, कारण माने जा सकते है। आगे यह कहा गया है कि जब एक व्यक्ति किसी विशेष प्रकार से क्रिया करने अथवा विशेष क्रिया से निवृत्ति की कामना करता है, तब ईश्वर केवल उसकी सहायता करता है। अत अत मे एक व्यक्ति अपने सकल्पो के लिए स्वय उत्तरदायी है जिनका वह व्यावहारिक क्षेत्र मे अनुसरण ईश्वर की इच्छा द्वारा कर सकता है। मनुष्य का उत्तर-दायित्व उसके सकल्प की स्थापना तथा सकल्प को कार्यान्वित करने मे होता है तथा हमारे चारो ओर के बाह्य ससार मे हमारे सकल्प को कार्यान्वित करने मे ईश्वर का सकल्प हमे सहायता देता है। मनुष्य अपने कार्यों को इस प्रकार करता है कि जिनके अनुसार उसके हित सर्वोत्तम रूप से सतुष्ट हो सके। अत वह अपने कर्मों के लिए

---

[1] भाष्य "कर्म पाकमन्तरेण" इत्यादि-वाक्येषु कर्म शब्द "क्रियते अनेन ससार" इति करणव्युत्पत्त्या वा परमेश्वरेणापक्व क्रियत इति कर्म-व्युत्पत्त्या वा मलावरणपरो दृष्टव्य। —अप्पय दीक्षित की टीका भाग २, पृ० ५०।

उत्तरदायी है, यद्यपि सकल्प के वास्तविक रूप से कार्यान्वित होने के लिए वह ईश्वर पर निर्भर है। अत ईश्वर पर पक्षपात अथवा कठोरता का आरोप नही लगाया जा सकता, क्योकि ईश्वर केवल अपने संकल्प तथा आतरिक प्रयत्नो के अनुसार जीवों को कर्म करने की ओर प्रवृत्त करता है।[1]

किन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिए कि अप्पय के विचारानुसार मानव-सकल्प के आंतरिक प्रयत्नो के उपरांत भी व्यक्ति पूर्णरूप से ईश्वर द्वारा शासित है। इस प्रकार अप्पय इच्छा स्वातत्र्य के लिए कोई स्थान नही छोडते हैं।[2]

ब्रह्मसूत्र २-२-३६-३८ मे श्रीकठ, शकर के इस मत का खडन करने का विशेष प्रयत्न करते है कि शैव इस सिद्धात पर विश्वास करते थे कि ईश्वर ससार का निमित्त कारण था तथा इस रूप मे उसका ज्ञान अनुमान द्वारा किया जा सकता है। वह इस मत का भी खडन करते हैं कि ब्रह्मन् अथवा शिव ने प्रकृति अथवा बाह्य पदार्थ मे प्रवेश किया था तथा इस प्रकार विश्व म उसके विकास तथा रूपातर की प्रक्रिया का निरीक्षण किया। क्योकि उस स्थिति मे प्रकृति से सबधित सुख तथा दुख के अनुभव उसके लिए सभव हो जाते है। अत श्रीकठ मानते हैं कि शैव विचारानुसार ब्रह्मन् विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही है तथा वह केवल तर्क द्वारा नही वरन् वैदिकधर्म-पुस्तको द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। स्पष्ट है कि यहाँ पर श्रीकठ द्वारा प्रतिपादित विषय के विचार मे अस्थिरता है। यहाँ तथा उनकी रचना के प्रारभिक भाग मे, जैसा कि इगित किया गया है, श्रीकठ यह घोषित करते हैं कि यद्यपि ईश्वर विश्व का उपादान-कारण है, तथापि किसी प्रकार वह ससार के परिवर्तनो से अप्रभावित है।[3] अनत ब्रह्मन् अथवा शिव, चित् तथा अचित् (जो दोनो साथ चिच्छक्ति कहलाते हैं) की सूक्ष्म शक्ति मे सयोजित है तथा चिच्छक्ति से सयोजित होने के कारण भगवान् शिव एक है तथा समस्त वस्तुओ से परे है। जब सृष्टि के प्रारम्भ मे इस परम माया अथवा चिच्छक्ति से रचनात्मक माया निकलती है, जिसकी सर्पवत् गति है, तब वह शक्ति समस्त ससार का उपादान कारण बन जाती है। इसी से चार तत्त्व निकलते है—जैसे

---

[1] अतो जीव-कृत-प्रयत्नापेक्षत्वात् कर्मसु जीवस्य प्रवर्तक ईश्वरो न वैषम्यभाक्। तस्यापि स्वाधीन-प्रवृत्ति-सद्भावात् विधि-निषेधादि-वैयर्थ्य च न सभवतीति सिद्धम्।
—ब्रह्मसूत्र २-३-४१ पर श्रीकठ का भाष्य, पृ० १५७।

[2] तथा च परमेश्वर—कारित-पूर्व-कर्म-मूल-स्वेच्छाधीने यत्ने परमेश्वराधीनत्वन्न हीयते।
—अप्पय की टीका भाग २, पृ० १५६।

[3] जगदुपादन-निमित्त-भूतस्यापि परमेश्वरस्य 'निष्कलम् निष्क्रियम्' इत्यादि श्रुतिभि-र्निर्विकारत्वमप्युपपद्यते।
—ब्रह्मसूत्र २-२-३८ पर श्रीकठ का भाष्य, पृ० १०९।

शक्ति, सदाशिव, महेश्वर तथा शुद्ध विद्या। तत्पश्चात् मिश्रित स्वरूप की निम्न माया आती है जो वास्तव मे ससार तथा शरीरो की प्रत्यक्ष उपादान-कारण है। तत्पश्चात् आते है काल, नियति, विद्या, राग तथा आत्माएँ। दूसरे क्रम मे अशुद्ध माया से, समस्त ससार तथा जीवित प्राणियो के शरीर आते है। इससे बुद्धि, अहकार, मन, पाँच प्रकार की ज्ञानेद्रियाँ, पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रियाँ, तन्मात्रा नामक स्थूल पदार्थ के पाँच प्रकार के कारण तथा पदार्थ के पाँच प्रकार के तत्त्व भी आते है। इस प्रकार तेईस तत्व है। पूर्व के तत्वो की गणना कर लेने के पश्चात् कुल छत्तीस तत्त्व बनते है। यह तत्त्व शैव मूल ग्रथो मे भली प्रकार निर्दिष्ट है तथा उनकी वहाँ स्थापना, तार्किक प्रमाणो से तथा धार्मिक मूल ग्रथो के प्रमाण के आधार पर, दोनो से ही हुई है। जैसाकि पहले दिखाया गया है शुद्ध माया तथा अशुद्ध माया मे अतर किया गया है। अशुद्ध माया अपने मे समस्त कार्यों, जैसे, काल तथा अशुद्ध आत्माओ को सम्मिलित करती है। 'व्यक्त' शब्द का प्रयोग उपादान कारण अथवा बुद्धि सहित केवल भौतिक ससार के निर्देश के लिए हुआ है।

शक्ति द्वारा भी कभी-कभी शिव के तत्त्व का निर्देश हुआ है।[1] वायवीय सहिता मे शिव तत्त्व के लिए केवल शिव का प्रयोग भी हुआ है।

हमने पहले देखा कि शकर ने ब्रह्मसूत्र के इस विषय की व्याख्या इन भिन्न शैव अथवा महेश्वर सप्रदाय के मत के खडन के रूप मे की है जो ईश्वर को विश्व का निमित्त कारण मानते है। श्रीकठ ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर विश्व का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनो ही है। अपने समर्थन मे वह शिव-महापुराण की वायवीय-सहिता के मूल ग्रथो का यह दिखाने के लिए प्रस्तुत करते है कि वैदिक प्रमाण के अनुसार ईश्वर विश्व का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनो ही है। परन्तु श्रीकठ कहते है कि यद्यपि आगम तथा शैवमत का वैदिक विचार एक ही है क्योकि दोनो की शिव ने रचना की थी, तथापि कुछ आगमो जैसे, कामिक मे निमित्त पक्ष को अधिक प्रमुखता दी है, परन्तु उस प्रमुखता का यह तात्पर्य नही लेना चाहिए कि वह इस विचार का खडन करती है कि ईश्वर विश्व का उपादान-कारण भी है। यह सत्य है कि शैवमत के कुछ पथो जैसे, कापालिको अथवा कालमुखो मे कुछ कर्मकाड अशुद्ध रूप के है तथा उस हद तक वे वेद-विरोधी माने जा सकते है फिर भी वाराह-पुराण तथा अन्य पुराणो के प्रमाण से, शैवमत अथवा पाशुपत योग, वैदिक माना गया है। श्रीकठ तथा अप्पय ने प्राकृत तथा सास्कृतिक शैवमत के बीच की इस खाई

---

[1] शिव तत्त्व शब्देन तु शिव एवोच्यते। न तु अत्र शिव-तत्त्व-शब्द परशक्तिपर शक्ति-शब्दस्तत्कार्य-द्वितीय-तत्त्व-रूप-शक्तिपर।

—अप्पय दीक्षित की टीका भाग २, पृ० ११०।

को भरने का अथक प्रयत्न किया है जिनमे एक ओर शैवमत के वे रूप हैं जो वेदो के प्रमाण पर आधारित एव प्रथम तीन वर्णों के लिए थे तथा दूसरी ओर वे जो समस्त वर्णों के लिए हैं। दोनो यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि प्रस्तुत विषय शैवागमो मे प्रतिपादित विचारो के विरोध मे निर्देशित नही था, जैसीकि शकर ने व्याख्या की है, वरन् उन मतो के विरोध मे था, जो शैवदर्शन के किसी भी भाग मे नही आते हैं।

कुछ कल्पसूत्रो, मे कुछ मूल ग्रथो के वैध प्रमाण के विरुद्ध आरोपो की चर्चा है, परतु ये आरोप शिव द्वारा रचित आगमो पर लागू नही होते। यह कहा गया है कि शिव विश्व का उपादान कारण नही हो सकते क्योकि उपनिषद् यह मानते है कि ब्रह्मन् अपरिवर्तनशील है तथा इस प्रकार परिणाम-वाद का खडन करने का प्रयत्न किया है। 'परिणाम' का अर्थ है 'पूर्वावस्था से उत्तरावस्था मे परिवर्तन'। पुन, यह माना गया है कि शक्ति स्वय मे अपरिवर्तनशील है। यदि वह शक्ति 'चेतना' स्वरूप भी हो तब भी ऐसा परिवर्तन अग्राह्य होगा। इस विचार के विरोध मे यह माना गया है कि आध्यात्मिक बल अथवा शक्ति (चिच्छक्ति) मे सृष्टि अथवा सहार की कामना के अवसर पर परिवर्तन हो सकता है। जो चिच्छक्ति हमारे भीतर है वह बाहर आती है तथा इन्द्रियो द्वारा बाह्य पदार्थों के सम्पर्क मे आती है एव यह पदार्थो के हमारे प्रत्यक्षीकरण को स्पष्ट करती है। क्योकि हमे चिच्छक्ति के कार्यात्मक विस्तार (वृत्ति) के सिद्धात को स्वीकार करना होगा अत यह स्वीकार करना सुगम है कि मूल शक्ति का भी कार्यात्मक विस्तार तथा सकुचन है।[1]

श्रीकठ द्वारा प्रतिपादित शैव-सप्रदाय के अनुसार जीव ईश्वर से उत्पन्न नही हुए है वरन् उनका उसके साथ सह-अस्तित्व है। आत्माएँ ब्रह्मन् से चिन्गारी के समान निकली है। यह कहने वाले धार्मिक ग्रथो की व्याख्या, इस प्रकार की गई कि आत्माओ का बुद्धि, मन तथा भिन्न शरीरो मे केवल बाद मे सयोजन होता है। यह भी कहना पडेगा कि आत्माएँ इन्द्रियो तथा मन दोनो के जरिए चेतन ज्ञाता हैं। मन की व्याख्या उस ज्ञान के विशेष लक्षण अथवा गुण के रूप मे की गई है जो आत्मा को प्राप्त है तथा जिसके कारण वह ज्ञाता है। इस मन का उस निम्न प्रकार के मन से भेद करना होगा जो प्रकृति की उत्पत्ति है तथा जो जन्म व पुनर्जन्म की प्रक्रिया मे माया की शक्ति के सयोजन द्वारा आत्माओ से सयोजित हो जाता है। यह शक्ति इसको ज्ञाता के रूप मे एक विशेष गुण दे देती है जिससे यह सुख तथा दुःख का भोग अथवा

---

[1] तेष्वपि सिसृक्षा-सजिहीर्षादि—व्यवहारेण शिव-चिच्छक्ते 'चिच्छक्तिरर्थ-सयोगोध्यक्ष-मिन्द्रिय मार्गत,' इति चिच्छक्ति-वृत्ति-निर्गम-व्यवहारेण-जीव-चिच्छक्तेश्च परिणामित्व-माविष्कृतमेवेति भाव।

—अप्पय दीक्षित की टीका भाग २, पृ० ११२।

सहन कर सकती है एव जो शरीर व अहकार तक सीमित है। इसी मन के कारण आत्मा जीव कहलाती है। जब ब्रह्मज्ञान द्वारा अशुद्धियो से इसके तीन प्रकार के सयोजन को हटा दिया जाता है तब यह ब्रह्मन् के समान हो जाती है तथा मोक्षावस्था मे इसका आत्मज्ञान अपने को अभिव्यक्त करता है। यह ज्ञान लगभग ब्रह्मज्ञान के समान है। इस अवस्था मे आत्मा अपने स्वाभाविक आनद का अनुभव केवल मन द्वारा, बिना किसी आतरिक अगो के सयोजन कर सकती है। आनद के अनुभव के लिए केवल मन ही एक आतरिक अग है तथा किसी बाह्य अग की आवश्यकता नही है। जीव तथा ईश्वर मे यह अन्तर है कि ईश्वर सर्वज्ञ है तथा जीव को जन्म व पुनर्जन्म की प्रक्रिया के समय ही विशेष रूप से वस्तुओ का ज्ञान होता है। परतु मोक्ष की वास्तविक अवस्था मे आत्माएँ भी सर्वज्ञ हो जाती है।[1] श्रीकठ यह भी मानते है कि समस्त आत्माएँ आकार मे अणु हैं तथा शुद्ध-चित् स्वरूप नही हैं वरन् उन सबको उनके स्थायी गुण के रूप मे ज्ञान प्राप्त है। इन समस्त विषयो पर श्रीकठ का शकर से मतभेद है तथा रामानुज से आशिक रूप मे सहमति है। चेतना के रूप मे ज्ञान आत्मा का उपलब्ध गुण नही है जैसाकि नैयायिको तथा वैशेषिको ने माना है, वरन् इसका सदैव आत्माओ के स्वरूप मे सह-अस्तित्व है। जैसा कुछ दार्शनिक सिद्धात मानते है, जीव केवल प्रतिभासिक कर्त्ता नही वरन् वे भी अपनी क्रियाओ के वास्तविक कर्त्ता माने जाते है। इस प्रकार साख्य दार्शनिक मानते है कि प्रकृति वास्तविक कर्त्ता है तथा उन सुखो व दुखो की वास्तविक भोक्ता है जो मिथ्या रूप से जीवो पर आरोपित किए जाते हैं। किन्तु श्रीकठ के अनुसार आत्माए अपने कर्मों की वास्तविक कर्त्ता तथा वास्तविक भोक्ता दोनो ही है। व्यक्ति के सकल्प द्वारा ही क्रिया का सपादन होता है तथा कर्त्ता के अर्थ मे कोई मिथ्यारोपण नही है जैसाकि साख्य तथा अन्य विचारधाराएँ मानती है। आत्माएँ अत मे ब्रह्मन् का अश मानी जाती है तथा श्रीकठ उस अद्वैत विचार के खडन का प्रयत्न करते है जिसमे कारण तथा उपाधि की सीमाओ के द्वारा ईश्वर भ्रमात्मक रूप से जीव प्रतीत होता है।[2]

इस विचार के विषय मे कि कर्म अपने फल स्वयअथवा अपूर्व नामक कुछ प्रभावो की मध्यस्थता द्वारा प्रत्यक्ष उत्पन्न करते है, श्रीकठ का विश्वास है कि अचेतन होने के कारण कर्मों से यह आशा नही की जा सकती कि वे विभिन्न जन्मो तथा विभिन्न शरीरो

---

[1] तत्सदृश-गुणत्वादपगत-ससारस्य जीवस्य स्वरूपानन्दानुभवसाधन मनोरूपमनत कारणमनपेक्षित-बाह्य कारणमस्ति इति गम्यते। ज्ञाज्ञौ इति जीवस्य अज्ञत्व किंचिज्ज्ञत्वमेव। असंसारिण परमेश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वमुच्यते। अत ससारे किंचिज्ज्ञत्व मुक्तौ सर्वज्ञत्वमिति ज्ञाता एव आत्मा।

—ब्रह्मसूत्र २-३-१६ पर श्रीकठ का भाष्य, पृ० १४२-३।

[2] ब्रह्मसूत्र २-३-४२-५२ पर श्रीकठ का भाष्य।

मे होने वाले अनेक प्रकार के कार्यों का उत्पादन कर सकते हैं। अत यह स्वीकार करना होगा कि क्योंकि कर्मों का संपादन मनुष्य के मूल स्वतंत्र संकल्प के अनुरूप ईश्वरके संकल्प द्वारा अथवा बाद की अवस्थाओं मे उसके अपने कर्म द्वारा निश्चित होता है इस कारण समस्त कर्मों के स्वरूपों का भी, उपयुक्त क्रम मे ईश्वर के अनुग्रह द्वारा वितरण किया जाता है।[1] इस प्रकार एक ओर हमारे कार्यों के लिए अन्तत ईश्वर का उत्तरदायित्व सिद्ध होता है, दूसरी ओर हमारे कर्मों के अनुसार हमारे सुख-दुःख भोग के लिए भी। हमारी स्वेच्छा द्वारा किए गए कार्यों तथा हमारे कर्मों के अनन्तर भावी फल के लिए हमारे नैतिक दायित्व पर उससे कोई विपरीत प्रभाव नही पडता।

मोक्ष की अवस्था मे मुक्त आत्मा, निर्गुण अवस्था मे ब्रह्मन् से एक नही हो जाती। वे उपनिषद् जो यह घोषित करते है कि ब्रह्मन् निर्गुण है, उनका इस घोषणा से केवल यह अर्थ है कि ब्रह्मन् मे कोई भी अनुचित गुण नही है तथा उसे वे सभी श्रेष्ठ गुण प्राप्त है जो ईश्वर के विषय मे हमारी कल्पना के अनुरूप है। जब मोक्ष की अवस्था मे मुक्त आत्माएँ ब्रह्मन् मे एक हो जाती है तब इसका केवल यही अर्थ है कि वे ईश्वर के साथ उसके सभी श्रेष्ठ गुणो की भागी होती है, परन्तु वे कभी समस्त गुणो से रहित नही हो पाती जैसाकि शंकर की अद्वैतवादी व्याख्या अवबोध कराती प्रतीत होती है। यह पहले ही इंगित किया जा चुका है कि ईश्वर मे एक ही समय मे अनेक विशेषताएँ हो सकती है तथा ऐसा विचार स्व-विरोधी नही होगा यदि यह न कहा जाय कि उसमे एक ही समय मे अनेक परस्पर विरोधी गुण है। इस प्रकार कमल को हम श्वेत, सुगंधित तथा वृहत् कह सकते है परन्तु हम यह नही कह सकते कि एक ही समय मे वह नीला तथा श्वेत है।[2]

श्रीकंठ यह मानते है कि केवल वे कर्म जो फल देने की अवस्था मे परिपक्व हो चुके हैं (प्रारब्ध कर्म), निरंतर फल दिए जाएगे तथा वे ऐसा तबतक करते रहेगे जबतक कि प्रस्तुत शरीर नष्ट नही हो जाता। किसी भी परिमाण मे ज्ञान अथवा अनुभूति, हमे हमारे द्वारा उपार्जित कर्मों के सुखो अथवा दुःखो के अनुभव से नही बचा सकते, परंतु यदि हम शिव के उस स्वरूप का, जिसमे हम शिव मे एक हैं, निरंतर ध्यान करके ज्ञान प्राप्त कर ले तब हमे उन संचित कर्मों के लिए, जो अभी सुख अथवा दुःख के फल देने की अवस्था के लिए परिपक्व नही हुए है, जन्म तथा पुनर्जन्म नही भोगना पडेगा।[3]

जब समस्त मल नष्ट हो जाते है तथा व्यक्ति मुक्त हो जाता है, तब वह उस मुक्त अवस्था मे विश्व सृजन की शक्ति के अतिरिक्त समस्त आनंदपूर्ण अनुभवो तथा सभी

---

[1] ब्रह्मसूत्र ३-२-३७-४० पर श्रीकंठ का भाष्य।

[2] ब्रह्मसूत्र ३-३-४० पर श्रीकंठ का भाष्य।

[3] ब्रह्मसूत्र ४-१-१९ पर श्रीकंठ का भाष्य।

प्रकार की शक्तियो का भोग कर सकता है। वह नि शरीर रहकर भी केवल अपनी बुद्धि के द्वारा समस्त सुखो का अनुभव कर सकता है तथा वह एक ही समय मे ऐसे अनेक आध्यात्मिक पदार्थों को सजीव कर सकता है अथवा उनका पुनर्निर्माण कर सकता है जो प्रकृति के नियमो से परे हैं तथा उनके द्वारा वह किसी भी ऐसे आनद का अनुभव कर सकता है जिसकी उसे कामना हो। किन्तु किसी भी स्थिति में वह उस अवस्था से, कर्म के नियम के अन्तर्गत जन्म व पुनर्जन्म भोगने के लिए नही लाया जाता वरन् अपने मे उन भगवान शिव के समान सर्वथा स्वाधीन रहता है जिनके साथ वह सभी प्रकार के सुखकारक अनुभवो मे भाग ले सकता है। इस प्रकार वह अपना व्यक्तित्व तथा सुख भोगने की शक्ति रखता है। वह ऐसा केवल अपनी बुद्धि के द्वारा अथवा अपने अमूर्त शरीर तथा इन्द्रियो द्वारा करता है। उसके अनुभव कभी भी साधारण मनुष्यो के अनुभवो के समान नही होगे जो विशेष लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अनुभवो का प्रयोग करते है। ससार का उसका अनुभव ऐसा अनुभव होगा जिसका स्वरूप ब्रह्मन के अनुभव के समान होगा।[1]

---

[1] ब्रह्मसूत्र ४-४-१७-२२ पर श्रीकठ का भाष्य।

अध्याय १७

पुराणों में शैव-दर्शन

शिव महापुराण में शैव-दर्शन

शैव-धर्म तथा दर्शन की प्राचीनता की व्याख्या हम पृथक् खंड मे करेगे। यह दुख का विषय है कि शैवमत के प्राचीनतम काल से निरंतर विकास के इतिहास की खोज अत्यंत कठिन ही नही वरन् लगभग असभव है। हम इससे अधिक कुछ नही कर सकते कि शैवमत के विभिन्न सदर्भो मे दिए हुए विभिन्न पक्षो का पृथक् अध्ययन करे तथा तब उनका एक साथ सकलन करदे यद्यपि यह पूर्णत सतोषजनक सकलन नही हो पाएगा। इस स्थिति के अनेक कारण है। प्रथम तो शैवमत सस्कृत तथा द्रविड भाषाओ मे व्यक्त किया गया था। यह भी अभी निश्चित नही कि द्रविड ग्रथ सस्कृत ग्रथो के अनुवाद थे अथवा केवल सस्कृत लेखो से प्रेरित थे। बाद के लेखक यहाँ तक कि पुराण भी यह मानते है कि सस्कृत अथवा द्रविड सभी शैव धार्मिक पुस्तको के ग्रथाकार शिव थे। निश्चय ही उनका आशय प्राचीनतम लेखो अर्थात् आगमो से है।

हमे प्राचीनतम आगमो के निश्चित काल का ज्ञान नही है। 'आगम' शब्द की कुछ व्याख्या की आवश्यकता है। इसका अर्थ है 'मूल ग्रथ जो हम तक आए है' तथा जो ईश्वर अथवा किसी पौराणिक श्रेष्ठ व्यक्ति के द्वारा निर्मित माने गए है। शिव-महापुराण की वायवीय-संहिता मे हमारे पास अट्ठाईस शिवाचार्यो की सूची है तथा इनका उल्लेख दसवी शताब्दी ई० तक किया गया है। परतु इन शैव शिक्षको की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए कुछ भी नही है, न ही हमे यह ज्ञात है कि कौन से आगम हमे उनमे से किससे प्राप्त है। दक्षिण मे आर्य सभ्यता के प्रवेश के पूर्व किसी द्रविड दार्शनिक सभ्यता के विषय मे हमे कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नही है। अत यह कल्पना करना कठिन है कि सस्कृत रचनाओ के सदृश द्रविड रचनाएँ किसी प्रकार हो सकती थी।

अन्य कठिनाई यह है कि इनमे से पूर्व काल के अनेक आगम अब नही मिलते है। वर्तमान मे उपलब्ध आगमो मे से अनेक सस्कृत मे विभिन्न द्रविड लिपियो मे लिखे है। ब्रह्मसूत्र के शाकर भाष्य मे उल्लिखित शैवदर्शन के सप्रदायो के अभिलेख अवश्य ही सस्कृत मे लिखे गए होगे परतु प्रस्तुत लेखक ७वी व ८वी शताब्दी मे उल्लिखित समस्त सप्रदायो की ठीक-ठीक पहिचान शैवविचार के वर्तमान अभिलेखो मे उपलब्ध सप्रदायो से तादात्म्य

बिठाकर करने मे पूर्णत असमर्थ है। रामानुज मे वैष्णव-विचार की पुनर्जागृति के साथ-साथ शैवविचार का बृहत् विकास बारहवी शताब्दी से हुआ था परतु रामानुज स्वय शैवमत के उन समस्त सप्रदायो का उल्लेख नही करते है जिनका शकर तथा वाचस्पति मिश्र ने अपनी भामती की टीका मे उल्लेख किया है। रामानुज, कालमुखो तथा कापालिकाओ का केवल उल्लेख करते है, उनके दार्शनिक विचारो के विषय मे कोई साहित्य अब प्राप्त नही है। सभवत कापालिक पथ का अब भी यहाँ-वहाँ अस्तित्व है तथा उनकी कुछ प्रथाओ को देखा जा सकता है परतु कालमुखो की प्रथाओ पर किसी साहित्य की खोज अबतक हम नही कर सके है। परतु हम इस समस्या पर तब विचार करेगे जब हम शैव-विचार की प्राचीनता तथा उसके विभिन्न सप्रदायो का निरूपण करेगे। वर्तमान समय मे साधारण रूप से ज्ञात दक्षिणी शैवमत के तीन सप्रदाय है—वीर शैव, शिवज्ञान-सिद्धि-सप्रदाय तथा श्रीकठ द्वारा वर्णित शैवमत का सप्रदाय। हमने दो खडो मे श्रीकठ के शैवमत की व्याख्या की है। चौदहवी शताब्दी मे माधव कृत सर्वदर्शन-सग्रह मे पाशुपत शैवमत के सप्रदाय का उल्लेख है तथा महा-भारत एव अनेक पुराणो मे पाशुपत-सप्रदाय का उल्लेख है। शिव-महापुराण मे, विशेषत उसके वायवीय-सहिता नामक अतिम खड मे हमे पाशुपत-दर्शन का वर्णन मिलता है। अत मै शिव महापुराण की वायवीय सहिता मे प्राप्त पाशुपत-प्रणाली के वर्णन को एकत्रित करने का प्रयत्न करूँगा।

स्वय पुराण के ही प्रमाणानुसार शिव-महापुराण स्वय शिव द्वारा लिखी हुई सात भागो मे विभाजित एक लाख पद्यो की बृहत् रचना है। कलियुग मे व्यास ने इस बृहत् रचना को चौबीस हजार पद्यो मे सक्षिप्त किया है। व्यास की ऐतिहासिकता के विषय मे हमे कुछ भी ज्ञात नही है। पुराणो मे से बहुत से उनके लिखे हुए माने जाते है। किन्तु वर्तमान महापुराण मे सात खड है जिसका कि वायवीय-सहिता नामक अतिम खड दो भागो मे विभाजित है तथा शैवमत के भिन्न सप्रदायो के विचारो को स्पष्ट करता माना जाता है। हमारी व्याख्या के अनुसार यह केवल एक सप्रदाय अर्थात् पाशुपत शैवमत के दो विभिन्न रूपो को दर्शाता है। जिन रचनाओ को हम अबतक खोज सके है उनमे से कोई भी रचना शिव अथवा महेश्वर की नही ठहराई गई है यद्यपि ब्रह्मसूत्र २-२-३७ पर शकर अपने भाष्य मे महेश्वर द्वारा लिखे सिद्धात ग्रथो का उल्लेख करते है। हमने कुछ आगमो की खोज की है परतु यह आगम सिद्धात नही कहलाते है, न ही वे महेश्वर द्वारा लिखित माने जाते है। शिव-महापुराण के प्रमाणानुसार अनेक ऐसे शैव आचार्य है जिन्हे तथा जिनके अनेक शिष्यो को शिव का अवतार माना जाता है। परतु इन पौराणिक आचार्यो के विषय मे हमे कुछ भी ज्ञात नही है। शैवमत के सिद्धातो को समझाते हुए एक उपमन्यु नामक आचार्य का उल्लेख वायवीय-सहिता के खड मे अनेक जगह मिलता है। उपरोक्त शाकर भाष्य मे शैवमत का वर्णन बहुत अपूर्ण है परतु

उससे यह प्रतीत होता है कि शैव, प्रकृति को उपादान-कारण तथा शिव को निमित्त-कारण मानते थे, तथा इस उपरोक्त विचार की "ईश्वर कारणियो" के सप्रदाय के रूप मे शंकर विशेषत आलोचना करते हैं जिसका यह अर्थ निकलता है कि ईश्वर के रूप में एक पृथक् निमित्त-कारण का विचार उपनिषद् सहन नही कर सकते थे। वाचस्पति भी इगित करते हैं कि उपादान कारण होने के कारण प्रकृति का निमित्त-कारण ईश्वर से तादात्म्य नही हो सकता। शैवमत मे शकर तथा शैवो के मध्य विवाद-विषय के समाधान की समस्या हमारे सम्मुख आती है। श्रीकठ के भाष्य की हमारी परिभाषा वह दिशा दर्शाती है जिसमे शैव, समस्या का समाधान करना चाहते हैं परन्तु श्रीकठ का भाष्य सभवत ग्यारहवी शताब्दी से पूर्व का नही है तथा शैवमत की अनेक अन्य रचनाएँ केवल बारहवीं शताब्दी तक ही खोजी जा सकती हैं। शिव-महापुराण के प्रमाण पर जो अवश्य ही शकर से पूर्व लिखा गया होगा, हमे ज्ञात है कि शैव आचार्यों द्वारा शैव रचनाएँ उन दोनो के लिए लिखी गई थी जो वर्णाश्रम धर्म के अनुयायी थे तथा वे जो वर्णाश्रम धर्म की ओर कोई ध्यान नही देते थे और जिन्हे वेदो के अध्ययन का विशेषाधिकार नही था। अन्य दूसरे प्रकार के व्यक्तियों के लिए लिखी गई रचनाएँ अवश्य ही दक्षिण की द्रविड रचनाए होगी, जिनमे से अनेक अब खो गई है तथा जिनकी कुछ परपराएँ अब सस्कृत आगमो मे मिलती हैं। दूसरे खड मे हमने पहले ही इनकी व्याख्या कर ली है। हम यह दर्शाने का अवसर मिलेगा कि शैवमत का काश्मीरी रूप शकर के लगभग समकालीन था।

शिव-महापुराण के रुद्र सहिता नामक दूसरे खड मे हमे यह बताया गया है कि महाप्रलय के समय, जब समस्त पदार्थ नष्ट हो गए थे, तब न सूर्य, न ग्रह, न तारे, न चन्द्रमा, न दिन, न रात्रि थे, अपितु केवल अधकार था, समस्त शक्तिरहित केवल शून्यता थी। किसी भी प्रकार की कोई सवेदनशीलता नही थी, यह वह अवस्था थी जिसमे न सत्ता थी, न असत्ता थी यह बुद्धि एव वाणी तथा नाम व रूप से परे थी। परन्तु फिर भी उस तटस्थ अवस्था मे केवल शुद्ध सत्ता, शुद्ध चित्, अनत तथा पर आनद था जो अथाह तथा स्वय अपने प्रकार की एक अवस्था मे स्थित था, यह निराकार तथा सवगुण-रहित था।[1] यह पूर्णत शुद्ध चित के स्वरूप का, अनादि, अनत तथा विकास रहित था। शनै शनै द्वितीय कामना अथवा सकल्प उदित हुआ जिससे निराकार अपनी स्वय की लीलामय क्रियाओ द्वारा किसी आकार मे परिवर्तित हो गया। यह उस सर्वस्रष्टा शुद्ध शक्ति के रूप मे माना जा सकता है जिसके सदृश कुछ नही है। इस शक्ति

[1] सत्य ज्ञानमनन्त च परानन्द पर मह
अप्रमेयमनाधारमविकारमनाकृति।
निर्गुण योगिगम्य च सर्वव्याप्येककारकम्।
—शिव-महापुराण २-१-६,२ डी० सी० १८।

द्वारा निर्मित आकार सदाशिव कहलाता है। मनुष्य इसको ईश्वर भी कहते हैं। एकाकी शक्ति ने, स्वत गतिशील होकर स्वय से अपना नित्य शरीर बनाया जो प्रधान, प्रकृति अथवा माया कहलाता है तथा जो बुद्धि के तत्त्व को उत्पन्न करता है। यह माया अथवा प्रकृति सब प्राणियो की निर्मात्री है तथा यह ईश्वर से भिन्न परम पुरुष शिव, जो शभु भी कहलाते हैं—के सम्पर्क मे आने वाली मानी जाती है। यह शक्ति काल भी मानी जाती है।

प्रकृति से महन् अथवा बुद्धि विकसित हुई तथा बुद्धि से तीन गुण सत्व, रजस् व तमस् तथा इनसे तीन प्रकार के अहकार विकसित हुए। अहकार से तन्मात्रा, पचभूत, पाच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाच ज्ञानेन्द्रिया तथा मनस् विकसित हुए।

शिव-महापुराण की कैलाश-सहिता मे शैवमत का विचार शिवाद्वैत-प्रणाली अथवा शैवमत के अद्वैत सिद्धात के रूप मे वर्णित है।[1] यहाँ यह कहा गया है कि क्योंकि समस्त जीवित प्राणी एक नर भाग अथवा एक मादा भाग से निर्मित है अत मूल कारण का भी सयुक्त नर-मादा सिद्धात से प्रतिनिधित्व होना चाहिए। वास्तव मे इसी विचार के आधार पर साख्य ने मूल कारण को प्रकृति एव पुरुष के रूप मे माना था। परन्तु उन्होने केवल तार्किक आधारो पर इसकी स्थापना का प्रयत्न किया था, आस्तिक दृष्टि से वे इसकी स्थापना करने के इच्छुक नही थ। इसी कारण यद्यपि कुछ साख्य तत्त्व स्वीकार किए गए तथापि पूर्णतया बुद्धिवादी प्रणाली होने के कारण सम्पूर्ण साख्य का परित्याग किया गया। वेदो मे ब्रह्मन् सत्-चित्-आनद का समन्वित रूप माना जाता है तथा नपुसक लिग मे है। ब्रह्मन् मे 'सत' की स्थिति का अर्थ है कि वहाँ सत्ता का पूर्ण निषेध नही है। इस सत् को नपुसक स्वरूप मे मानना यह तथ्य प्रदर्शित करता है कि यह पुरुष है तथा यह पुरुष प्रकाश स्वरूप भी है। सत-चित्-आनद के ऐक्य मे शुद्ध चित् मादा भाग का प्रतिनिधित्व करती है। अत दो भाग जो नर व मादा माने जाते है, प्रकाश तथा शुद्ध चित् है तथा ये दोनो मिलकर ससार के उत्पादक कारण बनते है। अत सत्‌चित् व आनन्द के ऐक्य मे शिव तथा शक्ति का ऐक्य निहित है। कभी-कभी इस प्रकाश के भी प्रतिबधक या आवरण आ जाते है, उसी तरह जिस प्रकार वर्तिका की ज्वाला पर धूम्र तथा अन्य अशुद्धियों का आवरण या प्रतिबध आ जाता है। मल शिव मे नही है परन्तु शुद्ध चित् की अग्नि मे दिखते है। इसी कारण चिच्छक्ति अथवा शुद्ध चित् की शक्ति मानव आत्माओ मे अशुद्ध अवस्था मे दिखती है। इस मल के निष्कासन के लिए ही शक्ति की सर्वकालीन व्यापकता की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार शक्ति बल का प्रतीक है। परमात्मन् मे शिवपक्ष तथा शक्तिपक्ष दोनो है।

---

[1] उत्पाट्याज्ञान सम्भूत सशयाख्य विष-द्रुमम्,
शिवाद्वैत महा-कल्प-वृक्ष-भूमिर्यथा भवेत्। —तत्रैव, ६-१६-२।

शिव तथा शक्ति के सम्मिलन के कारण ही ग्रानद होता है। ग्रात्मन शुद्ध चित् है तथा यह चित् अपने में सर्वज्ञान तथा सर्वशक्ति धारण करती है, यह स्वतत्र एव स्वाधीन है तथा यह उसकी प्रकृति है। शिव-सूत्र मे ज्ञान का वर्णन बधन के रूप मे हुग्रा है परन्तु यहाँ 'ज्ञान' शब्द से तात्पर्य केवल अनित्य सीमित तथा ग्रशुद्ध ज्ञान से है जो समस्त मनुष्यो मे है तथा केवल इसी ग्रर्थ मे ज्ञान को बधन माना जा सकता है।

शक्ति स्पद भी कहलाती है। ज्ञान, गति तथा सकल्प शिव के तीन पक्षो के समान है तथा मनुष्यो को इन्ही से प्रेरणा मिलती है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है सयुक्त शिव तथा शक्ति पराशक्ति प्रदान करते हैं तथा इस पराशक्ति से चेतना की शक्ति ग्रथवा चिच्छक्ति विकसित होती है। इससे शक्ति ग्रथवा ग्रानद ग्रथवा ग्रानद शक्ति का विकास होता है तथा इससे इच्छाशक्ति तथा उससे ज्ञान शक्ति एव क्रियाशक्ति विकसित होते हैं। शिव के पक्ष मे स्पद का प्रथम तत्त्व शिव-तत्त्व कहलाता है। ससार तथा जीव का पूर्ण रूप मे शिव के साथ तादात्म्य है तथा इसका ज्ञान प्राप्त करना मोक्ष की ग्रोर प्रवृत्त करता है।

परम प्रभु अपने को सकुचित कर लेते हैं तथा अपने ग्रापको उन जीवो मे ग्रभिव्यक्त करते हैं जो प्रकृति के गुणो के भोक्ता हैं। पाँच प्रकार की कलाग्रो की प्रक्रिया द्वारा यह भोग होता है। एक कला व्यक्ति को क्रिया करने की ग्रोर प्रवृत्त करती है, दूसरी उसे द्विविध विद्या के वस्तुसत्य का ज्ञान कराती है, तीसरी उसे रागो से अनुरक्त करती है, काल वस्तुग्रो को क्रम से घटित करवाता है, नियति (जो प्रारब्ध के लिए नही वरन् ग्रन्त करण के लिए एक विशेष ग्रर्थ मे प्रयुक्त हुई है) वह तत्त्व है जो यह उसे निश्चित करने की प्रेरणा देता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए क्या नही करना चाहिए।[1]

पुरुष ग्रथवा जीव को सचित रूप मे ज्ञान के गुणसकल्प ग्रादि प्राप्त हैं। तथाकथित चित्त, ग्रथवा मानसिक स्तर का निर्माण प्रकृति मे स्थित विभिन्न गुणो द्वारा हुग्रा है। बुद्धि से विभिन्न इन्द्रियो तथा सूक्ष्म पदार्थ का विकास होता है।

उपर्युक्त विचारधारा ग्रर्थात् शिवाद्वैत-प्रणाली बहुत ग्रव्यवस्थित रीति से निबद्ध है। इसे सक्षेप मे इस प्रकार विभिन्न स्थानो पर प्राप्त विवेचन से व्यक्त किया जा सकता है। एक तो ब्रह्म का यह मत उस काल की एक निर्गुण सत्ता या ग्रसत्ता के रूप मे मानता है जबकि विश्व मे शून्य के अतिरिक्त कुछ नही होता इस सत्ता-ग्रसत्तात्मक ब्रह्मन् से एक ऐसा तत्त्व उत्पन्न होता है जो स्वय मे नरमादा की उस शक्ति

---

[1] इद तु मम कर्तव्यमिद नेति नियामिका, नियतिस्स्यात्।
—शिव-महापुराण, ६-१६-८३।

के दो तत्वो का प्रतिनिधित्व करता है जो समस्त जीवित प्राणियो मे व्यापक है। इस तत्त्व अर्थात् शिव से, एक ओर, जीव उद्भूत होते हैं जो परमेश्वर के स्वरूप की एक सकुचित अभिव्यक्ति है तथा दूसरी ओर साख्य के सिद्धात की तरह ही मादाशक्ति-पक्ष "प्रकृति" से उद्भूत समान ससार है। पुरुष मे पाँच प्रकार के तत्त्व माने जाते हैं जिनके द्वारा वह अपने तथा ससार के समागम के सुख तथा दुख का भोग कर सकता है। सकुचित रूप मे आ जाने के कारण, जीव अशुद्ध रूप मे दिखलाई देते है जिस प्रकार वर्तिका की शिखा मे धूम्र आदि अशुद्धियाँ या प्रतिबध दिखलाई देते है। इस प्रकार पूर्णरूप से प्रत्ययवादी न होते हुए भी सपूर्ण प्रणाली एक प्रकार के एकतत्त्ववाद की ओर प्रवृत्त है। श्रीकठ के दर्शन से इसकी समीपता अथवा सादृश्य तुरन्त स्पष्ट हो जायेगे यद्यपि व्यक्त करने की पद्धति मे अतर है। कुछ गद्याश ऐसे है जो हमे काश्मीर शैवमत के कुछ उन रूपो का स्मरण दिलाते है जो यद्यपि एकतत्त्ववादी थे तथापि यहाँ व्यक्त किए हुए एक तत्त्व-वाद से विशेषकर भिन्न थे। हमे यहाँ काश्मीर शैवमत के स्पद सिद्धात का भी उल्लेख मिलता है। परतु इसके बावजूद हमे यह नही समझना चाहिए कि एक तत्त्ववादी शैवमत प्रथम बार इस पुराण अथवा इस अध्याय मे प्रतिपादित किया गया था। हम अन्यत्र यह प्रतिपादित करेगे कि ईसा की पहली शताब्दी के आसपास स्पष्टत एक तत्त्ववादी शैवमत का अस्तित्व था। बहरहाल काश्मीर शैवमत सभवत सातवी से ग्यारहवी शताब्दी तक आते-आते विकसित हुआ। अत यह माना जा सकता है कि शिव-पुराण का उल्लिखित अध्याय नवी अथवा दसवी सताब्दी के समीप किसी समय लिखा गया होगा जो श्रीकठ का काल भी माना जा सकता है। यद्यपि यह भी हो सकता है कि वह रामानुज के बाद ग्यारहवी शताब्दी मे किसी समय हुए हो। यथा-स्थान हम इन विषयो पर अधिक विस्तार से विचार करेगे।

शिव-महापुराण की रुद्र-सहिता के द्वितीय अध्याय[1] मे शिव का यह कथन आता है कि परम तत्त्व, जिसका ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराता है, शुद्ध चेतना है तथा उस चेतना मे आत्मन् तथा ब्रह्मन् के मध्य कोई भेद नही है।[2] परतु आश्चर्य है कि शिवभक्ति तथा ज्ञान का तादात्म्य करते प्रतीत होते है। भक्ति के बिना कोई ज्ञान प्राप्त नही हो सकता।[3] जहाँ भक्ति है वहाँ ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने मे जातिभेद बाधक नही

---

[1] शिव-महापुराण, २-२-२३।

[2] परतत्त्व विजानीहि विज्ञान परमेश्वरि
द्वितीय स्मरण यत्र नाह ब्रह्मेति शुद्धधी।

—शिव-महापुराण २-२-२३-१३।

[3] भक्तौ ज्ञाने न भेदो हि
विज्ञान न भवत्येव सति भक्ति-विरोधिन।

है। वहाँ शिव भक्ति के विभिन्न भेदों का वर्णन भी करते हैं। इस अध्याय में वर्णित भक्ति का स्वरूप यह दर्शाता है कि भक्ति भावात्मक उद्गार नहीं मानी जाती थी, जैसाकि हमें भक्ति मार्ग के चैतन्य सम्प्रदाय में मिलता है। शिव के नाम का श्रवण, भजन, उनका ध्यान उनकी पूजा एवं अपने को उसका सेवक समझना तथा मित्रता की भावना का विकास करना जिसके द्वारा मनुष्य अपने को भगवान शिव को समर्पण कर सके यह शैवमत मे भक्ति का स्वरूप माना गया है। शिव के नाम का भजन पुराणों मे दी हुई शिव की कथा के संदर्भ मे किया जाता है। शिव पर चिन्तन इस विचार के आलोक मे किया जाता है कि शिव सर्वव्याप्त तथा सर्वव्यापी है। भक्ति के द्वारा ही सत्य ज्ञान हो सकता है तथा सांसारिक पदार्थों से निवृत्ति हो सकती है।

४-४१ मे चार प्रकार के मोक्ष-सारूप्य, सालोक्य, सानिध्य तथा सायुज्य वर्णित हैं। हमने पहले ही चतुर्थ भाग मे मोक्ष के उन स्वरूपों का निरूपण कर लिया है जो वैष्णवों के मध्व-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने स्वीकार किए हैं, तथा यह मोक्ष केवल शिव द्वारा ही प्रदान किया जाता है जो प्रकृति के गुणों से परे है।

यहाँ (४-४१) शिव के स्वरूप का वर्णन प्रकृति से परे तथा निर्विकारीण के रूप मे किया गया है। वह शुद्ध ज्ञान स्वरूप, अपरिवर्तनशील तथा सर्वदर्शी के स्वरूप का है। कैवल्य नामक पाँचवें प्रकार का मोक्ष केवल शिव के तथा उसकी महिमा के ज्ञान द्वारा प्राप्त हो सकता है। संपूर्ण संसार उससे उत्पन्न होता है तथा उसी मे वापस चला जाता है और वह उसमे सदैव व्याप्त है। वह सत्-चित् और आनंद के ऐक्य के रूप मे भी वर्णित है। वह निर्गुण, निरुपाधिक शुद्ध है तथा किसी प्रकार अशुद्ध नहीं किया जा सकता। शब्द उसका वर्णन नहीं कर सकते तथा विचार उस तक नहीं पहुँच सकते। यह ब्रह्मन् ही है जो शिव भी कहलाता है। जिस प्रकार आकाश समस्त पदार्थों मे व्यापक है उसी प्रकार वह समस्त पदार्थों मे व्यापक है। वह माया के क्षेत्र से परे है तथा द्वन्द्वातीत है। ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है परन्तु ज्ञान-मार्ग की तुलना मे भक्ति-मार्ग का अनुसरण सुगम है। अगले अध्याय (४-४२) मे यह कहा गया है कि पुरुष से संयोजित प्रकृति अनंत ब्रह्मन् शिव से उत्पन्न होती है।[1] पुरुष से संयोजित प्रकृति का यह विकास उस रुद्र का तत्त्व कहलाता है जो परम ब्रह्मन् शिव का ही केवल रूपांतर है, जिस प्रकार स्वर्ण के आभूषण स्वर्ण का रूपांतर माने जा सकते हैं। केवल चिन्तन के लाभ के लिए ही निराकार शिव को साकार माना गया है।

विश्व मे श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ मे जो हम देखते या जानते है, वह शिव का रूप ही

---

[1] तस्मात्प्रकृतिरुत्पन्ना पुरुषेणाऽसमन्विता।

—तत्रैव ४-४२-३।

है, तथा पदार्थों के नानागुण युक्त धर्म उससे निर्मित होते है। सृष्टि के पूर्व तथा प्रलय के समय, शिव की ही एक अपरिवर्तनशील सत्ता रहती है। शुद्ध शिव केवल तब सगुण माने जाते हैं, जब कोई उन्हे उस शक्ति का अधिकारी मानता है जिससे कि उनका वास्तव मे तादात्म्य है। ईश्वर के सकल्प द्वारा ही ससार में सब व्यापार चल सकते हैं। उसे सबका ज्ञान है, परतु उसका ज्ञान किसी को नहीं है। ससार की सृष्टि करके वह उससे परे रहता है तथा इससे अतर्ग्रस्त नही होता। परतु शुद्ध चित् के अपने रूप मे वह ससार मे ससारियो को दिखलाई देता है, जिस प्रकार सूर्य अपने प्रतिबिम्बो मे दिखता है। वास्तव मे शिव इस परिवर्तनशील ससार मे प्रवेश नही करता। वास्तव मे शिव ही पूर्ण ससार है यद्यपि ससार के दृश्य विपरिवृत्त होते हुए अलग-अलग देशकाल मे घटित होते हुए प्रतीत होते है। अज्ञान का अर्थ केवल भ्रमात्मक ज्ञान है, तथा यह कोई पदार्थ नही है जो ब्रह्मन् के साथ द्वैत सत्ता के रूप का माना जा सके।[1]

वेदातियो के अनुसार सत्ता एक है तथा वह जीव जो ब्रह्मन् का केवल एक अश है, अविद्या द्वारा भ्रमित हो जाता है तथा अपने को ब्रह्मन् से भिन्न समझता है। परतु जब अविद्या के चगुल स मुक्त हो जाता है तब यह शिव से एकाकार हो जाता है। जैसा हमने पहले कहा है, शिव वास्तव मे वस्तुओ मे न होने हुए भी समस्त वस्तुओ मे व्यापक है। वेदात द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुकरण करने से मोक्ष प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार अग्नि, जो लकडी मे रहती है लकडी को निरतर रगडने से उत्पन्न हो सकती है, उसी प्रकार भक्ति की विभिन्न प्रक्रियाओ द्वारा शिव को प्राप्त किया जा सकता है परतु मनुष्य को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि जो कुछ है वह शिव है तथा केवल भ्रम द्वारा ही विभिन्न नाम व रूप हमारे सन्मुख आते है।[2] जिस प्रकार सागर, अथवा स्वर्ण का टुकडा या मिट्टी का टुकडा विभिन्न आकारो मे दिख सकते है, यद्यपि वास्तव मे रहते वही हैं उसी प्रकार केवल विभिन्न उपाधियो के कारण ही, जिनसे हम वस्तुओ की ओर देखते हैं, वे इतनी विभिन्न प्रकट होती हैं, यद्यपि वे शिव के अतिरिक्त और कुछ नही है। वास्तव मे कारण तथा कार्य मे कोई भेद नही है।[3] यद्यपि भ्रम द्वारा मनुष्य किसी वस्तु को कारण तथा किसी अन्य वस्तु को

---

[1] अज्ञान च मतेर्भेदो नास्त्यन्यच्च द्वय पुन ।
६ दर्शनेषु च सर्वेषु मतिभेद प्रदर्श्यते ।

—शिव-महापुराण ४-५३, ८ सी० डी० ।

[2] भ्रान्त्या नाना-स्वरूपो हि भासते शकरस्सदा ।

—तत्रैव ४-४३, १५ सी०, डी० ।

[3] कार्य-कारणयोर्भेदो वस्तुतो न प्रवर्तते,
केवल भ्रान्ति-बुद्ध्यैव तदभावे स नश्यति ।   —तत्रैव ४-४३-१७ ।

कार्य समझता है। बीज से भिन्न रूप में प्रतीत होता हुआ अंकुर बीज से निकलता है, परन्तु अंत मे अंकुर वृक्ष के रूप मे विकसित होता हुआ फलता है, पुन वह अपने को फल तथा बीज में परिवर्तित कर लेता है। बीज बच जाता है और वह अन्य अकुर उत्पन्न करता है तथा मूल वृक्ष नष्ट हो जाता है। तत्त्वदर्शी बीज के समान है जिसमे से अनेक रूपातर होते हैं तथा जब ये समाप्त हो जाते हैं तब पुन तत्त्वदर्शी ही बच रहता है। अविद्या के हट जाने से मनुष्य अहम् से विलग होकर शुद्ध हो जाता है तथा तब वह भगवान शिव के अनुग्रह द्वारा वह बन जाता है जो वह वास्तव में है, अर्थात् शिव। जिस प्रकार दर्पण मे मनुष्य अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देख सकता है उसी प्रकार मनुष्य अपनी शुद्ध बुद्धि अर्थात् शिव में, जो मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है, अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि शिव-महापुराण ४-४३ मे वर्णित शैवमत के इस सप्रदाय मे शैवमत एकेश्वरवादी है जो बहुत कुछ शकर के अद्वैतवाद के समान है। यह विश्वास करता है कि आभास की अनेकता असत्य है तथा ब्रह्मन् अथवा शिव ही केवल एक सत्ता है। यह इस पर भी विश्वास करता है कि यह भ्रमात्मक आभास अविद्या की बाधा के कारण है। यह कार्य तथा कारण मे कोई भेद स्वीकार नही करता परन्तु फिर भी यह इस एकेश्वरवादी विश्वास पर दृढ प्रतीत होता है कि भगवान अपने भक्तो को मोक्ष प्रदान कर सकते है, यद्यपि यह इसका निषेध नही करता कि उपनिषदो द्वारा निर्देशित मार्ग से ब्रह्म की प्राप्ति की जा सकती है। यह कहता है कि भक्ति से ज्ञान उत्पन्न होता है, भक्ति से प्रेम तथा प्रेम से मनुष्य को शिव की महिमा के उपाख्यान सुनने का अभ्यास हो जाता है और उससे मनुष्य सत पुरुषो के सपर्क मे आता है एव उससे मनुष्य अपना गुरु प्राप्त कर सकता है। जब इस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। गुरु की पूजा की रीति भी यहाँ उपस्थित की गई है। यह कहा गया है कि यदि किसी को उत्तम तथा सत गुरु मिल जाता है तब उसे गुरु की इस प्रकार पूजा करनी चाहिए मानो वह स्वय शिव हो तथा इस प्रकार शरीर की अशुद्धियाँ हट जाएँगी तथा इस प्रकार भक्तो के लिए ज्ञान प्राप्त करना सम्भव हो जाएगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अध्याय मे यद्यपि शैवमत की व्याख्या पूर्णतया वेदाती रीति से की गई है तथापि आस्तिकवाद तथा गुरु-पूजा के सिद्धात को भी इसमे किसी प्रकार प्रवेश मिल गया है, यद्यपि ऐसे सिद्धात शकर के औपनिषद अद्वैतवाद के अनुकूल नहीं हैं। अत यह प्रणाली शैवमत का एक ऐसा रूप उपस्थित करती है जो शिव-महापुराण के दूसरे खड में दिए हुए रूप से भिन्न है तथा श्रीकठ व अप्पय दीक्षित द्वारा विवेचित शैवमत के दर्शन से भी भिन्न है।

शिव-महापुराण की वायवीय-संहिता में शैव-दर्शन

शिव-पुराण, सात संहिताओं में विभक्त है जिनमें शिव-पूजा के विभिन्न पक्ष, शिव की पौराणिक कथाएँ तथा शैवमत के दर्शन की व्याख्या की गई है। यद्यपि शैवमत की विभिन्न प्रणालियाँ अपने शैवदर्शन के मूल सिद्धान्तो मे साधारण रूप से समान है, तथापि इन सिद्धान्तो मे प्राय ऐसे विशेष अन्तर परिलक्षित होते हैं, जिनकी ओर शैवमत के विस्तृत अध्ययन के लिए ध्यान देना चाहिए। विशेष रूप से इस कारण कि किसी भी दार्शनिक पद्धति का वाङ्मय जिसका प्रचार एव विस्तार इतने सुदूर अतीत से लेकर बाद तक से सपूर्ण भारत मे दूर-दूर तक होता रहा था इतना परिवर्तित रूपान्तरित, क्षतविक्षत और विलुप्त नही हुआ है जितना कि शैवमत। वेदो और उपनिषदो मे तथा सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषो में कुछ अभिलेख शैवदर्शन के उपलब्ध हैं, परन्तु ईसा पूर्व समय से लेकर नवी अथवा दसवी शताब्दी ईसवी तक के इस वाङ्मय के प्राय समस्त आज लुप्तप्राय है। संस्कृत तथा द्रविड भाषा मे लिखी हुई अधिकाश रचनाएँ अब प्राप्त नही हैं तथा आठवी शताब्दी ईसवी मे शकर द्वारा उल्लिखित शैवविचार की प्रणालियो को पहचानना भी अब कठिन हो गया है। अत शैवमत की हमारी व्याख्या मे यहाँ वहाँ से एकत्रित किए हुए केवल अवशेष होंगे तथा इसका कोई उचित ऐतिहासिक स्वरूप भी नही होगा। कम से कम जहाँ तक सस्कृत रचनाओ का सबध है, ग्यारहवी अथवा चौदहवी व पन्द्रहवी शताब्दी के लेखक भी सदर्भित मूल ग्रथो तथा उनके परस्पर सबध का सही सदर्भ नही दे पाए हैं। द्रविड मूल ग्रथो तथा उनके ग्रथकारो के विषय मे जो कुछ लिखा गया है उसमें से बहुत सा या तो पौराणिक है अथवा अनैतिहासिक है। शिव-पुराण भी भिन्न कालो मे लिखी मिश्रित रचना प्रतीत होती है। यह एक दूसरे से प्राय विभिन्न विचारो का सग्रह मात्र है तथा शैवमत की प्रवृत्ति के भिन्न-भिन्न स्तरो को इगित करता है। अत शिव-महापुराण की सम्पूर्ण रचना का सुसगत विवरण देना सभव नही है। तदनुसार मैंने अध्याय २, ४, ६ तथा ७ मे वर्णित शैवमत के मूल्याकन का प्रयत्न किया है। परन्तु क्योंकि सातवी सहिता अर्थात् वायवीय-सहिता का दार्शनिक स्तर शिव-महापुराण के दार्शनिक स्तर से कुछ भिन्न प्रतीत होता है, अत मैं उस वायवीय-सहिता के विषयो का सक्षिप्त सिंहावलोकन करने का प्रयत्न करूँगा, जो पाशुपत-शैवमत का एक सम्प्रदाय माना जा सकता है। मैं बाद मे शैवमत के अन्य रूपो का, जहाँ तक वे मुझे प्राप्त हो सके हैं, मूल्याकन करने का प्रयत्न करूँगा।

वायवीय-सहिता के ७-१-२-१६ मे परमेश्वर को मूल कारण, पालनकर्ता, आधार तथा सब पदार्थों के सहार के भी कारण के रूप मे माना है। वह परम पुरुष, ब्रह्मन् अथवा परमात्मन् कहलाता है। प्रधान अथवा प्रकृति उसका शरीर मानी जाती है तथा वह कर्त्ता भी माना जाता है, जो प्रकृति की साम्यावस्था मे क्षोभ उत्पन्न करता

है ।[1] वह अपने को तेईस तत्त्वो मे अभिव्यक्त करता है तथा फिर भी सर्वथा निर्विकार तथा अपरिवर्तित रहता है । यद्यपि संसार की सृष्टि तथा पालन परमेश्वर द्वारा हुआ है तथापि माया अथवा अविद्या के विभ्रम से मनुष्यो को उसका ज्ञान नही है ।

७-१-३ में यह कहा गया है कि अंतिम कारण वह है जो मन और वाणी से परे है तथा उसी से ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र देवता समस्त स्थूल पदार्थ तथा इंद्रिय शक्तियों के साथ उत्पन्न हुए । वह समस्त कारणों का कारण है तथा किसी अन्य कारण द्वारा उत्पादित नहीं है । वह सर्वव्यापक तथा सबका प्रभु है । परमेश्वर वृक्ष के समान एक ही स्थान पर मौन अवस्थित हैं तथा इसके उपरांत भी वह सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त है । मूल कारण ब्रह्मन् के अतिरिक्त विश्व मे समस्त वस्तुएँ गतिमान हैं । वह अकेला ही समस्त जीवो का अंतर्यामी नियन्त्रक है, परतु इसके उपरांत भी वह इस रूप मे पहचाना नहीं जा सकता, यद्यपि उसे सबका ज्ञान है । अनन्त शक्ति, ज्ञान तथा क्रिया स्वाभाविक रूप मे उसमे हैं । जिन सबका हमे क्षर तथा अक्षर के रूप मे ज्ञान है, वह उस परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं, जिसकी इच्छाशक्ति या विचार के कारण वे अस्तित्व मे आए हैं । माया के अंत मे जीवो के लोप होने के साथ विश्व लुप्त हो जाएगा ।[2] सर्व-शक्तिमान कलाकार के समान महाप्रभु ने जगदाभास को पटल पर चित्रित किया है तथा वह आभास अंत मे उसमे वापस लीन हो जाएगा । प्रत्येक जीव उसके नियन्त्रण मे है, तथा केवल परम भक्ति द्वारा ही उसका अनुभव किया जा सकता है । केवल यथार्थ भक्त ही उससे किसी प्रकार का वास्तविक संभाषण कर सकता है । सृष्टि स्थूल तथा सूक्ष्म है, स्थूल सबके लिए दृश्य है तथा सूक्ष्म केवल योगियो के लिए, परतु उससे परे एक अपरिवर्तनशील महाप्रभु है, जिसे अनंत ज्ञान व आनद प्राप्त है । ईश्वर के प्रति भक्ति भी ईश्वर के अनुग्रह के विस्तार के कारण है । वास्तव मे अनुग्रह, भक्ति से उत्पन्न होता है तथा भक्ति अनुग्रह से उत्पन्न होती है, जिस प्रकार पौधे से पेड तथा पेड से पौधा उत्पन्न होता है ।

जब किसी को अपने आप मे परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है तब ऐसे मनुष्य का उसको अनुग्रह प्राप्त होता है, तथा यह उसके गुणो मे वृद्धि करता है एवं उसके पाप नष्ट हो जाते हैं । अनेक जन्मो के पापो का प्रायश्चित करने की दीर्घ प्रक्रिया के अनन्तर ही ईश्वर के प्रति सच्ची भक्ति उदित होती है । फलस्वरूप अधिकाधिक अनुग्रह का

---

[1] नम प्रधान—देहाय प्रधान क्षोभ—कारिणे,
त्रयो-विंशति-भेदेन विकृतायाविकारिणे ।

—वायवीय-संहिता, ७-१-२-१६ ।

[2] भूयो यस्य पशोरन्ते विश्व-माया निवर्तते ।

—तत्रैव, ७-१-३-१३ ।

प्राप्त होता है तथा उसके कारण सासारिक कार्य करते रहने पर भी मनुष्य अपने कर्मों के फलो की समस्त कामनाओ का त्याग कर सकता है।

कर्मफलो की निवृत्ति से मनुष्य शिव के प्रति विश्वास से सयोजित हो जाता है। यह गुरु के माध्यम से अथवा बिना गुरु के भी हो सकता है। पूर्वोक्त उत्तरोक्त की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। शिव के ज्ञान से मनुष्य जन्म व पुनर्जन्म के कालचक्र के दुःखो का ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। इसके फलस्वरूप समस्त इद्रिय विषयो के प्रति वैराग्य हो जाता है। इससे महाप्रभु के प्रति भाव उत्पन्न होता है तथा इस भाव द्वारा चितन की प्रवृत्ति होती है, तथा तब मनुष्य स्वाभाविक रूप से कर्मों का परित्याग करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार, जब मनुष्य शिव के स्वरूप पर एकाग्रचित्त होता है, तथा चितन करता है, तब वह योग की अवस्था प्राप्त कर लेता है। पुन इस योग के द्वारा ही भक्ति की अधिक वृद्धि होती है तथा उसके द्वारा ईश्वर के अनुग्रह का अधिक विस्तार होता है। इस दीर्घ प्रक्रिया के अत मे जीव मुक्त हो जाता है तथा तब वह शिव के समान (शिव सम) हो जाता है, परतु वह कभी शिव नही हो सकता। सबधित पुरुष की योग्यता के अनुरूप मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया भिन्न हो सकती है।

७ १ ५ मे वायु का यह कथन बतलाया जाता है कि पशु अर्थात् जीव, पाश अर्थात् बधन तथा पति अर्थात् परमेश्वर इन सबका ज्ञान, समस्त ज्ञान तथा विश्वास का अतिम लक्ष्य है, तथा केवल यही परम सुख की ओर प्रेरित कर सकता है। समस्त दुःख अज्ञान से प्रवृत्त होते है तथा उन्हे ज्ञान द्वारा हटाया जाता है। ज्ञान का अर्थ विषयता द्वारा मर्यादित होना है। ज्ञान द्वारा यह विषयीकरण जड तथा अजड के सदर्भ मे हो सकती है। परमेश्वर दोनो का नियत्रण करता है। जीव अविनाशी है अत अक्षर कहलाता है, बधन (पाश) नश्वर है अत क्षर कहलाता है, तथा जो इन दोनो से परे है वह महाप्रभु है।

विषय की आगे व्याख्या करते हुए वायु कहते है कि प्रकृति क्षर के रूप मे मानी जा सकती है एव पुरुष, अक्षर के रूप मे महाप्रभु दोनो को क्रिया के लिए गतिमान करता है। पुन, प्रकृति का माया से तादात्म्य है तथा पुरुष माया से घिरा हुआ माना जाता है। ईश्वर की निमित्तता से मनुष्य के पूर्व कर्मों द्वारा माया तथा पुरुष मे सम्पर्क होता है। माया का वर्णन ईश्वर की शक्ति के रूप मे किया गया है। मल वह शक्ति है, जिससे आत्माओ की चेतना के स्वरूप का आवरण होता है। इस मल से रहित होने पर पुरुष अपनी मूल स्वाभाविक शुद्धता मे वापस चला जाता है। जैसा हमने पहले कहा है माया के आवरण का आत्मा से सयोजन पूर्व कर्मों के कारण है, तथा यह हमे हमारे कर्मफलो को भोगने का अवसर देता है। इस सबध मे ज्ञान का अर्थ रखते हुए कला के तत्त्व, राग, काल तथा नियति की ओर भी ध्यान देना चाहिए। जीव अपने बधन की अवस्था द्वारा इन सबका अनुभव करता है। वह अपने शुभ तथा अशुभ

कर्मों के सुख तथा दुःख का अनुभव भी करता है। मल से सबध अनादि है, परंतु मोक्ष-प्राप्ति से इसे नष्ट किया जा सकता है। हमारे समस्त अनुभवो का उद्देश्य हमारी बाह्य तथा आतरिक इन्द्रियो के द्वारा तथा हमारे शरीर द्वारा अपने कर्मफलों का अनुभव करना है।

यहाँ विद्या की परिभाषा उससे की गई है जो दिक् तथा क्रिया को अभिव्यक्त करे। (दिक्-क्रिया-व्यजका विद्या)। काल वह है जो सीमित करता तथा अनुभव करता है, (कालोऽवच्छेदक) एव नियति वह है जो पदार्थों का क्रम निश्चित करती है तथा राग मनुष्य को कर्म की ओर प्रेरित करता है। अव्यक्त वह कारण है जिसमें तीन गुण निहित हैं, इससे सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं तथा इसी मे सब वापस चले जाते हैं। यह प्रकृति जो प्रधान अथवा अव्यक्त भी कहलाती है, अपने को सुख-दुःख तथा स्तब्धता के रूप मे अभिव्यक्त करती है। प्रकृति की अभिव्यक्ति की विधि कला कहलाती है। तीन गुण सत्व, रजस्, तमस् प्रकृति मे से उत्पन्न होते हैं। शास्त्रीय साख्य सिद्धात से भिन्न यह स्पष्ट रूप से एक नवीन विचार है। शास्त्रीय साख्य सिद्धात मे प्रकृति केवल तीन गुणो की साम्यावस्था है तथा वहाँ प्रकृति के तीन गुणो की समता से निर्मित होने के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। सूक्ष्म अवस्था मे यह गुण प्रकृति मे व्याप्त रहते हैं जिस प्रकार तिलो मे तेल व्याप्त रहता है। अव्यक्त अथवा प्रधान के रूपातर मे से ही पाँच तन्मात्रा, पाँच स्थूल पदार्थ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मनस् अस्तित्व मे आते हैं। यह कारण अवस्था ही है जो अव्यक्त कहलाती है। रूपातरो के रूप मे कार्य व्यक्त कहलाते हैं जिस प्रकार मिट्टी का लोदा अव्यक्त माना जा सकता है तथा उससे निर्मित मिट्टी के बर्तन व्यक्त माने जाते हैं। ससार के विविध व्यक्त कार्य अव्यक्त प्रकृति मे एकता प्राप्त करते हैं तथा समस्त शरीर, इन्द्रियो आदि का भोग पुरुष ही करता है ऐसी मान्यता है।

विषय की आगे व्याख्या करते हुए वायु कहते हैं कि, यद्यपि एक सार्वलौकिक आत्मा को स्वीकार करने के लिए किसी उचित कारण की खोज करना कठिन है, तथापि एक ऐसी सार्वलौकिक सत्ता को स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ता है, जो बुद्धि, इन्द्रियो तथा शरीर से भिन्न है। यह सत्ता समस्त मानव अनुभवो की, शरीर के नष्ट होने पर भी, स्थाई भोक्ता है (अथाबाव-देह वेदनात्)। यह सार्वलौकिक सत्ता ही है जो समस्त अनुभव योग्य पदार्थों का अनुभव करती है तथा वेदो व उपनिषदो में इसे अतर्यामी नियता कहा गया है। यह सब पदार्थों मे व्याप्त है फिर भी अपने आप को विशेष परिस्थितियो में अभिव्यक्त करती है, तथा यह स्वय अदृश्य है। यह नेत्र अथवा किसी अन्य इन्द्रियो द्वारा देखी नहीं जा सकती। बुद्धि के उचित विवेक द्वारा ही इस महान् आत्मा का अनुभव किया जा सकता है। यह समस्त परिवर्तनो में अपरिवर्तनशील है तथा यह सब पदार्थों की द्रष्टा है एव स्वय इसका प्रत्यक्ष नहीं किया

जा सकता। ऐसी महान् आत्मा शरीर तथा इंद्रियो से भिन्न है एव वे जो इसका शरीर से तादात्म्य मानते हैं, इसको देख नहीं सकते। शरीर से सबधित होने के कारण, यह समस्त अशुद्धियो और दु खो से समन्वित हो जाती है, तथा अपने स्वयं के कर्मों द्वारा ही जन्म व पुनर्जन्म के कालचक्रो मे भी फँस जाती है। जिस प्रकार एक जल से परिपूर्ण खेत नवीन अकुर उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अज्ञान के खेत मे कर्म प्रस्फुटित होने आरभ हो जाते हैं, तथा उनसे शरीर उत्पन्न होते हैं जो समस्त दु खो के उद्‌गम हैं। जन्म व पुनर्जन्म के कालचक्र द्वारा मनुष्य को अपने कर्मफलो का अनुभव करना पडता है, तथा इस प्रकार प्रक्रिया चलती रहती है। यह सार्वलौकिक सत्ता अनेक रूपों मे दृष्टिगोचर होती है तथा भिन्न व्यक्ति मे विभिन्न वृत्तियो के रूप मे अभिव्यक्त होती है।[1] हमारे समस्त मानव सबध लकडी के उन बहते हुए टुकडो के समान, आकस्मिक तथा प्रासगिक है जो लहरो द्वारा पास आकर फिर पृथक् हो जाते हैं। पौधो से लेकर ब्रह्म तक समस्त जीव इस पुरुष के पशु अथवा अभिव्यक्तियाँ हैं। पुरुष सुख तथा दु ख के बधन से बधा है तथा परमेश्वर के खिलौने के समान, यह अज्ञानी तथा अशक्त है और अपने सुख की व्यवस्था अथवा दु ख के निवारण का प्रबध नही कर सकता।

हमने पहले ही पशु तथा पाश का स्वरूप देख लिया है। पाश शिव की वह शक्ति है जो अपने को प्रकृति के रूप मे अभिव्यक्त करती है, यह भौतिक ससार आत्मगत ससार के साथ उन सुखो व दु खो का विकास करती है, जो भिन्न उपाधियो तथा परिस्थितियो मे अनेक प्रतीत होते हुए सार्वलौकिक आत्मा पशु को बधन मे बाँधती है। हम यह ध्यान दिए बिना नही रह सकते कि यहाँ पुरुष अथवा आत्मन् साख्य के अनेक पुरुषो अथवा न्याय की अनेक आत्माओ या शैवमत की अन्य प्रणालियो के समान अनेक नही है। वेदाती अद्वैतवाद का उत्कृष्ट विचार यहाँ उपस्थित किया गया है तथा इस सिद्धान्त मे पुरुष का एक ऐसा स्वरूप वर्णित है जो भिन्न परिस्थितियो मे भिन्न शरीरों मे अनेक प्रतीत होता है। यह एक पुरुष सर्वव्यापी है, तथा अनेक उपाधियो द्वारा प्रतिबिम्बित होने के कारण ब्रह्म से लेकर घास की पत्ती तक, यह पदार्थों के अनेक विभिन्न आकारो मे प्रतीत होता है।

परतु वह परम ईश ही पशु और पाश दोनो का सृजक है जिसमें असख्य उत्तम और आकर्षक गुण है। उसके बिना विश्व की कोई सृष्टि सम्भव नही हो सकती थी, क्योकि पशु और पाश दोनो ही जड और ज्ञानहीन है हमे यह याद रखना चाहिए कि

---

[1] चादितश्च वियुक्तश्च शरीरैरेषु लक्ष्यते,
चन्द्र-बिम्बवदाकाशे तरलैरभ्र सचयै
अनेक-देह-भेदेन भिन्ना वृत्तिरिहात्मन ।

—शिव-महापुराण, ७-१-५-५६ ।

सांख्य के अनुसार पुरुष शुद्ध चैतन्य से भिन्न कुछ भी नही हैं, परन्तु यहाँ उन्हें विभिन्न अवस्थाओ या परिसरो मे इसकी सत्ता के प्रतिबिम्बित होने के द्वारा अनेको मे व्यक्त होते हुए एक चेतन तत्त्व का प्रतिबिम्ब माना गया है। प्रकृति से लेकर परमाणु तक, विभिन्न रूपो मे प्रवेश करते हुए केवल जड़ पदार्थ ही प्राप्त होते हैं। यह सम्भव नहीं था यदि वे एक चेतन रचयिता द्वारा रचे और डाले न जाते। जडो से युक्त यह विश्व एक कार्य है, और इसलिए इसके निर्माण के लिए एक कर्त्ता होना ही चाहिए। परम ईश रचयिता के रूप मे यह कर्तृत्व शिव से सम्बद्ध है, आत्मा या बन्धन से नहीं। आत्मा स्वय ईश्वर की इच्छा से गतिशील होती है। जब कोई व्यक्ति अपने को अपने कर्म का कर्त्ता समझता है, तो यह कारण की प्रकृति का अन्यथा ज्ञान ही है।

जब मनुष्य स्वय को वास्तविक प्रेरक कर्त्ता से भिन्न समझने लगता है केवल तब ही मनुष्य अत मे अमरत्व प्राप्त कर सकता है। क्षर व अक्षर अर्थात् पाश व पशु सब परस्पर सयोजित हैं, तथा उन दोनो का उनके व्यक्त एव अव्यक्त रूप मे पालन महेश्वर द्वारा होता है। तथाकथित अनेकता भी महेश्वर द्वारा व्याप्त है। केवल ईश्वर ही सबका प्रभु तथा शरणदाता है। यद्यपि वह एक है तथापि वह अपनी अनेकरूप शक्तियों द्वारा विश्व का आलम्बन हो सकता है।

वायवीय-सहिता के प्रथम भाग का यह छठा अध्याय मुख्यत श्वेताश्वर उपनिषद् से प्राप्त विषयों की व्याख्या करता है तथा श्वेताश्वर उपनिषद् के दर्शन का विस्तार माना जा सकता है। ईश्वर स्वय सब पदार्थों मे व्याप्त है तथा उसमे किंचित मात्र भी अशुद्धि नही है। इसी उद्देश्य के लिए उपनिषद् के अनेक वाक्य भी इसमे समाविष्ट किए गए है तथा ब्रह्मन् से शिव का तादात्म्य किया गया है। इस ग्रन्थ के पिछले भागो मे यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि ब्रह्मसूत्रो, गीता तथा ब्रह्मसूत्रो के व्याख्याकारो के सम्प्रदायो की अनेक टीकाओ मे भी सबद्ध ग्रथकारो के विशेष विचारों के अनुसार उपनिषदो की व्याख्या की गई है। शिव-महापुराण मे भी हम शैवमत के दर्शन की घोषणा के लिए उपनिषदो के अनुसरण का प्रयत्न पाते है। इसे बारम्बार प्रमुखता दी गई है कि केवल एक ही ईश्वर है तथा उससे अन्य कोई नही है, इसके उपरात भी जगदाभास का रूपातर स्पष्ट करने के लिए माया अथवा प्रकृति का विचार उपस्थित किया गया है। हमने पहले देखा है कि माया ब्रह्मन् की शक्ति मानी जाती है। परतु ईश्वर के साथ इस शक्ति के सबध के विषय मे अधिक तर्क नही दिए गए है। उपनिषदो के अनुसार यह भी कहा गया है कि ईश्वर में स्वाभाविक रूप से ज्ञान तथा बल निहित हैं। परतु हमे यह ज्ञात किए बिना दार्शनिक सतोष नही होता कि ज्ञान तथा बल का वास्तविक स्वरूप क्या है, तथा इस बल का प्रयोग किस प्रकार होता है, एव इस महेश्वर के संबध मे ज्ञान का अर्थ क्या हो सकता है, जिसके कोई इन्द्रियाँ तथा कोई मनस् नहीं हैं।

७-१-६-६७ मे ईश्वर का वर्णन इस रूप मे है कि वह जो काल उत्पन्न करता है, समस्त गुणो का प्रभु है, तथा समस्त बधनो से मुक्तिदाता है। काल के स्वरूप के विषय मे एक प्रश्न उठता है। ऐसे प्रश्न के उत्तर मे वायु कहते हैं कि काल हमारे सम्मुख क्रमानुसार, क्षणो तथा अवधि के रूप मे प्रकट होता है। काल का यथार्थ सार शिव की शक्ति है। अत चाहे जो भी हो, किसी जीव द्वारा काल का उल्लघन नही हो सकता। यह तो जैसे ईश्वर की आज्ञा देने की शक्ति है।[1] इस प्रकार काल शिव की वह शक्ति है जो उससे उत्पन्न होती है तथा सब पदार्थों मे व्याप्त है। इस कारण प्रत्येक वस्तु काल द्वारा शासित है। परतु शिव काल के बधन मे नहीं है। वह समस्त काल का स्वामी है। ईश्वर का अप्रतिबध अधिकार काल द्वारा व्यक्त होता है, तथा इसी कारण कोई मनुष्य काल की सीमा के परे नही जा सकता। किसी भी परिमाण मे हमे विवेक काल से परे नही ले जा सकता तथा जो भी कर्म काल मे किए जाते है, उनका उल्लघन नही किया जा सकता। यह काल ही है जो मनुष्यो के कर्मों के अनुरूप उनका भाग्य तथा प्रारब्ध निश्चित करता है, इसके उपरात भी कोई नही कह सकता कि काल के सार का स्वरूप क्या है।

हमने अभी तक यह देखा है कि ईश्वर के अटल सकल्प तथा आज्ञा द्वारा पुरुष के निरीक्षण मे प्रकृति हमारे सम्मुख ससार के रूप मे विकसित होती है। प्रकृति अथवा अव्यक्त के तत्त्वो के क्रम की शास्त्रीय साख्य से अधिक समानता है। साख्य की सुप्रसिद्ध शास्त्रीय विचारधारा मे सृष्टि अव्यक्तावस्था से विकास अथवा उत्पत्ति की प्रक्रिया है तथा प्रति-गमन की प्रक्रिया द्वारा प्रलय होता है जिसमे वही प्रक्रिया तबतक विपरीत दिशा मे होती रहती है तबतक कि सपूर्ण जगदाभास अव्यक्त अथवा प्रकृति मे वापस नही चला जाता।

पुन, महेश्वर शिव के स्वरूप तथा कार्य के विषय म यह कहा गया है कि दूसरो की सहायता की प्रवृत्ति के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नही है जिसे शिव का आवश्यक स्वरूप माना जा सके। दूसरो को उनके कर्मों द्वारा उनकी सर्वोत्तम श्रेय की प्राप्ति मे सहायता देना ही उसका कार्य है। पशु तथा पाश से युक्त ससार की सेवा के अतिरिक्त उसका कोई अन्य विशेष लक्षण नही है। ईश्वर के अनुग्रह के इस विस्तार को प्राय उसके आज्ञापनकारी सकल्प के रूप मे वर्णित किया है। ईश्वर के सकल्प की पूर्ति के लिए ही मनुष्य को किसी ऐसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा, जिसके शुभ के लिए ईश्वर का सकल्प अग्रसर होता है। इस कारण ईश्वर को अपने सकल्प के सपादन के लिए दूसरो पर निर्भर नही कहा जा सकता। उसके सकल्प मे तथा उसके द्वारा ही वस्तुएँ कर्मानुसार क्रमबद्ध प्रक्रिया मे अस्तित्वगत तथा अग्रसर होती है। ईश्वर की

---

[1] नियोगरूपमीशस्य बल विश्व-नियामकम्। —शिव-महापुराण, ७-१-७-७।

स्वतंत्रता के अर्थ है कि वह किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नही हैं, निर्भरता का अर्थ वह अवस्था है जिसमे एक वस्तु दूसरे पर निर्भर है।[1]

सपूर्ण ससार अज्ञान पर निर्भर माना जाता है तथा संसार के आभास मे कोई वास्तविकता नही है। धर्म-ग्रन्थो मे वर्णित शिव की सब विशेषताएँ केवल सोपाधिक धारणाएँ हैं, वास्तव मे ऐसा कोई आकार नही है जिससे शिव को विशेषित किया जा सके।[2]

ससार के विकास के विषय मे जो सब अब तक कहा गया है वह तर्कशुद्ध अनुमान पर ही आधारित है, जबकि ईश्वर की अनुभवातीत सत्ता तर्क से परे है। हमारी आत्मा के स्वरूप के कुछ समान ही ईश्वर की कल्पना करने के कारण हम उसको महा-प्रभुत्व से विभूषित करते है। जिस प्रकार अग्नि लकडी से भिन्न होते हुए भी उसके बिना या बाहर नही देखी जा सकती उसी प्रकार हम शिव को, उन मनुष्यो मे तथा उनके माध्यम से सर्वशक्तिमान् के रूप मे देखते हैं जिसमे वह अभिव्यक्त होता है। विचार की इसी प्रक्रिया के विस्तार से शिव की प्रतिमा को शिव समझा जाता है तथा उसकी पूजा की जाती है।

शिव सदैव समस्त जीवो की सहायता करता है तथा किसी को हानि नही पहुँचाता है। यदि ऐसा प्रकट हो कि उसने किसी को दडित किया है तब वह केवल दूसरो के शुभ के लिए ही होता है। अनेक दृष्टातो द्वारा विदित होता है कि ईश्वर द्वारा प्रदान किया हुआ दड सबधित जीवो की अशुद्धियो को शुद्ध करने के लिए होता है। समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों का आधार ईश्वर की आज्ञा मे मिल सकता है, जिसमे मनुष्य का व्यवहार निर्धारित किया गया है। शुभ का अर्थ उसके सकल्प के अनुरूप आज्ञा पालन है। जो सदैव दूसरो का शुभ करने मे सलग्न रहता है, वह आदेशो का पालन कर रहा है, तथा उसे अशुद्ध नही किया जा सकता। ईश्वर केवल उन्ही को दडित करता है जो किसी अन्य विधि द्वारा उचित मार्ग पर नही लाए जा सकते। यह अवश्य है कि उसका दड कभी भी क्रोध अथवा द्वेष की भावना के कारण नही होता। वह उस पिता के समान जो अपने पुत्र को उचित मार्ग की शिक्षा देने के लिए ताडना देता है। वह जो दूसरो पर अत्याचार करता है, ताडना का भागी है। ईश्वर दूसरो को पीडा देने के लिए व्यथित नही करता, वरन् केवल उनको ताडना देने के लिए तथा उन्हे उचित मार्ग के उपयुक्त बनाने के लिए ऐसा करता है। वह एक चिकित्सक के समान

---

[1] अत. स्वातत्र्य-शब्दार्थानपेक्षत्व-लक्षण । —तत्रैव ७-१-३१-७ ।

[2] अज्ञानाधिष्ठित शम्भोर्न किंचिदिह विद्यते,
येनोपलभ्यतेऽस्माभिस्सकलेनापि निष्कल ।

—शिव-महापुराण ७ १ ३१ ६ ।

है जो रोग को आरोग्य करने के लिए कड़वी औषधि देता है। यदि ईश्वर जीवों के अवगुणो व पापो से उदासीन रहे, तो यह उसके लिए अनुचित होगा, क्योंकि वह मनुष्यों को अनुचित मार्ग के अनुसरण के प्रोत्साहन का एक मार्ग होगा, तथा इससे उन अन्य मनुष्यो की उचित सुरक्षा भी सभव नही हो पाएगी, जिनकी सुरक्षा होनी चाहिए। अत उन्हें ईश्वर सुरक्षित करता है। भगवान् शिव अग्नि के समान हैं, उनसे संपर्क होने से समस्त अशुद्धियाँ समाप्त हो जाती हैं। जब एक लोहे का टुकड़ा अग्नि मे रखा जाता है तब लोह नही वरन् अग्नि जलती है, इसी प्रकार महेश्वर शिव समस्त जड पदार्थों मे व्याप्त है, तथा केवल वही समस्त आभासो द्वारा प्रज्वलित होते हैं।

शिव का अनुग्रह मित्रता, उदारता आदि साधारण गुणो के समान नहीं है। इसको शुभ तथा अशुभ गुणो के रूप में नहीं देखा जा सकता। इसका अर्थ ईश्वर के केवल उस सकल्प से है जो समस्त जीवो को लाभ के लिए प्रवृत्त है। उसके आदेशों का पालन, परम शुभ के पर्याय के रूप मे माना जा सकता है परम कल्याण उसके आदेशो का पालन ही है। अत ईश्वर केवल व्यक्ति का नहीं वरन् सबका शुभ करता हुआ माना जा सकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत शुभ समस्त मानवता के शुभ से सबधित है तथा यह केवल तब ही क्रियान्वित हो सकता है जब समस्त जीव ईश्वर के आदेशो का अनुसरण करे। ससार के पदार्थ अपने विशेष स्वभावानुसार अपनी स्वय की रीति के अनुसार व्यवहार करेंगे। यह ईश्वर का कार्य है कि जहाँ तक उसके स्वभाव से सम्भव हो वह उनका एक दूसरे के अनुरूप विकास करे। वस्तुओ का प्राकृतिक स्वभाव इस विकास के क्षेत्र के लिए एक आवश्यक सीमा है। स्वर्ण को कोयले से नही वरन् केवल अग्नि से जलाया जा सकता है। इसी प्रकार ईश्वर केवल उन्ही को मुक्त कर सकता है जिनकी अशुद्धियाँ दूर हो चुकी है, उनको नही जो अभी भी अशुद्ध अवस्था मे है। वे वस्तुएँ जो स्वाभाविक रूप से ही किसी दूसरी वस्तु मे विकसित होती है, केवल ईश्वर के सकल्प द्वारा ऐसा कर सकती हैं। अत ईश्वर का सकल्प केवल तभी क्रियान्वित हो सकता है जब वह वस्तुओ की स्वाभाविक प्रवृत्तियो तथा प्रभावी सीमाओ के सहयोग मे कार्य करे। जीव स्वाभाविक रूप से अशुद्धियो से परिपूर्ण हैं, तथा यही कारण है कि ये जन्म व पुनर्जन्म के चक्र मे होकर निकलते हैं। वास्तव मे आत्मा का कर्म तथा भ्रम से सयोजन ही वह ससार कहलाता है जो जन्म तथा पुनर्जन्म का पथ है। क्योंकि शिव किसी ऐसे कर्म से सबधित नही है तथा नितात शुद्ध है, अत वह जीव तथा निर्जीव ससार के विकास की प्रेरणा का वास्तविक कर्ता हो सकता है। आत्मा की अशुद्धि आत्मा के लिए आकस्मिक नहीं वरन् स्वाभाविक है।

ईश्वर-कृष्ण की कारिका तथा साख्य सूत्र मे प्रदर्शित शास्त्रीय साख्य सिद्धात मे उस सृष्टिकारणता को प्रकृति मे स्थित किया गया है, जो स्वय अपनी आवश्यकता से

प्रकृति को उस सूक्ष्म तथा भौतिक संसार के दो प्रकार से विकास करने के लिए प्रेरित करती है। पुरुष ससार में दो प्रकार के कार्य करते हैं, अर्थात् सुख व दुःख के भोग तथा ज्ञान द्वारा कैवल्य-प्राप्ति। इस अर्थ में प्रकृति पुरुषो के उद्देश्य की पूर्ति के लिए गतिमान मानी जाती है। साख्य के पातंजल संप्रदाय में, जिसे योग सूत्र भी कहा जाता है, व्यास तथा वाचस्पति की व्याख्या के अनुसार प्रकृति का निर्माण करने वाले गुणो मे एक स्वाभाविक बाधा आ जाती है, जो उनके विकास के क्षेत्र को सीमित कर देती है। यह माना जाता है कि ईश्वर के स्थाई सकल्प के अनुसार मनुष्यो के कर्मानुसार वस्तुएँ अमुक-अमुक विशेष दिशाओ मे विकसित होगी। प्रकृति की अथवा गुणो की शक्ति स्वाभाविक रूप से उसी दिशा मे अग्रसर होती हैं जहाँ से बाधाएँ हटा दी गई हो। ईश्वर स्वय प्रकृति को किसी विशेष दिशा की ओर नहीं बढ़ाता। उसका कार्य विशेष दिशाओ मे विकास के मार्ग से प्रतिबन्धको को हटाने का है। यदि ऐसी बाधाएँ न होती अथवा यदि समस्त बाधाएँ पहले से ही हटी हुई होती, तो प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु हो सकती थी। उस स्थिति मे विकास का कोई निश्चित क्रम ही नही बन पाता तथा विभिन्न उपाधियो, दिक् एव काल की कोई सीमा नही होती। जिस प्रणाली की हम व्याख्या कर रहे हैं, उसमे यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि व्यक्तियो मे ये स्वाभाविक बाधाएँ अशुद्धियो के अस्तित्व के कारण ही होती हैं तथा यह माना गया है कि ईश्वर की सर्वव्यापी प्रकृति द्वारा आत्माओ को मोक्ष इन नैसर्गिक बाधाओं (प्रतिबधको) को हटाने के द्वारा ही प्राप्त करवाया जाता है। इस उद्देश्य के लिए जीव स्वय भी कठोर परिश्रम करते है तथा ईश्वर के सामीप्य से क्षाति की प्रक्रिया क्रियान्वित होती है। यह ईश्वर का अनुग्रह कहलाता है, शब्द के साधारण अर्थ मे नही वरन् एक ऐसी विश्वजनीन प्रक्रिया के अर्थ मे जो समस्त पदार्थों तथा मनुष्यो को उनकी अपनी योग्यताओ के अनुसार उनके विकास मे सहायता देती है। ईश्वर का आदेश एक कृत्रिम ईश्वर के आदेशो के समान नही है परन्तु इसका अर्थ केवल सबके शुभ के लिए विश्वजनीन प्रक्रिया को अग्रसर करते रहना है। इस प्रक्रिया को करते समय कुछ मनुष्यो को अपने स्वय के शुभ के लिए दुःख सहन करना होगा तथा कुछ मनुष्य अपनी योग्यतानुसार पारितोषिक भी प्राप्त कर सकते है। ईश्वर स्वय ससार के आभासो से परे है, वह वास्तव मे अपने सकल्प से किसी पदार्थ को प्रभावित करने का प्रयत्न नही करता, परतु यह तथ्य है, कि वह समस्त पदार्थों मे व्याप्त है, उनकी अशुद्धियो को हटा देता है, ताकि सपूर्ण विश्व का विकास उसकी इच्छा के अनुकूल हो सके।

यद्यपि आत्मा एक ही है तथापि कुछ आत्माएँ बधन मे है, तथा कुछ मुक्त अवस्था में है। वे आत्माएँ जो बधन में है, उन्नति की विभिन्न स्थितियो मे भी हो सकती हैं तथा तदनुसार उन्हें विभिन्न प्रकार के ज्ञान तथा बल प्राप्त हो सकते हैं। आत्मा से संयुक्त अशुद्धियो को आम तथा पक्व माना जा सकता है तथा उनके द्वारा जो भी कर्म

किए जाते हैं उनका फल भोगने के लिए वे इन दो रूपो के अनुसार जन्म और पुनर्जन्म के चक्र मे फँसती है। यद्यपि आत्माएँ मल से सयुक्त है तथापि वे शिव मे तथा शिव उनमें व्याप्त है। जैसे-जैसे मल हटते जाते हैं वैसे-वैसे शिव का सामीप्य अधिक व्यक्त होता जाता है, तथा मनुष्य अधिकाधिक शुद्ध होता जाता है और अन्तत वह शिव के समान हो जाता है। आत्माओ की भिन्नता का कारण केवल मलरूपी उपाधि का अनुपात है। मल के स्वरूप तथा उपाधि के कारण एक आत्मा दूसरी से भिन्न प्रतीत होती है। ससार मे समस्त दु.खो का मूल कारण अशुद्धियाँ हैं, तथा एक दैवी चिकित्सक की भाँति शिव का यह कार्य माना गया है कि वह हमे ज्ञान द्वारा अशुद्धियो से दूर ले जाए। केवल ज्ञान ही ऐसा साधन है जिससे समस्त पाप दूर हो सकते है। यह आपत्ति की जा सकती है कि, क्योकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् होने के नाते क्यों नही मनुष्यो को बिना दु ख सहन किए मोक्ष प्राप्त करा सकता है। इस प्रश्न का यह उत्तर प्रस्तावित किया गया है कि कष्ट तथा दु ख, ससार के स्वरूप का निर्माण करते हैं जो जन्म और पुनर्जन्म के रूप मे प्रकट है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, उन पदार्थों की स्वाभाविक उपाधियो द्वारा सीमित है, जिन पर ईश्वर का सकल्प कार्य करता है। मलो का स्वरूप दु ख तथा कष्टरूपी होने के कारण यह सम्भव नही कि उन्हे कष्ट-रहित बनाया जा सके, तथा इस कारण उस अवधि मे जिसमे मनुष्य ससार मे मलो की शुद्धि की प्रक्रिया मे से निकलता है, उसे आवश्यक रूप से कष्ट सहना पड़ेगा। जीव स्वाभाविक रूप से अशुद्ध तथा दु ख-पूर्ण होते है, तथा ईश्वर के आदेश की अनुपालना को क्रियान्वित कर, जो औषधि का कार्य करता है, ये जीव मुक्त होते है। उन समस्त अशुद्धियो का कारण, जो ससार को उत्पन्न करती है, माया तथा भौतिक ससार है एव शिव के सामीप्य के अतिरिक्त ये किसी और विधि से गतिमान नही हो सकते। जिस प्रकार चुम्बक की निकटता के कारण, बिना उसके कुछ किए, लोहे के टुकडे गतिमान हो जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर के अव्यवहित सामीप्य से अपने लाभ-हेतु ससार प्रक्रिया गतिमान होती है। यद्यपि ईश्वर अनुभवातीत है तथा उसे ससार का ज्ञान नही होता तथापि उसके सामीप्य के तथ्य का निषेध नही किया जा सकता। इस प्रकार वह ससार का निरीक्षक-भूत कारण है। ससार की समस्त गति शिव के कारण है। जिस शक्ति से वह ससार का नियत्रण करता है वह उसका आज्ञा देने वाला सकल्प ही है जो उसके सामीप्य के समान ही है। यह विचार-सरणि वाचस्पति द्वारा उनके योगसूत्र-भाष्य मे उपस्थित किए हुए तर्क का हमे स्मरण दिलाती है जिसमे यह कहा गया है कि यद्यपि पुरुष कुछ नही करता तथापि इसका सामीप्य प्रकृति मे एक विशेष प्रकार की योग्यता उत्पन्न करता है, जिसके कारण प्रकृति पुरुष के उद्देश्य की पूर्ति के लिए गतिमान होती है। इसी सबध मे चुम्बक तथा लौहचूर्ण का उदाहरण भी दिया गया है। क्योकि समस्त ससार केवल शिव की शक्ति की अभिव्यक्ति है अत हम यह कल्पना कर सकते हैं कि जब ससार मे कुछ नही था, तब वह अपना

अहिंसामय आदेश और संकल्प लिए हुए अकेला ही अस्तित्व में था तथा उस संकल्प के क्रियान्वय में वह सांसारिक अशुद्धियों द्वारा दूषित नहीं होता था।

इस संबंध में वायु का यह कथन उद्धृत है कि ज्ञान परोक्ष तथा अपरोक्ष दो प्रकार का होता है। जो तर्क अथवा निरीक्षण द्वारा ज्ञात किया जाता है वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है, किन्तु अपरोक्ष ज्ञान केवल उच्च स्तर की अभ्यास साधना द्वारा ही उदित हो सकता है, तथा ऐसे अपरोक्ष ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष नहीं मिल सकता।

वायवीय-संहिता ७-२ के प्रस्तुत खंड में हम पिछले खंड में व्यक्त दार्शनिक विचार का रूपांतर देखते हैं, तथा यह विशेष ध्यान देने योग्य है। पिछले खंड में यह कहा गया था कि जीवों की अशुद्धियां उनके लिए स्वाभाविक हैं, तथा ईश्वर को अपने संकल्प से जीवों की स्वाभाविक सीमाओं के अनुरूप उनका पुनर्निर्माण, अथवा पुनः रूपांतर या जन्म व पुनर्जन्म के चक्र द्वारा अशुद्धियों की शुद्धि करनी पड़ती है, जिससे यद्यपि ईश्वर का संकल्प सब पर समान रूप से कार्य करता है, तथापि उसका परिणाम सब में समान नहीं होता। मनुष्यों के दुःख विभिन्न आत्माओं की स्वाभाविक अशुद्धियों द्वारा जनित बाधाओं तथा प्रतिरोधों के कारण हैं। इसलिए ईश्वर के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सब आत्माओं को बिना जन्म-पुनर्जन्म का दुःख सहन करवाए मुक्त कर दे।

यह विचार, कि आत्माएँ स्वाभाविक रूप से अशुद्ध होती हैं, जैनों तथा पंचरात्र संप्रदाय के अनुयायियों में भी मिलता है।[1] शांकर वेदांत के अनुसार जीव ब्रह्म के समान ही समझे जाते है, परंतु फिर भी यह माना जाता है कि जीव उस अनादि अविद्या से युक्त है जो बाद में आत्मा के यथार्थ स्वरूप के साक्षात्कार द्वारा नष्ट की जा सकती है। अतः एक प्रकार से जीव अनादि काल से अशुद्धि के आवरण में रहते है। परंतु वायवीय-संहिता के द्वितीय भाग में (जिसकी हम व्याख्या कर रहे है) यह कहा गया है कि ईश्वर स्वयं समस्त जीवों को माया आदि अशुद्धियों द्वारा बांधता है तथा केवल वह अपनी इच्छानुसार संबंधित जीवों की भक्ति के अनुरूप, उन्हें मुक्त कर सकता है।[2] सांख्य के समस्त चौबीस तत्व माया की क्रिया[3] से जनित माने जाते है तथा जो विषय

---

[1] जैन मत का प्रासंगिक अंश देखिए भाग १, पृ० १६६ में, तथा पंचरात्र का मुख्यतः अहिर्बुध्न्य संहिता का दर्शन भाग ३ में पृ० २१ तथा ३४।

[2] मलमायादिभिः पाशैः स बध्नाति पशून् पतिः,
स एव मोचकस्तेषां भक्त्या सम्यगुपासितः।

—शिव-महापुराण, ७-२-२-१२।

[3] माया दो प्रकार की है, प्रकृति तथा शुद्ध माया। शुद्ध माया से ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र देवता उत्पन्न होते हैं। प्रकृति का स्वरूप वही है जो सांख्य में वर्णित है जिसमें

कहलाते है वे ऐसे पाश अथवा बधन है, जिनसे मनुष्य बधे हुए हैं। घास की पत्ती से लेकर ब्रह्मन् तक सब जीवो को बांधकर महाप्रभु परमेश्वर उनसे उनके कर्तव्य करवाता है। प्रभु की आज्ञा से ही प्रकृति पुरुषो की सेवा के लिए बुद्धि उत्पन्न करती है तथा बुद्धि से अहकार, इद्रियाँ, तन्मात्र तथा स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसी का आज्ञानुसार विभिन्न जीव विभिन्न उपयुक्त शरीरों से सयुक्त होते हैं। ईश्वर के सकल्प से ससार चक्र की निमित्त प्रक्रिया परिलक्षित होती है। ईश्वर के इस सकल्प अथवा आज्ञा से परे होना किसी के लिए भी सभव नहीं है। सब प्रक्रियाओ का नियंत्रण करने वाले ईश्वर के इस आदेश के अनुसार ही पापियो को दड मिलता है एव उत्तम कर्मों का सपादन करने वाले ज्ञान तथा धन-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं। केन उपनिषद् के एक दृष्टात को यह दिखाने के लिए उद्धृत किया है कि समस्त देवो की सामर्थ्य तथा स्वाभाविक शक्तियाँ ईश्वर से उत्पन्न हुई है। अत सपूर्ण ससार को भगवान् शिव की अभिव्यक्तियाँ माना जा सकता है।

विभिन्न रूपो, कार्यों तथा नियत्रणकारित्व के स्वरूपो के अनुसार भगवान् शिव के विभिन्न नाम हैं। इस प्रकार जब वह पुरुष तथा प्रकृति को भोगता है तब ईशान कहलाता है। यह ईशान आठ प्रकार के रूपो मे प्रकट होता है जिसे शास्त्रीय भाषा मे अष्टमूर्ति कहा गया है। ये इस प्रकार हैं—क्षिति, जल, पावक, वायु, आकाश, आत्मा, सूर्य तथा चद्रमा। अत ये विभिन्न कार्यों का सपादन करते है। शार्वी, भावी, रौद्री आदि नाम, इन विभिन्न मूर्तियो के पर्यायवाची शब्द भी प्रचलित है जैसे—रौद्री वह रूप है जिसमे समस्त ससार स्पन्दित होता है। आत्मा स्वय शिव का एक रूप है जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

शिव की सर्वोत्तम पूजा इस प्रकार की जा सकती है कि समस्त मनुष्यों की भय से सुरक्षा की जाए, प्रत्येक का शुभ किया जाए तथा प्रत्येक की सेवा की जाए आदि। समस्त मनुष्यो को सतुष्ट करने से ईश्वर सतुष्ट हो जाता है। किसी भी जीवित प्राणी को हानि पहुँचाने का अर्थ स्वय ईश्वर के रूपो मे से एक को हानि पहुँचाना होता है।

हमने उपर्युक्त परिच्छेदो मे स्पष्ट किया है कि समस्त ससार ईश्वर का एक भौतिक स्वरूप है। यह विश्वदेवतावाद, शकर तथा उनके अनुयायियो द्वारा व्याख्यात वेदात के एकतत्त्ववाद से भिन्न है। वेदात मे सच्चिदानद के रूप मे ब्रह्मन् की ही सत्ता है,

---

सब जीव वापस जाते हैं तथा इसी कारण प्रकृति लिंग कहलाती है, जबकि शास्त्रीय साख्य लिगपद को 'महत्' के अर्थ मे ही प्रयुक्त करता है तथा प्रकृति को अलिंग कहता है। वहाँ महत् लिंग कहलाता है क्योकि उससे अपने किसी मूल कारण की ओर इगित होता है तथा अनन्त कारण होने के कारण प्रकृति अपने पीछे कोई मूल कारण इंगित नही करती।

है, तथा प्रत्येक अन्य पदार्थ जिसका हम प्रत्यक्ष करते हैं, केवल ब्रह्म की सत्ता पर एक मिथ्याभास है। अतः ये सभी मिथ्या हैं। जब मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है तब यह मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। संसार आभासित तो होता है, परन्तु एक समय ऐसा आ सकता है जबकि वह एक मुक्तजन के समक्ष पूर्णतया लुप्त हो जाय। किन्तु यहाँ जीव तथा निर्जीव विभिन्न रूपो मे स्थित भौतिक ससार को केवल ईश्वर के विभिन्न स्वरूप ही माना है, जो ईश्वर द्वारा नियन्त्रित हैं। इन स्वरूपो को उन आत्माओ के लाभ के लिए ईश्वर गतिमान करता है, जो ईश्वर के रूप ही हैं।

इस सम्बन्ध मे प्रश्न उठता है कि ईश्वर नर तथा मादा की शक्तियो के रूप में ससार में किस भाँति व्याप्त है। इस प्रश्न के उत्तर मे उपमन्यु यह उत्तर देते हैं कि 'शक्ति' या महादेवी, महादेव की ही शक्ति है तथा समस्त ससार उन दोनों की अभिव्यक्ति है। कुछ पदार्थ चेतना के स्वरूप के हैं तथा कुछ पदार्थ अचेतन स्वरूप हैं। वे दोनो ही शुद्ध अथवा अशुद्ध हो सकते हैं। जब चेतना अचेतन तत्वों से सयुक्त होती है तब जन्म तथा पुनर्जन्म के चक्रो से होकर जाती है तथा अशुद्ध कहलाती है। जो इन सम्बन्धो से परे है, शुद्ध है। शिव तथा उसकी शक्ति एक साथ रहते हैं एव समस्त ससार उनके शासन में हैं। जिस प्रकार चद्रमा तथा चाँदनी मे अन्तर करना सभव नही उसी प्रकार शिव तथा शक्ति मे अन्तर करना असम्भव है। इस प्रकार शक्ति अथवा शक्तिमान का बल तथा शक्ति का अधिकारी परमेश्वर परस्पर निर्भर हैं। शिव के बिना शक्ति नही हो सकती तथा शक्ति के बिना शिव नही हो सकते। इसी शक्ति से प्रकृति, माया तथा तीन गुणो की प्रक्रिया द्वारा समस्त ससार की सृष्टि होती है। प्रत्येक स्थान पर शक्ति का कार्य कला शिव के सकल्प द्वारा नियन्त्रित है, तथा अन्त मे यह शिव मे वापस चली जाती है। शिव मे निहित इस मूल शक्ति से क्रियाशील शक्ति (क्रियाख्या शक्ति) उत्पन्न होती है। मूल साम्यावस्था मे जब बाधा उत्पन्न होती है तो नाद उत्पन्न होता है, उससे बिंदु से सदाशिव, सदाशिव से महेश्वर और उनसे शुद्ध विद्या उत्पन्न होती है, तथा यह वाणी की शक्ति कहलाती है। यह अपने आपको वर्णमाला की ध्वनियो मे भी अभिव्यक्त करती है। माया की इस अभिव्यक्ति से काल, नियति, कला तथा विद्या उत्पन्न होती है। पुन इस माया मे अव्यक्त का निर्माण करने वाले तीन गुण उत्पन्न होते हैं। जैसाकि सांख्य मे वर्णित है, अव्यक्त से तत्वों का विकास होता है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शरीर मे आतरिक नियता प्रवेश करता है उसी प्रकार शिव अपनी शक्ति के रूप मे समस्त ससार मे प्रवेश करता है। इसी कारण सब जीव तथा निर्जीव केवल शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। परमेश्वर, जो विद्या, क्रिया तथा सकल्प से संयुक्त होकर तथा उन सबके द्वारा समस्त संसार मे व्याप्त है, तथा उसका नियन्त्रण करता है। ससार का क्रम तथा संसार-प्रक्रिया भी उसके सकल्प द्वारा निश्चित होती है।

परमेश्वर जिसे कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं, उसे अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा कार्य-रूप में निर्मित करते हैं, अत जिस प्रकार तीन अभिव्यक्त शक्तियो के रूप मे तीन गुण उसमे उदित होते हैं, उसी प्रकार ससार भी जो शिव के साथ तादात्म्य है, उसकी शक्ति का ही एक रूप है क्योकि यह उसकी शक्ति द्वारा अस्तित्वगत है।[1] शिव की यह शक्ति माया है।

शिव-महापुराण, शैवागमो का उल्लेख, शिव द्वारा शिवा को दिए हुए उपदेशो के रूप मे करता है। अत यह प्रतीत होता है कि शैवागम शिवमहापुराण से बहुत पूर्व लिखे गए थे तथा शैवागमो का सार शिवमहापुराण मे, पाशुपत विचार स्पष्ट करने के लिए, सकलित किया गया है। शैवागमो के उपदेश, शिव के भक्तो की सुविधा के लिए, शिव के अनुग्रह द्वारा परम शुभ की प्राप्ति के निमित्त के रूप मे दिए गए माने जाते हैं।[2]

जहाँ तक प्रत्यक्ष अथवा अनुभूत ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष का सम्बन्ध है, इस बारे मे शिव का कहना है कि उनके प्रति शुद्ध हृदय की श्रद्धा ही उन तक पहुँच हो सकती है। तप, भवन अथवा आसनो, यहाँ तक कि शिक्षा तथा ज्ञान द्वारा भी नही। श्रद्धा वह आधार है जिस पर मनुष्य को दृढ रहना चाहिए तथा इस श्रद्धा की प्राप्ति वर्णाश्रम के स्वाभाविक धर्मों के अनुसरण द्वारा हो सकती है। इस प्रकार श्रद्धा को स्वच्छद भाव नही, वरन् प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लिए निर्धारित धर्मों के दीर्घ परम्परागत अभ्यास के परिणाम के रूप मे माना जा सकता है।

शैव धर्म मे ज्ञान, कर्म कठोर चर्या तथा योग सम्मिलित है। ज्ञान का अर्थ आत्माओ के स्वरूप, विषय तथा परमेश्वर के ज्ञान से है। कर्म का अर्थ गुरु के उपदेशानुसार शुद्धि है। चर्या का अर्थ शिव द्वारा निर्देशित वर्णानुरूप अधिकारो के अनुसार शिव की उचित पूजा है। योग का अर्थ समस्त मानसिक अवस्थाओ का निषेध है। ईश्वर का निरन्तर चितन इसमे शामिल नही। ज्ञान वैराग्य से उदित होता है तथा ज्ञान से योग उत्पन्न होता है। यम तथा नियम पापो को दूर करते है तथा जब

---

[1] एव शक्तिसमायोगाच्छक्तिमानुच्यते शिव
शक्ति-शक्तिमदुत्थ नु शाक्त शैव मिद जगत्। शिव-महापुराण, ७.२४ ३६।

[2] श्रीकण्ठेन शिवेनोक्त शिवायै च शिवागम,
शिवाश्रिताना कारुण्याच्छ्रेयसामेकसाधनम्। —तत्रैव, ७ २ ७ ३८।

यह कहना कठिन है कि यह उल्लेख शैव-विचार के महा कारुणिक सम्प्रदाय की ओर सकेत करता है अथवा नही जैसाकि शकर-भाष्य मे शंकर ने शैवमत की आलोचना के उपान्त विषय मे दिया है।

—ब्रह्मसूत्र २-२।

मनुष्य को सांसारिक विषयों के प्रति निवृत्ति होती है तब वह योगमार्ग की ओर जाता है। इस सम्बन्ध में सार्वलौकिक उदारता, अहिंसा, सत्यता, प्रत्याहार, परम-श्रद्धा, शिक्षा, यज्ञ सपादन की क्रिया तथा ईश्वर के साथ स्वयं के तादात्म्य का चिंतन स्वाभाविक उपादान माने जाते हैं। इसी कारण जो मोक्ष-प्राप्ति की कामना करते हैं, उन्हें अपने को गुण व अवगुण, उचित व अनुचित से दूर रखना चाहिए। जिन्होंने वह अवस्था प्राप्त कर ली है जिसमे पाषाण तथा स्वर्ण का एकसा ही मूल्य है अथवा कोई मूल्य नहीं है, उन्हे ईश्वर की पूजा की आवश्यकता नही रह जाती, क्योंकि वे मुक्त जीव हैं।

मानसिक शुद्धता शारीरिक शुद्धता से सौ गुनी उत्तम है, क्योंकि मानसिक शुद्धता के बिना कोई भी शुद्ध नही हो सकता। ईश्वर केवल मनुष्य के आतरिक भावो को ही स्वीकार करता है, जो कुछ शुद्ध भावना के बिना किया जाता है वह नकली है, अनुसरण मात्र है। ईश्वर के प्रति भक्ति-भावना निःस्वार्थ होनी चाहिए, किसी लाभ के लिए नही। किन्तु यदि मनुष्य किसी लाभ की प्राप्ति के लिए भी ईश्वर से अनुरक्त हो तब भी उसकी भक्ति-भावना और श्रद्धा की गहनता के अनुसार ईश्वर उससे प्रसन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट होता है कि भक्ति-भावना की शारीरिक अभिव्यक्तियों के रूप मे भावनाओ का बाह्य-प्रदर्शन, शिव की भक्ति कथा के श्रवण मे रुचि, गला भर आना, अश्रु-प्रवाह तथा निरन्तर चिंतन एव ईश्वर पर निर्भरता सभी यथार्थ भक्तो के महत्वपूर्ण लक्षण समझे जाते है, चाहे समाज मे उसका कोई भी वर्ण अथवा स्तर हो।

हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि आत्माओ के स्वरूप का ज्ञान, उनके बन्धनकारी तथ्य तथा परमेश्वर के ज्ञान की प्राप्ति, यही मोक्ष का वास्तविक और व्यावहारिक मार्ग है। इस ज्ञान के साथ ही गुरु के उपदेशानुसार आचरण करना चाहिए। इसे क्रिया नाम दिया गया है। गुरु को शैवपथ के अनुसार शिव का अवतार माना जाता है। धर्म-ग्रथो मे निर्धारित विभिन्न वर्णाश्रमो के लिए निर्दिष्ट धर्मों के आचरण द्वारा जिसे चर्या नाम दिया गया है और जिसमे ईश्वर की पूजा भी सम्मिलित है, इस क्रिया की पूर्ति करनी पडती है। जबकि अन्य समस्त मानसिक अवस्थाओ का अवरोध हो चुका हो तब शिव को ध्यान का केन्द्र मानकर भक्तिपूर्ण चिंतन की प्रक्रिया भी इस क्रिया के साथ होनी चाहिए। इन विषयो की व्याख्या करने वाले धर्म-ग्रथ दो प्रकार के हैं, एक वेदमूलक तथा दूसरे स्वतन्त्र मूल के। स्वतन्त्र मूल के धर्म-ग्रथ (आगमों के समान) अट्ठाईस प्रकार के हैं जो कामिक इत्यादि कहलाते हैं जिन्हे सिद्धान्त के नाम से भी पुकारा जाता है।[1]

---

[1] एच०डब्लू शोमरस अपनी 'शैव-सिद्धात' पुस्तक पृ० ३ मे कहते हैं कि शिव-ज्ञान-बोध की एक टीका के अनुसार जिसकी व्याख्या हम आगे करेंगे, शैवमत के ६ तथा १६

७-१-३२ मे कुछ ऐसी गोपनीय तथा गूढ़ शारीरिक प्रक्रियाएँ वर्णित हैं जिनके द्वारा मनुष्य शिव अर्थात् महादेव मे निहित अमरत्व से सम्पर्क स्थापित कर सकता है।[1]

७-२-३७ मे योग को पाँच प्रकार का बताया है—मन्त्रयोग, स्पर्शयोग, भावयोग, अभावयोग तथा महायोग। मन्त्रयोग वह है जिसमे कुछ मन्त्रो की निरतर आवृत्ति द्वारा मानसिक स्थिति स्थिर हो जाती है। जब इसको प्राणायाम से संयुक्त कर लेते हैं तब इसे स्पर्शयोग कहते हैं। जब यह अवस्था आगे विकसित होती है तथा जब मन्त्रों के उच्चारण की आवश्यकता नही रहती है तब इसे भावयोग कहते हैं। योग की इस प्रक्रिया को अधिक उन्नत करने पर अपने विभिन्न स्वरूपो मे जगदाभास सर्वथा लुप्त हो जाता है तथा इसे अभावयोग कहते हैं। इस स्थिति मे योगी का संसार से कोई संबध नही रहता। वह स्वय को शिव का स्वरूप तथा तादात्म समझने लगता है, तथा उसका समस्त उपाधियो से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसको महायोग की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था मे मनुष्य की सासारिक विषयो से विरक्ति हो जाती है, चाहे वे इंद्रियों द्वारा अनुभव किए गए विषय हो, अथवा धार्मिक-ग्रन्थो मे निर्धारित रीतिरिवाज हों। निःसदेह योग के इस अभ्यास मे योगसूत्रो मे निर्धारित यम तथा नियम के अभ्यास, विभिन्न आसनो के अभ्यास, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान-समाधि सम्मिलित हैं। विभिन्न प्रकार के योगो तथा उनके उपादानो की प्रक्रिया शैव धर्म-ग्रंथो एव कामिक तथा अन्य आगमो मे भी उल्लिखित है। जहाँ तक शिवमहापुराण का सम्बन्ध है, हम इसमे वर्णित विभिन्न उपादानो जैसे, यम, नियम, आसन आदि के अभ्यासो मे, तथा पतंजलि के योग-शास्त्र मे वर्णित यमनियमादि प्रकारो मे अधिक अन्तर नहीं पाते। केवल एक

सम्प्रदाय हैं। शौमरस द्वारा उल्लेखित यह सम्प्रदाय इस प्रकार है—

(१) पाशुपत, महाव्रतवाद (?) कापालिक, वाम, भैरव और एकयवाद।

(२) ऊर्ध्व शैव अनादिशैव, आदिशैव, महाशैव, भेदशैव, अभेदशैव, अन्तरशैव, गुणशैव, निर्गुणशैव, अध्वनशैव, योगशैव, ज्ञानशैव, अनुशैव, क्रियाशैव, नालुपादशैव (?) और शुद्धशैव।

हमे इसका ज्ञान नही है कि शैवमत के इन विभिन्न सम्प्रदायो के क्या विषय थे। शैवमत के इन सम्प्रदायो मे से किसी के विचारो का उल्लेख करने वाला कोई भी विशेष मूलग्रंथ हमे नही मिलता। अपनी व्याख्या मे हमने विभिन्न प्रकार के शैवमतो का उल्लेख किया है तथा उनमे से अनेक पाशुपत शैवमत के नाम से जाने जाते है परन्तु प्रकाशित अथवा अप्रकाशित निश्चित सामग्री के अभाव मे हमारे लिए यह निश्चय करना असम्भव है कि यह पाशुपत प्रणाली भी विभिन्न नामो के विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित थी।

[1] देखिए पद्य ४५-५६ (७.१ ३२)।

महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि, पतंजलि के योग में मन को पहले स्थूल पदार्थों पर, तत्पश्चात् तन्मात्र, तदुपरांत अहंकार तथा उसके बाद बुद्धि पर केन्द्रित करना पड़ता है जबकि शैवयोग में योगी को शिव के दैवीस्वरूप का चिन्तन करना पड़ता है। योगशास्त्र में भी यह निर्धारित है कि मनुष्य ईश्वर का चिंतन कर सकता है तथा उसके प्रति भक्ति द्वारा किसी भी योगी को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। योगशास्त्र में योगी के लिए दो प्रकार के मार्ग हैं—प्रथम ईश्वर का चिंतन तथा द्वितीय, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों की ओर निरन्तर अग्रसर होता हुआ चिंतन जिसके फलस्वरूप बुद्धि समस्त भौतिक प्रवृत्तियो तथा प्रभावों से सर्वथा रहित हो जाती है तथा अन्त मे स्वय प्रकृति में लुप्त हो जाती है और वहाँ से पुरावर्तन नहीं होता। अत पतंजलि के योग में साख्यसिद्धात व साख्यतत्व दर्शन का समन्वय बौद्ध मतानुयायी पूर्व प्रचलित योग प्रणाली के साथ करने का प्रयास परिलक्षित होता है तथा 'ईश्वर' सिद्धात वाले आस्तिक पंथ को भी समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है जिसका योग-प्रणाली के साथ, येन-केन-प्रकारेण मोटे रूप में सामजस्य बिठलाया गया है।

शिवमहापुराण आगे प्राणायाम का वर्णन करता है, जो इस प्रकार है—पूरक जिसमे नासिका से वायु लेकर समस्त शरीर मे भरते हैं। रेचक, जिसमे वायु शरीर से निकालते हैं तथा कुम्भक, जिस प्रक्रिया मे शरीर में वायु भरने के पश्चात् उसे स्थिर रखते हैं। प्राणायाम की प्रक्रिया से मनुष्य शरीर का इच्छानुसार त्याग कर सकता है।

प्राणायाम का विकास शनै-शनै श्वास प्रश्वास के समय को बढ़ाने से होता है। इस प्रकार प्राणायाम के चार स्तर हैं जिन्हे कन्यक, मध्यम, उत्तम तथा पर कहते हैं। सवेगात्मक भाव आनन्द की अभिव्यक्ति के कारण कम्प, स्वेद प्रकट होते हैं। इसी कारण कभी उन्मुक्त अश्रुप्रवाह तथा कभी-कभी असगत वाणी या स्वरभग तथा मूर्च्छा तक आ जाती है। यह ध्यान देने की बात है कि ऐसी अवस्थाएँ पतजलि के योग मे न तो वर्णित हैं और न आवश्यक हैं। इसी सदर्भ मे प्राणायाम का विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा पाँच प्रकार की वायु शक्तियो के विषय में बतलाया गया है जिन्हे प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान कहा गया है। प्राणवायु में पाँच प्रकार की वायु सम्मिलित हैं जिन्हें नाग, कूर्म, कूकर, देवदत्त तथा धनजय कहा गया है जो प्राणवायु के विभिन्न कार्यों का संपादन करती हैं। अपानवायु वह शक्ति है जिसके द्वारा जो कुछ भी खाद्य तथा पेय के रूप मे लिया जाता है उस सबका परिपाक हो जाता है तथा वह नीचे के भागो मे चला जाता है। व्यान वह शक्ति है जो समस्त शरीर में व्याप्त है तथा इसका विकास करती है। उदान वह है जो जैविक ग्रन्थियों तथा शरीर को प्रभावित करती है। समान वह है जो शरीर को रक्तप्रवाह प्रदत्त करता है। जब योगी के संकल्प के अनुसार इन वायुओं की शक्ति तथा कार्यों का उचित समन्वय हो जाता है, तब वह शरीर के सभी दोषो तथा व्याधियों को समाप्त करने में सफल हो जाता है, और अपने स्वास्थ्य की उचित रीति से रक्षा करता है। उसकी परिपाक

शक्ति की वृद्धि हो जाती है एव परिश्रम कम हो जाता है। उसका शरीर हल्का हो जाता है। शीघ्रता से चल फिर सकता है, उसमें शक्ति आ जाती है तथा उसकी वाणी मे श्रेष्ठता आ जाती है। वह किसी रोग से पीड़ित नहीं होता तथा पर्याप्त रूप मे उसे शक्ति तथा ओजस्विता प्राप्त हो जाती है। उसे धारण, स्मरण, उपयोगिता, स्थिरता तथा सतुष्टि की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वह सयास व्रतादि ले सकता है। अपने पाप नष्ट कर सकता है, यज्ञ कर सकता है तथा दान दे सकता है जैसाकि मनुष्यो के लिए विहित है।

प्रत्याहार मन का वह नियत्रण है जिसमे इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले विषयो से बुद्धि को विरत करने का प्रयास किया जाता है। जिसे सुख की कामना हो, उसे निवृत्ति के गुण का अभ्यास करना चाहिए तथा सत्य ज्ञान को प्राप्त करने का भी प्रयत्न करना चाहिए। अपनी इन्द्रियो पर नियत्रण करने से मनुष्य अपने को ऊपर उठा सकता है। जब इस प्रकार बुद्धि को किसी विषय पर स्थिरतापूर्वक प्रवहित किया जा सके, तब वह धारणा की स्थिति होती है। शिव के अतिरिक्त ऐसा कोई विषय नही जिस पर बुद्धि को स्थिरतापूर्वक अनुरक्त किया जाय। धारणा की उचित अवस्था मे बुद्धि को उसके विषय, शिव से एक क्षण के लिए भी पृथक् नही करना चाहिए। बुद्धि की स्थिरता से धारणा अग्रसर हो सकती है अत धारणा के निरतर अभ्यास से बुद्धि को दृढ़ तथा स्थिर बना लेना चाहिए। ध्यान शब्द 'ध्यै' धातु से निकलता है, जिसका अर्थ बाधारहित बुद्धि से शिव का चितन है। अत इस अवस्था को ध्यान कहा गया है। जब मनुष्य ध्यानावस्था मे होता है तब उसके चितन के विषय की, किसी अन्य विचार के सयोजन के बिना, निरतर एक ही रूप में आवृत्ति होती रहती है। एक ही प्रकार के प्रत्यय अथवा विचार के निरतर प्रवाह को ध्यान कहते है।[1] यह स्मरण रखना है कि मनुष्य को तप अथवा नाम का भजन अथवा मत्रो का उच्चारण करके ध्यानावस्था में चले जाना चाहिए तथा जब ध्यान टूटे तब तप करते रहना चाहिए, तथा उससे फिर ध्यानावस्था में चले जाना चाहिए जब तक कि योग पूर्णत प्राप्त नही हो जाता। समाधि योग की अन्तिम अवस्था है जिसमें बुद्धि प्रज्ञा के प्रकाश से आलोकित होती जाती है। प्रज्ञा लोक वह अवस्था है जिसमें यथार्थ मे अन्य कुछ भी प्रतीत नही होता तथा जहाँ केवल समाधि मे ध्येयविषय असीम शात सागर के समान प्रज्वलित होता है।[2] बुद्धि को चितन के विषय पर केन्द्रित करने पर,

---

[1] ध्येयावस्थित-चित्तस्य सदृश प्रत्ययशून्च य,
प्रत्ययातर-निर्मुक्त प्रवाहो ध्यानमुच्चयते,
सर्वम् अन्यत् परित्यज्य शिव एव शिवकर। —शिवमहापुराण, ७-२-३७(५२-३)

[2] समाधिना च सर्वत्र प्रज्ञालोक प्रवर्तते,
यदर्थ-मात्र-निर्भास स्तिमितोदधि-वत्-स्थितम्,
स्वरूप-शून्यवद् भास समाधिरभिधीयते। —तत्रैव, ७-२-३७ (६१-२)।

साधक, बुझती हुई अग्नि के समान दृष्टिगोचर होता है, वह न कुछ श्रवण करता है, न सूंघता है, न कुछ स्पर्श करता है और न उसकी बुद्धि विचार करती है। उसे कुछ बोध नहीं होता, वह तो लकड़ी के टुकड़े के समान है। अत जब मनुष्य की आत्मा शिव मे लीन हो जाती है तब उसे समाधि की अवस्था कहते हैं। वह उस दीपक के समान है जिसकी शिखा स्थिरता से प्रज्वलित रहती है। समाधि की इस अवस्था को साधक कभी नही तोड़ता।

किन्तु यह ध्यान देना होगा कि योगाभ्यास के पथ मे अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। इनमे से कुछ ये हैं —

आलस्य, कष्टप्रद रोग, प्रमाद, चिंतन के विषय के बारे मे सशय, बुद्धि की अस्थिरता, श्रद्धा का अभाव, काल्पनिक धारणाएँ, पीड़ा, निराशा तथा विषयों पर आसक्ति। आलस्य का अर्थ शारीरिक तथा मानसिक दोनो के आलस्य से है। रोग निश्चय ही तीन धातुओ अर्थात् वात, पित्त तथा कफ मे बाधा उपस्थित होने से होते हैं। प्रमाद योग के सपादन के साधनो के सही तरह प्रयोग मे न लाने से उत्पन्न होता है। चिंतन के यथार्थ विषय का सशयपूर्ण अन्वेषण-स्थान सशय कहलाता है। श्रद्धा के अभाव का अर्थ है उपयुक्त भावना के बिना भी योग प्रक्रिया को चलाते रहना। समस्त दु ख तीन प्रकार के होते है —आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। निराशा व्यक्ति की कामनाओ के व्याघात से उत्पन्न होती है तथा दौर्मनस्य नामक मानसिक कष्ट का कारण है। जब बुद्धि, कामना के विभिन्न विषयो की ओर आकर्षित होती है, तब इसे स्फुरण की अवस्था कहते हैं। जब इन बाधाओ पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तब अन्य बाधाएँ अलौकिक शक्तियो के प्रकट होने के मार्ग मे आकर उपस्थित हो जाती है।

पाशुपत-योग मे 'योग' शब्द का प्रयोग, 'युजिर योगे' धातु से माना गया है, न कि मूल 'युज् समाधौ से, जैसाकि पतजलि के योग मे किया गया है। चिंतन, चिंतन के विषय तथा चिंतन के उद्देश्य के पूर्ण ज्ञान से ही यथार्थ योग उदित होता है। शिव के चिंतन के समय व्यक्ति को शिव की शक्ति का भी चिंतन करना चाहिए, क्योकि समस्त ससार उन दोनो से व्याप्त है।

उन चमत्कारिक शक्तियो मे से, जो योग की उन्नति के मार्ग मे बाधा समझी गई है, प्रतिभा भी एक है, जो सूक्ष्म पदार्थों, भूतकालिक वस्तुओ, हमारे नेत्रो से दुर्बोध वस्तुओ तथा भविष्य मे आने वाली वस्तुओ की ज्ञान-शक्ति है। न्याय मजरी मे जयत ने प्रतिभा शब्द का उल्लेख सर्वथा भिन्न अर्थ में किया है। उनका वहाँ प्रतिभा से अर्थ भविष्य में घटित होने के ज्ञान की अस्पष्ट अनुभूति से है, उदाहरणार्थ 'कल मेरे भ्राता आएँगे।' बिना प्रयत्न समस्त प्रकार के नादों के बोध की शक्ति, ससार मे किसी भी प्राणी द्वारा जो कुछ भी व्यक्त किया जाय उसे समझने की शक्ति तथा दिव्य दृष्टि की शक्तियाँ इसमें सम्मिलित हैं। अत. इन अद्भुत शक्तियो द्वारा मनुष्य दिव्य सुख तथा उच्चकोटि

के स्वर्ग एवं प्राण के उत्कृष्ट सुख प्राप्त कर सकता है। अतः मनुष्य समस्त प्रकार की अद्भुत शक्तियां प्राप्त कर सकता है, तथा उनका उन समस्त वस्तुओं पर पूर्ण अधिकार हो जाता है, जिनकी उसे कामना हो। विभिन्न प्रकार की ऐसी अद्भुत शक्तियों को और अधिक स्पष्ट करना अनावश्यक है, जिन्हें योगी प्राप्त कर सकता है किन्तु जो उसे उसके महायोग अर्थात् शिव से ऐक्य के उन्नत मार्ग से विमुख कर सकती है।

परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाशुपत योग के उसी अध्याय में कुछ ऐसी विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जो पातंजल-योग में नहीं मिलती हैं। अतः ७-२-३८ में योग के एक विशेष आसन के वर्णन में मनुष्य को नासिका के छोर पर ध्यान केन्द्रित करने तथा इधर-उधर न देखने का परामर्श दिया गया है। मनुष्य पाषाण के समान स्थिर होकर बैठ जाता है तथा शिव व शक्ति का ध्यान अपने आप में करने का प्रयत्न करता है, मानो वे उसके हृदय में स्थापित हों तथा उसको अपने साथ तादात्म्य का चिंतन करता है। मनुष्य अपनी नाभि, गला, तालु तथा भौंहों के बीच के स्थान पर भी ध्यान केन्द्रित कर सकता है। मनुष्य को एक ऐसे कमल का जिसमें दो, छः, दस, बारह अथवा सोलह पखुडियाँ हों, अथवा एक प्रकार के चतुर्भुज का ध्यान करना चाहिए जिसमें मनुष्य शिव को स्थापित कर सके। भौंहों के बीच के स्थान के कमल की दो पखुडियाँ विद्युत् के समान उज्जवल हैं। इसी प्रकार उन अन्य कमलों में जिनमें अधिक पखुडियाँ होती हैं, उनमें नीचे से ऊपर की ओर प्रत्येक पखुडियों के साथ स्वर प्रतीक रूप में संयोजित होते हैं। 'क' से प्रारम्भ तथा 'ट' से अंत होने वाले व्यंजन अक्षर भी कमल से प्रतीक रूप में संयोजित माने जाते हैं तथा उन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। एक प्रकार की दुर्बोध विधि से भिन्न-भिन्न व्यंजन अक्षर काल्पनिक कमलों की भिन्न-भिन्न पखुडियों के प्रतीक रूप में संयोजित माने जाते हैं तथा मनुष्य को स्थिरता से पखुडियों के अक्षरों के प्रतीक रूप में शिव तथा शक्ति का चिंतन करना चाहिए।

योग-मार्ग पर अग्रसर होने हेतु, शैव-धर्म-ग्रंथों में उल्लेखित शिव प्रतिमाओं का ध्यान भी आवश्यक है जैसे शिव की भिन्न-भिन्न स्थूल प्रतिमाओं का दर्शन और ध्यान।

ध्यान पहले किसी पदार्थ पर से आरम्भ होना चाहिए, तत्पश्चात् यह पदार्थरहित हो जाता है। परन्तु बुद्धिवादियों का कहना है कि ध्यान की पदार्थरहित स्थिति कभी हो ही नहीं सकती। अतः यह कहा जाता है कि ध्यान में बौद्धिक विस्तार होता है।[१]

---

[१] तत्र निर्विषयं ध्यानं नास्तीत्येव सतां मतम्,
बुद्धेर्हि सन्ति काचिद् ध्यानमित्यभिधीयते।

—शिव-महापुराण, ७. २. ३९. ४.।

इसी कारण ध्यान की अवस्था मे केवल बुद्धि का प्रवाह होता है, और उसे प्राय निर्विषय माना जाता है। अत जिसे निर्विषय ध्यान कहते हैं, वह केवल सूक्ष्म तत्वो पर चिंतन है। यह भी प्राय कहा जाता है कि जब शिव के किसी विशेष आकार पर चिंतन होता है तब उसे सविषय कहते हैं, तथा जब यह आत्मज्ञान के विस्तार के रूप मे निराकार अवस्था मे होता है, तब इसे निर्विषय कहते हैं, इस विषय ध्यान को सबीज भी कहते है तथा निर्विषय ध्यान निर्बीज कहलाता है। प्राणायाम तथा ध्यान के फलस्वरूप बुद्धि पारदर्शक हो जाती है तथा शिव के विचार का निरतर स्मरण होता रहता है। जैसा हमने पहले कहा है, ध्यान का अर्थ शिव के आकार के निरतर प्रवाह के अतिरिक्त कुछ नही है।[1] बुद्धि का यह निरतर प्रवाह ही ध्यान का विषय माना जाता है। आनन्द तथा मोक्ष दोनो ध्यान से उत्पन्न होते हैं, इसी कारण मनुष्य को सदैव ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान से अधिक उच्च कुछ भी नही है।[2] जो ध्यान करते हैं वे शिव के प्रिय है न कि वे जो केवल कर्मकाड करते है।

---

[1] बुद्धि-प्रवाह-रूपस्य ध्यानस्यास्यावलम्बनम्,
ध्येयमित्युच्यते सद्भिस्तच्च साम्ब स्वय शिव ।

—शिव-महापुराण, ७ २ ३९ १९. ।

[2] नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यानसम तप
नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद् ध्यान समाचरेत् ।

—वही, २. ३९. २८ ।

अध्याय ४८

शैव-दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ

पाशुपत सूत्रों का सिद्धांत

शैवमत की पाशुपत-प्रणाली के कुछ दार्शनिक सिद्धान्तो का सम्बन्धित खडो में विवरण किया गया है। परन्तु प्रणाली के आचार सम्बन्धी तथा कर्म-काड सम्बन्धी पक्षो के प्रामाणिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, जिनका प्राय अन्य स्थानो मे, उदाहरणार्थ, सर्वदर्शन-सग्रह की शैवमत की व्याख्या मे, उल्लेख किया गया है। यह पाशुपत-सूत्रो मे जिन पर कौडिण्य का भाष्य है मिलती है, जिसका प्रकाशन १६४० मे त्रिवेन्द्रम के ट्रेवन कोर विश्वविद्यालय के प्राच्य हस्तलेख पुस्तकालय द्वारा हुआ था। यह कहा जाता है कि शिव ने नकुलीर के रूप मे अवतार लिया था, अत वे पाशुपत-सूत्रो के निर्माता थे। कौडिण्य का भाष्य भी बहुत प्राचीन है जैसाकि इसकी लेखन-पद्धति से निर्धारित किया जा सकता है। पाशुपत-सूत्रो के सपादक ए० शास्त्री का विचार है कि कौडिण्य चौथी तथा छठी शताब्दी के मध्य वर्तमान हो सकते हैं। कौडिण्य के भाष्य के साथ पाशुपत-सूत्र हमे शैवमत का कोई दर्शन नही देते है। वह लगभग पूर्णतया कर्मकाडो अथवा जीवन के आचार की व्याख्या करते है। यह भी बहुत सम्भव है कि जीवन के ऐसे वैराग्याचार प्राचीनकाल से ही प्रचलित हो, तथा शैवमत का दर्शन इनके साथ बाद मे जोड दिया गया हो। यद्यपि जीवन के ऐसे वैराग्य आचारो का बाद मे प्रतिपादित शैव-दर्शन से कोई सम्बन्ध नही है, तथापि सामान्य मानव-शास्त्रीय दृष्टि से तथा धार्मिक दृष्टि से वे रुचिकर अध्ययन का विषय हो सकते है क्योकि वैराग्य के यह आचार उन मनुष्यो के जीवन से सम्बन्धित है, जो शैव-दर्शन मे विश्वास करते हैं। माधव के सर्व-दर्शन-सग्रह मे पाशुपत-प्रणाली को दर्शन की किसी पद्धति के रूप मे नही वरन् विभिन्न प्रकारो की वैराग्य-साधना के रूप मे वर्णित किया गया है। जब शकराचार्य शैव-प्रणाली का खडन करते हैं, तब वह उसे विस्तृत रूप के किसी दार्शनिक सिद्धांत के रूप में विशेषत उल्लिखित नही करते। वे शैवो को 'ईश्वरकारणी' कहते हैं, जो ईश्वर को ससार का सृष्टा मानते हैं। नि सदेह नैयायिक भी ईश्वरकारणिन हैं, तथा वे भी इस तरह शैव ही हुए। नैयायिको के अन्य सिद्धात मुख्यत वैशेषिक से लिए गए हैं, तथा शकर ने न्याय-वैशेषिक की अपनी सम्मिलित आलोचना मे उनका उल्लेख किया है। अत जहाँ तक धार्मिक मान्यता का प्रश्न है नैयायिको का पंथ शैवों के समान ही है। परन्तु जहाँ

पाशुपत-सम्प्रदाय के शैव, वैराग्य के कर्मकांडों को प्रमुखता देते हैं, वहां नैयायिक तार्किक शास्त्रार्थ को प्रमुखता देते हैं। अत. यदि यहां पाशुपत-पथ के वैराग्य-पक्ष की सामान्य रूपरेखा का विवेचन किया जाए तो वह अप्रासगिक नहीं होगा, यद्यपि यह दार्शनिक सिद्धांतो की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण योगदान नही माना जाएगा।

टीकार कौंडिण्य ने अपने भाष्य के आरम्भ मे, उस पाशुपति की स्तुति से मगलाचरण किया है जिसने ब्रह्मा से आरम्भ कर सम्पूर्ण ससार की सृष्टि सबके शुभ के लिए की है। उनके अनुसार पाशुपत-प्रणाली मे तर्क के पाच विषय-कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुखात हैं।[1]

पाशुपत-प्रणाली का उपदेश सब प्रकार के दु खो के सपूर्ण विनाश के लिए है, तथा यह उपदेश केवल अधिकारी शिष्यो को ही दिया जा सकता है। जब प्रभु द्वारा निर्धारित वैराग्य के आचारो का शिष्य अनुसरण करता है, तब वह उसके (प्रभु को) अनुग्रह द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। यह पहले स्पष्ट किया गया है कि शिव महाकारुणिक कहलाते है। शैव विचार का स्पष्टीकरण करते हुए हमने करुणा के सिद्धात का पूर्ण परीक्षण किया है, तथा यह भी देखा है कि अनुग्रह का यह सिद्धात कर्म सिद्धात तथा पुनर्जन्म सिद्धात से सम्बन्धित है, जो कर्म सिद्धान मे निहित न्याय की धारणा के अनुरूप है। परन्तु पाशुपत-सूत्र मे हमे यह बताया गया है कि मोक्ष शिव के अनुग्रह से प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। 'पशु' शब्द का अर्थ सतो तथा समस्त शक्तिमानो के अलावा समस्त चेतन प्राणियो से है। उनका पशुत्व इस तथ्य मे निहित है कि वे निर्बल हैं तथा उनकी निर्बलता उनका बधन है। यह बधन, अर्थात् उनकी कारण शक्ति पर सपूर्ण निर्भरता अनादि है। 'पशु' शब्द 'पाश' से सम्बन्धित है जिसका अर्थ 'कारण तथा कार्य' है तथा जो शास्त्रीय भाषा मे 'कला' कहलाता है। इस प्रकार समस्त पशु कारण व कार्य, ऐन्द्रिय पदार्थों एव उनके विषय से बधे है तथा उनसे अनुरक्त हो जाते हैं। 'पशु' शब्द 'पश्यति' से निकला है। यद्यपि समस्त पशु सर्वव्यापक तथा शुद्ध चेतन स्वरूप हैं, तथापि वे केवल अपने शरीरो का ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं, उन्हे कारण तथा कार्य के स्वरूप का बोध नही है, तथा वे उनके परे नही जा सकते। पशुपति का अर्थ यह है कि वह सब जीवो की रक्षा करता है। कौंडिण्य निश्चयपूर्वक कहते है कि दु खो से मुक्ति

[1] पाशुपत-सूत्रो के सपादक नकुलीश से आरम्भ कर गुरुओ की निम्नलिखित सूची देते हैं—नकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्रेय, कोरूश, ईशान, परगार्ग्य, कपिलानन्द, मनुष्यक, कुशिक, अत्रि, पिंगल, पुष्पक, बृहदार्य, अगस्ति, सन्तान, राशिकर (कौंडिण्य) तथा विद्यागुरु। सत्रहवें गुरु राशिकर को संपादक ने कौंडिन्य माना है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि बृहदारण्यक उपनिषद् ६ २ ४ में कौंडिण्य गोत्र के नाम के रूप में आता है।

केवल ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य एवं त्याग के द्वारा नही वरन् केवल प्रसाद से ही प्राप्त हो सकती है।[1]

शैवानुशासन ग्रहण करने का अधिकारी तीक्ष्ण-बुद्धि वाला ब्राह्मण होता है। भक्ति सम्बन्धी आचारो की ओर प्रवृत्त करने वाला शिव बनने की कामना उत्पन्न करता हुआ गुरु उपदेश, उदारता और अनुग्रह की भावना से उन्हे दिया जाता है, जो समस्त दुखो के विनाश की कामना करते हैं।

'योग' शब्द का प्रयोग आत्मा का ईश्वर से सयोग निर्देशित करने के लिए किया गया है (आत्मेश्वर सयोग योग)। इस प्रकार सयोग का अर्थ है कि जो मनुष्य अन्यथा सलग्न था, वह अपने को ईश्वर के श्रेष्ठ विषय की ओर अग्रसर करता है, अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि ईश्वर तथा मनुष्य दोनो का एक-दूसरे से सम्पर्क होता है, जब तक वे पूर्णत मिल न जाय। सासारिक पदार्थों मे विरक्ति होना योग की प्रथम आवश्यकता है।

योग की प्राप्ति केवल ज्ञान द्वारा नही हो सकती, बल्कि मनुष्य को योग-विधि नामक एक निश्चित प्रकार के कर्म का पथ ग्रहण करना पडता है। विधि का अर्थ कर्म है। इस प्रकार हमारे पास सुख व दुख के विनाश के रूप मे कार्य, कारण, योग तथा विधि एव पाँच तत्व हैं जो पाशुपत शास्त्र के विचार-विमर्श के विषय हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन करते हुए कौडिण्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा आत्म-प्रत्यक्ष मे भेद करते है। इन्द्रियो द्वारा मनुष्य विभिन्न प्रकार के ऐन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष कर सकता है। जैसेकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध तथा वे पदार्थ जिनमे ये स्थित है। वास्तव मे बहुत से प्रत्यक्ष इन्द्रिय पदार्थ के सनिकर्ष द्वारा होते है तथा अपनी सपूर्णता मे ऐसे सपर्क द्वारा अनेक पक्षो मे अभिव्यक्त होते है और प्रमाण माने जाते है। आत्म-प्रत्यक्ष का अर्थ, सम्बन्ध की वह सपूर्णता है, जो चित्त, अन्त करण, मन तथा बुद्धि द्वारा उत्पन्न होती है। अनुमान स्वाभाविक रूप से प्रत्यक्षीकरण पर आधारित है। मन, बुद्धि तथा आत्मा का सम्बन्ध अपने को अनेक रूपो मे व्यक्त करता है और सस्कार तथा स्मृतियाँ उत्पन्न करता है। यह अन्य प्रकार के ज्ञान अथवा उनमे अनुमित होने वाले ज्ञान चेतनाओं की ओर प्रवृत्त करता है।

अनुमान, दृष्ट (प्रत्यक्षीकृत) तथा सामान्यतोदृष्ट (सामान्यो द्वारा प्रत्यक्षीकृत) दो प्रकार का होता है। दृष्ट अनुमान दो प्रकार का होता है—पूर्ववत् तथा शेषवत्।

---

[1] तस्मात्प्रसादात् स दुखान्त प्राप्यते। न तु ज्ञान-वैराग्य-धर्मैश्वर्य-त्याग-मात्रादित्यर्थ।
—पाशुपत-सूत्र (टीका, पृ० ६।

पूर्ववत् वह है जो पूर्व अनुभवों से सम्बन्धित है। इसके छ अगुलियाँ देखी गई थीं तथा अब भी हमे इसके छ अगुलियाँ दिखती हैं, अत यह वही है जो पहले था। यह पूर्ववत् दृष्टानुमान है। जबकि एक पशु को उसके सीगो तथा लटकती हुई अयाल के प्रमाण पर गाय के रूप मे पहचानते है, तब उसे शेषवत् अनुमान कहते हैं। शेषवत् अनुमान का उद्देश्य एक जाति की वस्तुओ का दूसरो से भेद करना है। सामान्यतो दृष्ट (सामान्यो द्वारा प्रत्यक्षीकरण) के उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि क्योकि एक पदार्थ की स्थिति अनेक स्थानो पर नही हो सकती अत मनुष्य यह अनुमान कर सकता है कि चद्रमा तथा तारे जो स्थान परिवतन करते हैं--आकाश मे घूम रहे हैं। आगम अथवा शब्द-प्रमाण वह शास्त्र-प्रमाण है जो हमे महेश्वर से उनके शिष्यो द्वारा प्राप्त हुआ है। पाशुपत-सूत्र केवल प्रत्यक्षीकरण, अनुमान तथा शब्द-प्रमाण स्वीकार करता है, अन्य प्रकार के प्रमाण इन्ही के अन्तर्गत आ जाते है।

प्रमाणो द्वारा पदार्थों की सिद्धि प्रत्यक्ष करने वाले दृष्टा के लिए की जाती है। प्रमाणो के विषय पाँच प्रकार के तत्व है, कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःख का विनाश चेतना अथवा विचार-उत्पत्ति सविद, सचितन अथवा सबोध कहलाते हैं। इन्ही के द्वारा ज्ञान प्रकट होता है। प्रारभ के प्रथम क्षण से ज्ञान की पूर्ति तक ज्ञान की प्रक्रिया चलती रहती है।

आचारो के विषय म यह कहा गया है कि मनुष्य को भस्म सगृहीत करनी चाहिए तैयार करनी चाहिए तथा शरीर पर प्रात काल, मध्याह्न तथा तीसरे पहर इस भस्म का लेप करना चाहिए। किन्तु यथाथ स्नान, सदगुणो की प्राप्ति द्वारा ही होता है, जिससे आत्मा शुद्ध हो जाती हैं। मनुष्य को भस्म पर लेटना भी चाहिए किन्तु जागते रहना चाहिए क्योंकि जिस व्यक्ति को जन्म व पुनर्जन्म के चक्र से भय है उसके पास निद्रा के लिए समय नही हो सकता। शुद्धि के लिए तथा शैव चिह्न धारण करने की दृष्टि से जल के स्थान पर भस्म का प्रयोग होना चाहिए। अत भस्म लिंग कहलाती है अर्थात् पाशुपत-वैरागी का चिह्न। यहाँ हमे ध्यान देना होगा कि लिंग शब्द, जो शैव सिद्धात के सम्बन्ध मे प्राय लिंग-पूजन सम्बन्धी चिह्न के लिए प्रयोग होता है, यहाँ पर मनुष्य को केवल पाशुपत-वैरागी सूचित करने वाले चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जिस भस्म मे शरीर पर लेप होता है वह मनुष्य को पाशुपत-वैरागी के रूप मे दर्शाती है। अत भस्म न लिंग मानी जाती है। यह भस्म पाशुपत वैरागी को अन्य पथो के अनुयायियो से पृथक् करती है।

पाशुपत योगी ग्राम, जगल अथवा किसी तीर्थ-स्थान मे रह सकता है, तथा वहाँ वह अपने को ओम शब्द के उच्चारण, हँसने, गाने, नृत्य करने तथा अपने मुँह व होठो से विशेष प्रकार की ध्वनियाँ निकालने मे सलग्न कर सकता है। नैतिक गुणो को प्रदान करने वाले तथ्यो मे अत्यधिक प्रमुखता यमो को दी गई है, जिनमे अहिंसा, ब्रह्मचर्य,

सत्य तथा अपरिग्रह सम्मिलित है। इनके पश्चात् नियम है जिनमें अक्रोध, गुरु-सेवा, शुद्धता, हल्का भोजन तथा अप्रमाद सम्मिलित हैं। यम तथा नियम मे से यम अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। जैनियो की तरह अहिंसा को अत्यधिक प्रमुखता दी गई है तथा वह सर्वोत्तम मानी गई है। वास्तव मे ब्रह्मचर्य का अर्थ सब प्रकार के इंद्रिय-नियत्रण से है, विशेषकर स्वाद तथा प्रजनन के इन्द्रियो के नियमन से। स्त्रियों से सम्बन्ध का बहुत तिरस्कार किया गया है। सत्य मे सच बोलना भी शामिल है तथा उसकी प्रशसा भी की गई है किन्तु सत्य का वास्तविक मापदड यही माना गया है कि उसके बोलने से अधिकाधिक जन-कल्याण होना चाहिए। अशुद्ध कथन अथवा मिथ्या कथन भी यदि समस्त जीवो के लाभ के लिए हैं, तब उसे कठोर सत्य कथन से श्रेष्ठ मानना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि पाशुपत-प्रणाली समस्त प्रकार के वाणिज्य कर्म तथा व्यापार का निषेध करती है, क्योकि इनसे परस्पर व्यवहार करने वाले व्यक्तियो को कष्ट पहुँच सकता है। ऊपर अक्रोध की गणना, सद्गुण के रूप मे की गई है। इसके अन्तर्गत ईर्ष्या, शत्रुता, दर्प एव मनुष्य के मन में दूसरो के अशुभ की कामना, इत्यादि सभी बातो से पूर्णत उदासीनता सम्मिलित है। साथ ही इनके अनु-रूप किया गया कोई भी कर्म, अक्रोध मे ही शामिल माना जाता है। पाशुपत योगी को भिक्षावृत्ति से अपना जीवन-यापन करना पडता है।

ऊपर यह कहा गया है कि पाशुपत वैरागी को ब्राह्मण होना चाहिए। विशेष परिस्थितियो के अतिरिक्त उसके लिए स्त्रियो तथा शूद्रो से सम्भाषण का निषेध है। ऐसी विशेष परिस्थितियो के आ जाने पर उसे अपनी शुद्धि भस्म स्नान, प्राणायाम, रौद्री गायत्री के उच्चारण द्वारा करनी चाहिए। यदि किसी को स्त्री अथवा शूद्र से मिलकर उससे सम्भाषण करना पडता है, तब उसके लिए प्राणायाम आदि का निर्धारण वैरागी की शुद्धि के लिए किया गया है, क्योकि अन्यथा उनसे मिलने के लिए विवश होने पर वैरागी की बुद्धि मे क्रोध उत्पन्न हो सकता है, तथा उससे उसकी स्वय की बुद्धि को आघात पहुँच सकता है।

जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है तथा मनुष्य परम प्रभु महेश्वर के साथ योग-मार्ग पर अग्रसर होता है तब मनुष्य को अनेक अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[1]

महेश्वर जो ब्रह्मन् भी माने जाते हैं, अनादि तथा अविनाशी हैं, वे अजन्मा हैं तथा सब प्रकार के रोगों से रहित हैं। जब मनुष्य को उनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब मनुष्य को उनमें शरण लेनी चाहिए तथा उनके द्वारा शास्त्रो मे वर्णित आचारो का अनुसरण करना चाहिए।

---

[1] देखिए पाशुपत सूत्र १,२१-३७।

महेश्वर अपने लीलामय स्वरूप से समस्त पदार्थों की सृष्टि तथा संहार करने वाले बतलाए गए हैं। ईश्वर महान् है क्योंकि वह समस्त जीवो की गतियो तथा प्रवृत्तियों का नियंत्रण करता है। उसकी नित्यता उसके निरंतर ज्ञान तथा क्रिया मे है, जिसके द्वारा वह सब मे व्याप्त है। वह रुद्र कहलाता है क्योंकि वह सबको भय से सयोजित करता है।[1]

महाप्रभु स्वस्थित (अपने आप में स्थित) विश्व की सृष्टि, पालन तथा सहार करता है अर्थात् उसमें ही आकाश मे तारों के समान विश्व प्रकट तथा लुप्त हो जाता है। ईश्वर अपनी सकल्प-शक्ति से ससार की सृष्टि करता है क्योंकि कार्य-रूप समस्त संसार उसके स्वय के बल तथा शक्ति में अवस्थित है तथा उसकी शक्ति के कारण ही निरन्तर स्थित रहता है।

इस विषय के पुन स्पष्टीकरण के लिए भाष्य (२-५) मे यह कहा गया है कि महेश्वर का तत्व सर्व-व्यापक है तथा पुरुष, प्रधान आदि तत्व महत्तत्व के ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार, आत्मा का तत्व होने के कारण पुरुष तत्व भी सर्व-व्यापक है, तथा प्रधान आदि के चौबीस तत्व पुरुष द्वारा ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार तत्वो के क्षेत्र मे भी, बुद्धि सर्वव्यापक है तथा अहकार से प्रारम्भ होकर अन्य बाईस तत्व बुद्धि द्वारा ओतप्रोत है। इसी प्रकार अहकार भी सर्वव्यापक है तथा ग्यारह इन्द्रियाँ इसके द्वारा ओतप्रोत हैं, पुन इसी प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ सर्वव्यापक है तथा सूक्ष्म पाँच तनमात्र उनके द्वारा प्रवेश करते है। इसी प्रकार स्थूल पदार्थों मे भी आकाश, वायु तेजस आदि को इन्ही प्रक्रियाओ से व्याख्यात किया जा सकता है।

कारण तथा कार्य के प्रारम्भिक मूल भेद के विषय मे प्रश्न उठता है। भाष्य (२-५) के लेखक का कथन है कि इनका बोध हल्दी तथा जल के मिश्रण के सादृश्य मे कराया जा सकता है, हल्दी के जल मे एक ओर जल के गुण हैं तथा दूसरी ओर हल्दी के गुण। इस प्रकार जब महेश्वर समस्त जीवो को उनके दिए हुए सुखो, दु खो तथा उन शरीरो जिनसे वह उन्हें सम्बन्धित करता है, सयोजित माना जाता है, तब हमे पूर्णता का ख्याल होता है। इस प्रकार ईश्वर प्रकृति के सुखो व दु खो से सयोजित हो सकता है, यद्यपि वह स्वय सर्वथा अपरिवर्तनशील है। इसी दृष्टान्त से प्रधान व प्रकृति के अन्य तत्वो का भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। सर्वव्याप्त होने के कारण परमेश्वर स्वाभाविक रूप से कारण तथा निमित्त अवस्था, दोनो में व्याप्त है। कारण से तदात्म होने के कारण कार्य नित्य है, कारण अर्थात् ईश्वर नित्य है तथा समस्त सृष्टि उसमे तथा उसके द्वारा होती है। इस प्रकार के तर्क से ससार नित्य हो जाता है, क्योंकि

---

[1] रुतस्य भयस्य द्रावणात् संयोजनाद् रुद्रः।

—पाशुपत-सूत्र २-४ (टीका)।

यदि रक्षक नित्य है, तब रक्षा की जाने वाली वस्तुएँ अवश्य नित्य होगी। ससार के नित्य होने के कारण ईश्वर उसके विभिन्न विभागो को यथोचित क्रम मे सयोजित करता है। विविध विभागो का उचित सयोजन करने मे ईश्वर का अनुग्रह ही कारण है।

ईश्वर की सकल्प-शक्ति के सर्व-शक्तिमान् तथा नि सीम होने के कारण वह अपनी इच्छानुसार ससार तथा मनुष्यो के प्रारब्ध मे परिवर्तन घटित कर सकता है। वह आवश्यक रूप से मनुष्य अथवा उसके कर्म पर निर्भर नही है।[1] ईश्वर का संकल्प विकास की प्रक्रिया के रूप मे अथवा पदार्थों की अवस्था मे बन्धन अथवा मुक्ति का प्रवेश कराते हुए हस्तक्षेप द्वारा कार्य कर सकता है। किन्तु ईश्वर के सकल्प के निष्पादन मे एक सीमा यह है कि मुक्त आत्माएँ पुन दु ख से सयोजित नही होती है। कार्य रूप ससार की सीमा यह है कि इसकी उत्पत्ति, सहायता तथा सहार अथवा परिवर्तन, कारण तत्व अर्थात् परमेश्वर द्वारा होता है। अत यह कारण तथा कार्य का क्षेत्र है। जो समस्त दु खो का अन्त करना चाहते हैं उन्हे स्वय को किसी अन्य की नही, वरन् भगवान शिव की पूजा मे सलग्न कर लेना चाहिए।

यह परामर्श दिया गया है कि पाशुपत योगी को अद्भुत शक्तियो की प्राप्ति पर बहुत अधिक प्रसन्न नही होना चाहिए। तीर्थ-स्थान व मन्दिरो मे तथा साधारण मनुष्यो के मध्य, दोनो ही स्थानो मे उसे योगी के समान भस्म का लेप तथा मन्दहास आदि व्यवहार करते रहना चाहिए। यह चर्या कहलाते हैं। इस चर्या मे योगी का आनन्द अद्भुत शक्तियो की प्राप्ति के अभिमान के किसी रूप के साथ सयोजित नही, वरन् अपने शुद्ध रूप मे अभिव्यक्त होना चाहिए।

आध्यात्मिक पूजा की प्रक्रिया केवल तब ही हो सकती है, जब मनुष्य अपने मन मे अपने को महेश्वर को समर्पित करने की प्रक्रिया आरभ कर दे तथा तब तक यह प्रक्रिया चलती रहे जब तक कि लक्ष्य प्राप्त न हो जाए। जब मनुष्य पूर्णरूप से अपने को केवल शिव को अर्पित कर देता है, तब वह मोक्ष की अवस्था से वापस नहीं आता। यही आत्मसमर्पण का रहस्य है।[2]

---

[1] कर्म-कामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते न तु भगवान् ईश्वर कर्म पुरुष वा पेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वर।

—पाशुपत-सूत्र २-६ (टीका)।

[2] ऐकान्तिकात्यन्तिक-रुद्र-समीप-प्राप्तेरेएकान्तेनैव अनावृत्ति-फलत्वादसाधारण-फलत्वाच्चात्म-प्रदानमतिदानम्।

—वही, २-१५ (टीका)।

महेश्वर, जो वामदेव, ज्येष्ठ, रुद्र के नाम से जाना जाता है, काल भी कहलाता है। काल की प्रक्रिया मे भिन्न प्रकार के सुख-दुःख पूर्ण अनुभवो के साथ भिन्न योनियो में भिन्न जीवों का भिन्न प्रकार के शरीरों से संयोजन कराना, उसके कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत है। जीव काल्य कहलाते हैं, क्योकि वे ईश्वर अथवा काल मे हैं। 'कला' शब्द कार्यों (काल्य) को तथा उनके निमित्तों (कारण) को दिया गया है। इस प्रकार पृथ्वी जल आदि पांच तत्व कार्य के रूप मे कला कहलाते है। उनके गुणो को भी कला कहते हैं। अहकार तथा बुद्धि के साथ ग्यारह इन्द्रियां कारण कहलाती हैं। स्वय ईश्वर विकारण तथा इन्द्रियो से रहित है, अत प्रत्यक्षीकरण तथा कार्य करने की उसकी शक्तियां असीम एव निर्बाध है। यह ईश्वर ही है, जो समस्त पदार्थों तथा जीवों को काल्य तथा कारण के रूप मे कलाओ से संयोजित करता है। परमेश्वर सकल तथा निष्कल, अतर्वर्ती तथा अतीत माना जाता है, परन्तु उसके परात्पर पक्ष में भी उसमे वे समस्त शक्तियां हैं, जिनसे वह समस्त जीवो के लिए अपने अनुग्रह का विस्तार कर सकता है।

तृतीय अध्याय मे यह कहा गया है कि यथार्थ शैव योगी को बाह्य आचारो का त्याग कर देना चाहिए जिससे कोई उसे शैव योगी के रूप मे नही पहचाने तथा समाज मे उच्च स्थान नही दे। जिन मनुष्यो के मध्य वह रहता है, जब वे उसका इस प्रकार प्रत्याख्यान करेगे, तब उसका यही अपमान उसके पापों का नाश कर सकेगा। जब योगी अज्ञानी मनुष्यो द्वारा किए हुए अपमान सहता है, तब वह स्वाभाविक ही सहनशीलता प्राप्त करता है। मनुष्य प्राय उसे एक उन्मत्त अथवा एक अज्ञानी मनुष्य या मद बुद्धि आदि कुवचन कहेगे, तथा ऐसी परिस्थितियो मे उसे जनता के ध्यान से दूर हो जाना चाहिए तथा ईश्वर पर अपनी बुद्धि केन्द्रित करनी चाहिए। ऐसे व्यवहार से वह न केवल शुद्ध ही होगी, वरन् आध्यात्मिक रूप से महान् हो जाएगा। इस प्रकार जब एक मनुष्य नख, केश, तथा दाढ़ी लिए हुए, भस्म तथा धूल से लिप्त, एक दरिद्र उन्मत्त के समान घूमेगा तथा जब वह स्वच्छता के आचारो का अनुसरण नही करेगा, तब उसे स्वाभाविक रूप से बहिष्कृत माना जाएगा। यह उसको निवृत्ति के मार्ग मे प्रवृत्त करेगा तथा अपमानो को नम्रता से सहना, उसे आध्यात्मिक रूप से उन्नत करेगा।

जब एक मनुष्य यम तथा नियम के अभ्यासो मे स्थिर रहता है, तथा अन्य मनुष्यो द्वारा किए हुए तिरस्कार तथा दुर्वचन नम्रता से सहता है, तब वह वैराग्य के पथ पर भली प्रकार दृढ है।

पाशुपत-सूत्रों के संपूर्ण चतुर्थ अध्याय मे पाशुपत-व्रत, आचार की उस प्रक्रिया के रूप में वर्णित है जिनमे योगी एक उन्मत्त, अज्ञानी, अपस्मार के रोगी, मूढ, दुश्चरित्र आदि के समान व्यवहार करता है, जिससे अनभिज्ञ जनता द्वारा उस पर दुर्वचनों के ढेर

लग जाएँ। इससे उसमें समस्त सांसारिक यश, प्रतिष्ठा आदि के प्रति विरक्ति जाग्रत होगी, तथा वह तथ्य कि मनुष्यों ने उसे धर्मनिष्ठता में दुर्बचन कहे, उसे धर्म-पथ पर ऊंचा उठा देगा। जब इस क्रिया विधि तथा योग द्वारा मनुष्य परमेश्वर का सामीप्य प्राप्त कर लेता है, तब वह कभी पुन वापस नहीं लौटता। प्राचीनकाल में भारत ने पाशुपत-व्रत धारण किया था यह माना गया है।

पचम अध्याय में पाशुपत-योग की प्रक्रिया का अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। परमेश्वर का उल्लेख अनेक नामे से किया गया है। परन्तु वे सब एक ही परमेश्वर का उल्लेख करते हैं, तथा योग का अर्थ आत्मा का उससे स्थिर ऐक्य है। इस उद्देश्य के लिए मनुष्य को समस्त पदार्थों, भूत, वर्तमान तथा भविष्य से पूर्ण विरक्ति होनी चाहिए तथा महेश्वर से भावात्मक अनुराग होना चाहिए।[1] आत्मा का शिव से ऐक्य इतना अतरग होना चाहिए कि कोई भी भौतिक कोलाहल अथवा क्षोभ मनुष्य को दूर न ले जा सकें। प्रारम्भिक अवस्थाओ मे बुद्धि को अन्य पदार्थों से हटा कर प्रभु पर स्थिर करने से शिव से अनुराग होता है, बाद मे यह सयोजन सुस्थिर रहता है।

आत्मा की परिभाषा उस सत्ता के रूप मे की गई है, जो समस्त इन्द्रिय ज्ञानो, समस्त कर्मों तथा पदार्थों के प्रति समस्त राग के लिए उत्तरदायी है। आत्मा का ईश्वर से स्थिर अथवा निरतर सपर्क उसकी नित्यता का निर्माण करता है। सुख, दुख, इच्छा, द्वेष तथा चेतना के अनुभवो द्वारा आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। आत्मा इस अर्थ मे अजन्मा मानी जाती है कि सवेदनाओ की शृ खला तथा मानसिक क्रियाओ के साथ यह नवीन रूप से जन्म नही लेती, अथवा दूसरे शब्दो मे यह कहा सकता है कि यह अपने समस्त अनुभवो से गुजरते हुए भी उसी प्रकार बनी रहती है। यह मैत्र इस अर्थ मे कहलाती है कि जब इसकी समस्त कामनाएँ-द्वेष तथा प्रयास का अन्त हो जाता हैं, तब यह चित्त-स्थिरता की अवस्था मे रहती है तथा परमेश्वर से अनुरक्त रह सकती है।

उपर्युक्त विरक्ति की प्राप्ति केवल समस्त ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक इन्द्रियों, मनस, बुद्धि तथा अहकार के नियत्रण द्वारा ही हो सकती है। इन्द्रियों के नियत्रण का वास्तव मे यह अर्थ है कि उनकी क्रियाओ को शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त करना चाहिए तथा उन्हे अशुभ कर्मों के सपादन की ओर नहीं भटकने देना चाहिए।[2]

---

[1] एव महेश्वरे भावस्थिस्तदसगित्वमित्यर्थं।

—पाशुपत-सूत्र ५-१ (टीका)।

[2] तस्मादकुशलेभ्यो व्यावर्तयित्व कामत कुशले योजितानि (यदा), तदा जितानि भवन्ति। —पाशुपत-सूत्र ५-७ (टीका)।

कौंडिन्य कहते हैं कि सांख्य तथा योग द्वारा दी हुई लक्ष्य की परिभाषा सत्य नहीं है। वह मोक्ष का मार्ग नहीं है। सांख्य तथा योग की क्रियाएँ अशुद्ध हैं। मुक्त होने का अर्थ समस्त पदार्थों से पृथक् होना नहीं वरन् भगवान शिव से सयुक्त होना है।[1]

वैरागी को किसी खाली कमरे मे रहना चाहिए, उसे अपने को अध्ययन तथा चिंतन मे सलग्न रखना चाहिए तथा अपने को स्थिर करना चाहिए। उसे कम से कम छ: माह तक निरतर चिंतन मे रहना चाहिए। जैसे-जैसे वह योग-पथ पर उन्नत होता है, उसे परमेश्वर के अनुग्रह द्वारा अनेक अद्भुत शक्तियो की प्राप्ति होना आरम्भ हो जाता है।

पाशुपत वैरागी को भिक्षावृत्ति पर जीवन निर्वाह करना चाहिए तथा पशुओं के समान कठोर शारीरिक कष्ट सहन करने चाहिए। जिस योगी ने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है, वह किसी कर्म अथवा पाप से प्रभावित नही होता। वह किसी मानसिक कष्ट अथवा शारीरिक रोगो से भी प्रभावित नही होता।

सपूर्ण विषय का सार यह कहा जा सकता है कि जब कोई अपने समस्त कर्मों तथा पापो से सर्वथा विरक्त हो जाता है, तब उसको समस्त पदार्थों पर से अपनी बुद्धि हटा कर शिव अथवा किसी प्रतीकात्मक नाम पर केन्द्रित करके चिंतन करते रहना चाहिए। हमने पहले ही देखा है कि योग की परिभाषा आत्मा के ईश्वर से निरतर सयोग के रूप मे की गई है, तथा यह सायुज्य अर्थात् ईश्वर का साहचर्य कहलाता है। परमेश्वर को ज्ञान तथा कर्म की नित्य शक्ति प्राप्त है, जिसके द्वारा वह सबका नियन्त्रण करता है, तथा इस ईश्वर के निष्कल स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। ईश्वर की ओर प्रवृत्ति, इसके किसी गुण को ध्यान मे रखकर नही करनी चाहिए। यह सूत्र ५-२७ द्वारा व्यक्त किया गया है, जिसमे यह कहा गया है कि ईश्वर वाणी से व्यक्त होने वाली भी वस्तु से सबधित नही है। अत ईश्वर वाग्-विशुद्ध कहलाता है। योगी का श्मशान मे ही अधिकतर रहना उत्तम है, जहाँ पर कोई सगी-साथी न होने के कारण, उसके पास चिंतन के लिए अधिक समय होगा तथा जिससे उसे धर्म प्राप्त होगा, जो यम नियम से प्राप्त महानता के समान है। इस प्रकार योगी समस्त अशुद्धियो को काटकर पृथक् कर देता है। अशुद्धियो को काटकर पृथक् करने का अर्थ बुद्धि को समस्त केन्द्रिय पदार्थों से हटाकर ईश्वर पर केन्द्रित करने के अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं है। (यन्त्रण-धारणात्मकश्छेदो द्रष्टव्य)। इस छेद अथवा पृथक्करण का अर्थ आत्मा को समस्त अन्य पदार्थों से विलग करना है। इसके द्वारा कारणों का समस्त जाल, जो

---

[1] अयं तु मुक्त एव। न मुक्त इति विशुद्धमेतद् दर्शनं द्रष्टव्यम्।

—वही ५-८ (टीका)।

दोष उत्पन्न करता है, काटकर पृथक् कर दिया जाता है। शब्द, स्पर्श आदि की संवेदनाएँ दोष हैं, क्योंकि इनसे हमारी बुद्धि में कामना, क्रोध, लोभ, भय, निद्रा, राग, द्वेष तथा मोह होता है। ये दोष हमें वस्तुओं का उपार्जन, रक्षा तथा उनसे राग करने में तथा दूसरे को आघात पहुचाने को प्रेरित करते रहते हैं। इसके फलस्वरूप मनुष्य स्वय को तथा दूसरे को भी कष्ट देते हैं। जब मनुष्य स्वयं को कष्ट देता है, तब दुखी होता है तथा यदि दूसरों को कष्ट देता है तब भी इस अवगुण के कारण वह दुखी होता है। इस प्रकार ऐसे समस्त दुख आत्मा से संयोजित हैं। समस्त इन्द्रिय पदार्थ विष वृक्ष के फलों के समान हैं जो खाने के समय मीठे प्रतीत होते हैं, परन्तु अंत में बहुत अधिक कष्ट उत्पन्न करते हैं। मनुष्य के दुख का प्रारम्भ उसके जन्म के समय से होता है तथा जीवनपर्यंत मृत्यु तक निरंतर होता रहता है, अत. मनुष्य को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह पुन जन्म न ले। इन्द्रिय-विषयों के भोग के सुखों की रक्षा करना बहुत दुष्कर है, वे राग उत्पन्न करते हैं। जब वे अदृश्य हो जाते हैं, तब वे अधिक दुख उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त बिना अन्य मनुष्यों को आघात पहुचाए इन्द्रिय-पदार्थ का भोग करना कदाचित् ही सम्भव है। साधारण वस्त्र पहनने मे भी मनुष्य को अनेक जीवो की हत्या करनी पडती है। अत मनुष्य को समस्त इन्द्रिय पदार्थों के भोग का अन्त करना चाहिए तथा शाकाहार अथवा मासाहार जो कुछ भिक्षा मे मिले उसी से सतुष्ट होना चाहिए।

ऊपर प्रस्तावित विच्छेद को बुद्धि अर्थात् अत करण द्वारा करना है, जो कि धर्म, चिंतन, आदेश तथा ज्ञान से प्रेरित मानी जाती है। बुद्धि चित्त भी कहलाती है। चित्त का अर्थ ज्ञात करना, सुख व दुख के अनुभव देना तथा धर्म व अधर्म एव अन्य सस्कारो को एकत्रित करना है। इस प्रकार, क्योकि बुद्धि चित्त कहलाती है अत यह मनस् तथा अत करण भी कहलाती है। इस प्रकार आत्मा को समस्त इन्द्रिय-पदार्थों से बुद्धि को विलग करके रुद्र अथवा शिव से अनुरक्त करना है। जब यह हो जाता है तब धर्म व अधर्म की प्रवृत्ति का अस्त हो जाता है। सर्प की पुरानी केंचुली के समान वह आत्मा से निकल जाता है अथवा पके फल के समान नीचे गिर जाता है। आत्मा, जो इस प्रकार शिव मे स्थिर है, निष्क्रिय हो जाती है तथा वह निष्कल भी कहलाती है। इस अवस्था मे बुद्धि शुभ अथवा अशुभ विचारो से रहित हो जाती है। जब यह योग उपलब्ध हो जाता है तब मनुष्य सर्व-ज्ञाता हो जाता है, तथा तत्पश्चात् वह किसी भी प्रकार के भ्रमपूर्ण विचारो की ओर आकर्षित नही हो सकता। अत इस शैवयोग के अनुसार मुक्त व्यक्ति, पातजल अनुशासन का अनुसरण करने वाले योगी के समान कैवलिन् नहीं हो जाता वरन् वह सर्वज्ञाता हो जाता है, एव उसे कोई दुख नहीं होता, तथा यह ईश्वर के अनुग्रह से होता है। वह सर्वथा मुक्त इस अर्थ मे होता है कि वह अशुभ अथवा काल के किसी भी आक्रमण को रोक सकता है, तथा वह किसी पर निर्भर नही है। इस प्रकार वह ईश्वर की महाशक्ति का सहकारी है, अथवा उसको

प्राप्त करता है। उसको माँ के गर्भ में होने का अथवा जन्म आदि का कष्ट भी नहीं होता। अज्ञान से उत्पन्न उन दुखों से वह मुक्त है, जिनसे अहंकार उत्पन्न होता है, जो मनुष्य को यह भुला देता है कि वह बन्धन में है। अतः मुक्त व्यक्ति जन्म व पुनर्जन्म तथा समस्त शारीरिक व मानसिक कष्टों से भी मुक्त हो जाता है।

महेश्वर शिव भी कहलाता है क्योंकि वह समस्त दुखों से सर्वदा पृथक् है।

इस प्रकार हम इस प्रणाली में पांच तत्व देखते हैं। प्रथम पति अथवा ईश्वर है, जो कारण तत्व है, जिसके अनेक नाम हैं—वाम, देव, ज्येष्ठ, रुद्र, कामिन, शंकर, काल, कला-विकरण, बल-विकरण, अघोर, घोरतर, सर्व, शर्व, तत्पुरुष, महादेव, ओंकार, ऋषि, विप्र, महालीश, ईशान, ईश्वर, अधिपति, ब्रह्म तथा शिव।[1] सांख्य-प्रणाली, कारण के रूप में प्रधान को स्वीकार करती है परन्तु पाशुपत-प्रणाली में ईश्वर कारण है जो प्रधान से भिन्न है।

कार्य तत्व 'पशु' है तथा पशु को ज्ञान, ज्ञान का साधन तथा जीवित प्राणी के रूप मे वर्णित किया गया है। उनकी उत्पत्ति, विपरिवृत्ति और लय होते हैं। ज्ञान से तात्पर्य है—शास्त्र, ज्ञान, गुण, धर्म, प्राप्य पदार्थ, मूल्य, इच्छा आदि जो समस्त दुखो के विनाश की ओर प्रवृत्त करते हैं। पशु का द्वितीय तत्व जिसे कला कहा गया है दो प्रकार का है—कार्य के रूप में, जैसे पृथ्वी, जल, वायु आदि ज्ञान के साधन के रूप मे, जैसे बुद्धि, अहकार, मनस् तथा अत करण आदि। पशु अर्थात् जीवित प्राणी तीन प्रकार के हैं—देवता, मनुष्य तथा पशु। 'प्रधान' तत्व, जो साख्य मे कारण माना जाता है, पाशुपत-शास्त्र मे कार्य माना जाता है। जो कुछ ज्ञात अथवा दृश्य (पश्यन्) है, वह पाश कहलाता है तथा कार्य माना जाता है। अत 'पुरुष' जो अन्य स्थानों में कारण माना जाता है, उसे यहां कार्य अर्थात् पशु माना जाता है। योग तथा विधि के तत्वो का विवेचन पहले ही किया जा चुका है जो समस्त दु खो के विनाश के साधन हैं।

कौंडिन्य के भाष्य के साथ पाशुपत-सूत्रो के अध्ययन से यह स्पष्ट लगने लगता है कि चौदहवी शताब्दी मे माधव द्वारा उनके सर्व-दर्शन-सग्रह मे उल्लिखित लकुलीश-पाशुपत प्रणाली ही सम्भवत इन सूत्रों की भी प्रणाली है। पाशुपतो की यह वह प्रणाली हो सकती है जिसका शंकर ने ब्रह्म सूत्र की द्वितीय पुस्तक के द्वितीय अध्याय पर अपने भाष्य मे उल्लेख किया है। यहा पर माया के सिद्धात अथवा शकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धांत का कोई उल्लेख नहीं है। मुक्ति के समय भी मुक्त आत्माएँ परमेश्वर शिव के साथ एक नहीं होती वरन् मुक्ति का केवल यह अर्थ है कि मानसिक स्थिरता के कारण भक्त शिव के निरंतर सम्पर्क मे रहता है तथा यही 'सायुज्य' शब्द

---

[1] पाशुपत-सूत्र ५-४७ (टीका)।

का अर्थ है । यही यह भी कहा गया है कि यद्यपि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तथापि मुक्त आत्माओ पर उसकी कोई शक्ति नही चलती । प्रकटत ईश्वर ने ससार तथा जीवो की सृष्टि की है परन्तु यह पाशुपत-प्रणाली इस बात को स्पष्ट करने का विशेष प्रयत्न नहीं करती कि ससार अस्तित्व मे किस प्रकार आया । इस अर्थ मे शिव को ससार का निमित्त कारण स्वीकार करने के कारण ही यह पाशुपत-प्रणाली, श्रीकठ की उस शैव प्रणाली तथा वायवीय सहिता की प्रणाली से बहुत भिन्न है, जहाँ अद्वैत पक्ष बहुत प्रधान है । यहा एकतत्ववाद, अातरानीत ईश्वरवाद अथवा सर्वेश्वरवाद नही है, वरन् एकेश्वरवाद है । यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस ग्रथ मे वर्णित पाशुपत-प्रणाली, ब्राह्मणवादी प्रणाली लगती है क्योकि केवल ब्राह्मणो को ही पाशुपत-प्रणाली की दक्षा दी जा सकती है, ऐसा उल्लेख इसमे मिलता है । तथापि यह ब्राह्मणवाद से अनेक दृष्टियो से पृथक् होती प्रतीत होती है । यह किन्ही भी ब्राह्मणो के मान्य कर्म काडो को प्रस्तावित नही करती परन्तु यह कुछ नवीन कर्म काडो तथा जोवन के मार्गों की दीक्षा देती है जो ब्राह्मण समुदाय मे प्रचलित नही है । 'ओम्' शब्द पर चिंतन की बात प्रस्तुत करने के कारण इस प्रणाली का ब्राह्मणवादी प्रणालियो से कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है परन्तु अन्य कर्म काडो के विषय मे यह सर्वथा वेद-विरोधी प्रतीत होती है । यह किसी भी द्राविड ग्रन्थ का, मूल-स्रोत के रूप मे, उद्धरण या उल्लेख नही करती । इसके उपरान्त भी इसका श्रीकठ की पाशुपत-प्रणाली अथवा वायवीय-सहिता के साथ तादात्म्य नही किया जा सकता ।

यह जान लेना भी जरूरी है कि प्रकृति की अवधारणा शक्ति के रूप मे या अन्य किसी स्वरूप मे जो पौराणिक पाशुपत मत मे मिलती है, पाशुपत सूत्रो के पाशुपत सिद्धात मे नही मिलती । यहा साख्य के कोई भी तत्व ससार की सृष्टि के विषय मे सगत प्रतीत नही होते । योग के विषय मे भी, पुराणो मे उल्लिखित पाशुपत योग अथवा पाशुपत-योगो से तथा पतजलि के योग सूत्र मे वर्णित योग से यहा के पाशुपत योग का अन्तर समझ लेना आवश्यक है । योग शब्द का प्रयोग निरन्तर सम्पर्क के अर्थ मे हुआ है, तथा समस्त मानसिक वृत्तियो के निरोध (चित्त-वृत्ति-निरोध) के अर्थ मे नही, जैसाकि हमे पातजल-योग मे मिलता है । यहा प्रमुखता, प्रत्याहार को, अर्थात् बुद्धि को अन्य पदार्थों से विलग कर ईश्वर पर स्थिर करने को, दी गई है । अत यहा 'निरोध-समाधि' के लिए कोई स्थान नही है, जो पातजल-योग मे कैवल्य से पूर्व आती है । यह असम्भव नही है कि किसी प्रकार शैव-प्रभाव पतजलि के योग-सूत्र पर भी पड़ा हो, जिन्होने स्पष्ट रूप से अपनी बहुत सी सामग्री बौद्ध मत से प्राप्त की है । यह बात तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम योग-सूत्र पर व्यास-भाष्य की तुलना विश्वबन्धु के अभिधर्म कोष से करें । जो साख्य-सूत्र हमे अब प्राप्त है वह सम्भवत योग सूत्रो से परवर्ती रचना है, अत योग सूत्र की यह मान्यता प्रतीत होती

है कि सांख्य तत्व-विज्ञान-सम्बन्धी अवधारणाओं की व्याख्या बिना ईश्वर की मान्यता के की जा सकती है, जिसके विषय मे कोई प्रमाण नही है। योग-सूत्र ने ईश्वर, जो शिव का नाम भी है की सिद्धि करने का प्रयत्न नही किया है, वरन् उसे पूर्वागत मान्यताओ मे से एक के रूप मे स्वीकार किया है। वास्तव मे नैयायिको के अतिरिक्त भारतीय दर्शन की किसी भी प्रणाली ने तर्क द्वारा ईश्वर को स्थापित करने का प्रयत्न नही किया है तथा परम्परा के अनुसार नैयायिक शैव माने जाते है।

इस सदर्भ मे उन आगमो का उल्लेख किए बिना जिनका हम आगे जाकर उल्लेख करेंगे दसवीं, ग्यारहवी तथा चौदहवी शताब्दियो तक पाशुपत-प्रणाली के विकास का अध्ययन किया जा सकता है। यह पहले कहा जा चुका है कि शकर द्वारा उल्लिखित 'ईश्वरकारणीनि' नैयायिको के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा मैं अब एक पाशुपत-रचना 'गणकारिका' का उल्लेख करूंगा जो हरदत्ताचार्य की मानी गई है, जिस पर भासर्वज्ञ ने रत्न टीका नामक टीका लिखी थी। भासर्वज्ञ 'न्यायसार' के ग्रन्थकार के रूप मे प्रसिद्ध है, जिस पर उन्होने न्याय भूषण नामक टीका लिखी थी। इसमे उन्होने निम्नलिखित विचारको का खडन किया है—दिड्नाग, धर्मकीर्ति, तथा प्रज्ञाकर गुप्त (प्रमाण वार्तिकालकार के ग्रन्थकार जो लगभग दसवे शताब्दी के मध्य मे विद्यमान थे तथा लगभग ६८० ईसवी के रत्नाकर शाति ने जिनको उद्धृत किया है)। अत भासर्वज्ञ दसवी शताब्दी के दूसरे भाग मे वतमान प्रतीत होते है। गणकारिका मे आठ पद्य है तथा इसका उद्देश्य वही है जो पाशुपत-सूत्रो का है। जिस पाशुपत-सूत्र की हमने व्याख्या की है, यह वही है जिसका पाशुपत-शास्त्र के रूप मे उल्लेख किया गया है जैसाकि सर्वदर्शन-सग्रह, पाशुपत शास्त्र का प्रथम सूत्र उद्धृत करता है।[1]

हरिभद्र के 'षड्दर्शन-समुच्चय' पर गुणरत्न अपनी टीका मे कहते है कि नैयायिक 'योग' भी कहलाते है, तथा वे अपने को कम्बल से ढक कर छोटा कौपीन पहनकर लम्बा दण्ड लेकर चलते है। उनके जटाएँ होती हैं, भस्म से शरीर का लेप करते है, यज्ञोपवीत रखते है, जलपात्र रखते है तथा साधारणत जगलो मे अथवा वृक्षो के नीचे रहते है। वे विशेष रूप से फल मूल खाते है तथा सदैव आतिथ्यकारी होते हैं। कुछ के पत्नियां होती हैं तथा कुछ के नही। जिनके नही होती वे उत्तम माने जाते है। वे अग्नि के याज्ञिक नियमो का पालन करते है। उच्च अवस्था मे वे नग्न घूमते है, वे अपने दांत तथा भोजन को जल मे स्वच्छ करते हैं, तीनो समय भस्म का शरीर पर लेप करते हैं तथा शिव का चिंतन करते है। उनका मुख्य मत्र ओम् नम शिवाय है। इसी से वे अपने गुरु का अभिवादन करते हैं तथा उनके गुरु भी इसी विधि मे उत्तर देते हैं। अपने उपदेशो मे वे कहते है कि वे पुरुष अथवा स्त्रियां जो शैवदीक्षा के अभ्यास

[1] सर्व-दर्शन-सग्रह, नकुलीश-पाशुपत दर्शन तत्रेदमादि-सूत्रम्, 'अथात पशुपते पाशुपत-योग-विधि व्याख्यास्याम' इति।

का बारह वर्ष तक अनुसरण करते हैं, अत मे निर्वाण प्राप्त करते हैं। संसार के स्रष्टा तथा सहारक सर्वज्ञशिव को ईश्वर माना गया है। शिव के निम्नलिखित अठारह अवतार है—नकुलीश, कौषिक, गार्ग्य, मैत्रेय, कोरुष, ईशान, परगार्ग्य, कपिलाण्ड, मानुष्यक, कौमिक, अत्रि, पिंगल, पुष्पक, वृहदार्य, अगस्ति, सतान, राशीकर तथा विद्या गुरु। वे उपरोक्त सन्तो का सम्मान करते है।

वे आगे कहते है कि जिस परम सत्ता की वे पूजा करते है, उस शिव मे कोई भी पौराणिक लक्षण नही है जैसे कि केश की जटाएँ अथवा केशो मे अर्ध चन्द्र आदि। वह परम सत्ता इस प्रकार के समस्त लक्षणो तथा वासनाओ से रहित है। जो सांसारिक सुख की कामना करते हैं वही ऐसे गुणो वाले राग जैसे गुणो से सयोजित अनुराग युक्त शिव की उपासना करते हैं। परन्तु जो वास्तव मे सर्वथा विरक्त हैं, वे शिव की विरक्त रूप मे पूजा करते है। मनुष्य केवल उसी प्रकार के फल प्राप्त करते है जिनकी वे कामना करते है तथा जिस रीति से वे देवता की पूजा करना चाहते है।

गुणरत्न कहते है कि वैशेषिक भी उसी प्रकार के बाह्य चिह्न तथा वस्त्रो का अनुसरण करते है, क्योकि वैशेषिको तथा नैयायिको की दार्शनिक मान्यताओ मे बहुत समानता है। गुणरत्न आगे कहते है कि चार प्रकार के शैव है—शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालमुख। इनकी शाखा-प्रशाखाएँ भी है। कुछ ऐसे है जो भरत कहलाते है तथा जो जाति-नियम स्वीकार नही करते है। जो शिव की भक्ति करता है, वह भरत कहला सकता है। न्याय साहित्य मे नैयायिक शैव कहलाते है क्योकि वे शिव की पूजा करते है, तथा वैशेषिक पाशुपत कहलाते है। अत नैयायिक-दर्शन शैव के नाम से तथा वैशेषिक पाशुपत के नाम से ज्ञात है। गुणरत्न कहते है कि जैसा उन्होने देखा अथवा सुना है वैसा ही वह वर्णन करते है। उनकी मुख्य तर्क विद्या सम्बन्धी रचनाएँ न्याय-सूत्र, वात्स्यायन भाष्य, उद्योतकर की वार्तिक, वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका तथा उदयन की तात्पर्य परिशुद्धि हैं। भासर्वज्ञ की न्याय सार एव उसकी टीका न्याय-भूषण, जयत की न्याय कलिका तथा उदयन की न्याय कुसुमाजलि का भी महत्त्वपूर्ण रचनाओ के रूप मे उल्लेख किया गया है।

शैवो के विषय मे गुणरत्न के कथन की पुष्टि राजशेखर के षड्दर्शन समुच्चय में उसके द्वारा किये गये शैव विचार के वर्णन से होती है। राजशेखर आगे कहते है कि अक्षपाद जो न्याय सूत्र के लेखक माने गए है, पाशुपतो के न्याय-सिद्धान्त के प्रथम शिक्षक थे। वे चार प्रकार के प्रमाण, प्रत्यक्षीकरण, अनुमान, सादृश्यानुमान तथा शब्द प्रमाण स्वीकार करते हैं, तथा वे तर्क के निम्नलिखित सोलह पदार्थ स्वीकार करते हैं। प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टात, सिद्धात, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितडा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह स्थान। केवल यही विषय अक्षपाद के न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र मे उपस्थित किए गए है। समस्त दुखो का विनाश, मोक्ष के लिए अन्तिम लक्ष्य है। उनकी मुख्य तर्क शास्त्रीय रचनाएँ जयतकृत, उदयनकृत एवं भासर्वज्ञ-कृत है।

पाशुपत-सूत्रों पर कौंडिन्य की टीका बहुत प्राचीन काल की प्रतीत होती है तथा यह कथन अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह रचना ईसा काल के प्रारम्भिक समय की थी। परन्तु कौन्डिय तथा राशीकर एक ही थे यह हम नहीं कह सकते। सर्व-दर्शन-सग्रह में राशीकर का उल्लेख है और वैसे उसमे ऐसी कोई बात नही है जिससे यह ज्ञात हो कि राशीकर का गोत्र-नाम कौंडिन्य नही हो सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नटीका के अतिरिक्त गणकारिका पर एक भाष्य भी था परन्तु यह भाष्य गणकारिका पर नही था, वरन् यह पाशुपत-सूत्रो पर कौंडिन्य का भाष्य था जिसका परीक्षण हम पहले ही कर चुके है। गणकारिका मे पाँच प्रकार के गुणो के आठ पदार्थों तथा तीन प्रकार के गुणो वाले एक पदार्थ का भी उल्लेख किया गया है। जिस बल से अन्य पदार्थों की प्राप्ति होती है उनके वर्णन मे गुरु मे विश्वास, सतोष (मते प्रसाद), धैर्य, धर्म और अप्रमाद भी है।

स्वभावत, बल के विषय मे तब प्रश्न उठता है, जब किसी को अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त करनी हो। अत मोक्ष-प्राप्ति की विधि के अनुसरण मे बल प्राप्ति का क्या महत्व है इस विषय मे प्रश्न किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर है कि अज्ञान, दोष आदि के विनाश के लिए निश्चित ही बल की आवश्यकता है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित आते है—समस्त छिपे हुए अज्ञान का विनाश, दोषो का विनाश, उन समस्त पदार्थों का विनाश जो अनुराग की ओर प्रवृत्त करते है, किसी सम्भावित असफलता मे रक्षा तथा ईश्वर के चिंतन द्वारा पशु के रूप मे व्यक्ति के अस्तित्व की ओर प्रवृत्त करने वाले समस्त गुणो का अत।

इस बल का प्रयोग भिन्न अवस्था व परिस्थितियो मे किया जा सकता है। प्रथम, जब मनुष्य अपने शरीर पर भस्म का लेप करके भस्म पर लेटने आदि द्वारा अपने को पाशुपत पथ का सदस्य प्रदर्शित करता है, इत्यादि। द्वितीय गुप्त अवस्था मे जब मनुष्य दूसरो से यह तथ्य छिपाता है कि वह पाशुपत-पथ का सदस्य है तथा जब वह साधारण ब्राह्मण के समान व्यवहार करता है। तृतीय अवस्था वह है जब मनुष्य अपनी समस्त इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसके उपरात इसकी अवस्था वह है जिसमे समस्त आकर्षण समाप्त हो जाते है। इनमे पाशुपत योगी के, ऐसे व्यवहार सम्मिलित है, जैसे नृत्य करना तथा उन्मत्त के समान आचरण करना। अन्तिम अवस्था, सिद्धि अर्थात् अन्तिम मुक्ति की अवस्था है।

पाचवी कारिका, दीक्षा की प्रक्रिया का उल्लेख करती है जिसके अन्तर्गत आवश्यक पूजा सामग्री, उचित समय, उचित कर्म, शिवलिंग तथा गुरु सम्मिलित है।

आगे की कारिकाएँ भिन्न प्रकार के लाभो का वर्णन करती हैं। इनमे ज्ञान प्रधान है। इस ज्ञान की नियमपूर्वक प्राप्ति, ज्ञेय पदार्थों की गणना तथा तत्पश्चात्

उनके विस्तृत वर्णन द्वारा की जा सकती है, जैसाकि हमे न्यायसूत्रो मे मिलता हैं। इसमे विभिन्न प्रकार के प्रमाण, द्रव्य तथा गुणो का अन्तर, उस कर्म की परिभाषा जो समस्त दुःखो से सम्बन्ध विच्छेद रूपी अन्तिम कर्म की ओर प्रवृत्त करता है, सम्मिलित हैं। अन्य दर्शनो मे दुःखों का विराम केवल एक निषेधात्मक गुण है परन्तु इस प्रणाली मे दुःखो के पृथक्करण के अन्तर्गत सिद्धि प्राप्ति भी सम्मिलित है। सिद्धि की यह प्राप्ति, ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति कहलाती है। ज्ञानशक्ति का अर्थ शक्ति के रूप मे ज्ञान है। इस क्रियाशक्ति के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की गति शक्तियाँ आती हैं। क्योकि यह प्रणाली स्वत उद्‌विकास अथवा स्वत अभिव्यक्ति के विचार मे विश्वास नही करती, अत इन शक्तियो की प्राप्ति, उच्च शक्तियो के सयोग द्वारा होती है। यह गुणो के उद्‌भव के विषय मे न्यायसिद्धान्त के बहुत कुछ समान है। ज्ञान, गुण आदि के समस्त पदार्थ प्राप्तव्य के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इसमे जीव तथा निर्जीव पदार्थ जैसेकि तत्व, पाच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रिया तथा मन सम्मिलित हैं।

ईश्वर पति कहलाता है क्योकि वह सदैव उच्चतम शक्तियो से सयोजित रहता है। यह शक्तियाँ उसे किसी क्रिया के फलस्वरूप प्राप्त नही है वरन् उसमे नित्य रूप से स्थित हैं। इसी कारण वह अपने सकल्प द्वारा कोई ऐसा कर्म अथवा कार्य उत्पन्न कर सकता है जो हमारे सम्मुख सृष्टि के रूप मे आता है तथा इसी के कारण ससार की सृष्टि उसकी लीला मानी जाती है। इसी कारण वह अन्य समस्त जीवित प्राणियो से भिन्न है तथा यही उसकी महत्ता है।

विधि अथवा उपयुक्त धार्मिक आचरण की प्रक्रिया मे, उस प्रकार के कर्म सम्मिलित हैं, जो अन्तत मनुष्य को शुद्ध करते हो तथा ईश्वर के समीप ले जाते हो। इस सम्बन्ध मे पापो के विनाश के लिए तथा गुणो की उत्पत्ति के लिए 'तप' का विधान किया गया है। धर्म जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के कर्मकाड सम्बन्धी आचार आते हैं, ज्ञान-प्राप्ति के लिए विहित किया गया है। ईश्वर का निरतर चितन जिसे नित्यता कहा गया है तथा समस्त दोषो से बुद्धि के सम्पूर्ण वियोग जिसे स्थिति कहा गया है का भी विधान है। अन्तत ये ही मोक्ष की प्राप्ति कराते है, जब मनुष्य स्वय शिव के समान अद्‌भुत शक्तियो से सयोजित हो जाते है। अन्य प्रणालियो मे मुक्त आत्माओ मे कोई अद्‌भुत चमत्कारी शक्तियाँ नही बतलाई गई हैं, उनके केवल समस्त दुःख विलय हो जाते हैं।

उपर्युक्त उपलब्धियाँ गुरु के साथ निवास द्वारा, अथवा उस स्थान पर जहाँ आश्रम नियमो का पालन करने वाले व्यक्ति रहते हैं, अथवा किसी भी गुप्त स्वच्छ, रिक्त स्थान मे अथवा श्मशान स्थान मे हो सकती है, अन्त मे मुमुक्षु अपना शरीर त्याग कर महाप्रभु के स्थायी सयोग मे रह सकता है।

अब उन साधनों की ओर ध्यान देना ठीक होगा जिनके द्वारा आकांक्षी अपना इच्छित लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। इनमे से प्रथम को शास्त्रीय भाषा मे 'वास' कहा गया है। इसके निम्नलिखित अनेक अर्थ हैं ग्रथो के शब्दो मे उचित अर्थों के समझाने की योग्यता, उनका स्मरण, अन्य स्थानो से प्राप्त ज्ञान की सहायता से उस ज्ञान की विस्तारपूर्वक योजना तथा पूर्ति, अपने स्वय के सम्प्रदाय के पक्ष मे अन्य सम्प्रदायो की शिक्षाओ की आलोचना करने की योग्यता, ग्रन्थो की विभिन्न विविधार्थपरक व्याख्याओ का उचित अर्थ समझने की योग्यता, अपने विश्वासो को दूसरो तक पहुचा सकना, बिना व्याघात, तथा आवृत्ति तथा किसी प्रकार के मोह के व्याख्यान देने की योग्यता जिससे गुरु सतुष्ट हो सके। इसे चर्या, परिचर्या अथवा क्रिया कहा गया है। चर्या शब्द शरीर पर भस्म के लेप आदि जैसी क्रियाओ के लिए भी प्रयुक्त होता है। पाशुपत प्रणाली के अनुसार भस्म से शरीर का स्नान विधिवत अनुष्ठित यज्ञ के समान हैं। अन्य प्रकार के यज्ञ अनुचित यज्ञ माने जाते है।

चर्या के दो या तीन प्रकारो के वर्णन मे भासर्वज्ञ ने कौंडिन्य के भाष्य का ही अनुसरण किया है। भस्म का लेपन, भस्म पर लेटना, मत्रो का उच्चारण आदि व्रत कहलाते है, जो सद्गुण उत्पन्न करते तथा दोष हटाते हैं। कौंडिन्य के भाष्य मे वर्णित कम्पन, हसना, ध्वनियाँ करना आदि के विषय मे समस्त अन्य विधियो का भी यहाँ उसी प्रकार वर्णन है। वास्तव मे गणकारिका तथा रत्नटीका ने भी कौंडिन्य के भाष्य मे उपलब्ध शिक्षाओ का अनुसरण किया करती है, जो पाशुपत-सम्प्रदाय का अत्यधिक विख्यात भाष्य माना जाता है।

इस सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण विषय ध्यान देने योग्य है। ईश्वर स्वय सर्वथा स्वतत्र है। कर्म तथा उसके फलो का सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण नही है, क्योंकि कोई कर्म ईश्वर के सकल्प के बिना फल उत्पन्न नही कर सकता। समस्त कर्म ईश्वर के सकल्प द्वारा निरर्थक किए जा सकते है। अत कर्म सिद्धात जिसको दर्शन के अन्य सम्प्रदायो मे बहुत अधिक महत्व दिया गया है, यहाँ अनावश्यक माना गया है। पाशुपत-सूत्रो तथा कौंडिन्य के भाष्य के समय से चौदहवी शताब्दी तक, जब सर्व-दर्शन-सग्रह लिखा गया था, नकुलीश पाशुपत-दर्शन का यही विचार था, यह तथ्य पूर्ण रूप से शैव ग्रन्थो द्वारा समर्थित होता है। समस्त जीवित प्राणियों के कर्म ईश्वर के सकल्प पर निर्भर है। ईश्वर के सकल्प तथा उसके परिणमन के मध्य मध्यस्थ के रूप मे कर्म आवश्यक नही क्योकि ईश्वर का स्वय कोई उद्देश्य नहीं है जिसकी उसे पूर्ति करनी हो।

अत्यन्त परिश्रम के पश्चात् हमे मृगेन्द्रागम की एक प्रति मद्रास राज्य हस्तलेख पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आगम पाशुपत पंथ के मुख्य

मूल ग्रन्थो मे से एक था। परन्तु जो अश हमे प्राप्त हुए हैं, वे मुख्यत विभिन्न प्रकार के आचारो की व्याख्या करते है, तथा उनमे कोई दार्शनिक सिद्धात नहीं है।

तिरुवाचक में माणिक्कवाचकर के शैव विचार

प्रस्तुत रचना मे इस लेखक ने तमिल, तेलगू तथा कन्नड जैसी द्रविड भाषाओ की सामग्री का प्रयोग नहीं किया है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम यह कि लेखक को द्रविड भाषाओ का ज्ञान नहीं है, तथा इस आयु मे नए सिरे से सीखने का समय भी नही है, क्योकि इसमे सम्पूर्ण जीवन काल लग सकता है। द्वितीय कारण है कि इस इतिहास के पिछले भागो मे केवल सस्कृत मे प्राप्त सामग्री की ओर ही ध्यान दिया है। तृतीय यह कि हमारे विचार मे दार्शनिक दृष्टिकोण से कन्नड साहित्य मे कुछ ऐसी महत्वपूर्ण सामग्री शायद ही हो जो सस्कृत मे प्राप्त नही है। किन्तु यदि किसी विख्यात तमिल रचना का कोई विश्वसनीय अनुवाद प्राप्त हो सके, तो उस पर विचार किया जा सकता है। सौभाग्य से माणिक्कवाचकर लिखित अत्यन्त सम्मानित पुस्तक तिरुवाचक का एक विश्वसनीय अनुवाद रेवरेण्ड जी० यू० पोप ने किया है, जिन्होने अपना सम्पूर्ण जीवन तमिल के अध्ययन मे व्यतीत किया है, तथा जिन्हे उस भाषा का एक योग्य विद्वान माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तमिल साहित्य विशेष रूप से काव्य सामग्री मे समृद्ध था, तथा हमे अनेक भक्ति गीत तमिल तथा कन्नड दोनों मे मिलते हैं, किन्तु तमिल अथवा कन्नड मे मुझे कोई ऐसी क्रमबद्ध दार्शनिक रचना का ज्ञान नही जो सस्कृत मे उपलब्ध न हो। तमिल साहित्य मे अनेक सतो के विषय में पौराणिक कथाएँ तथा किवन्दतिया भी प्रचुर मात्रा मे है, जो पुराणो के नाम से ज्ञात जैसेकि पैरिय-पुराण तिरु-वातवूरार-पुराण, नाम्पियादार नम्पि-पुराण तथा सेक्किलर-पुराण।

तिरु-वाचक, मणिक्कवाचचर कृत एक काव्य पुस्तक है। यह भक्ति भावो तथा दार्शनिक विचारो से परिपूर्ण है, परन्तु दर्शन के आधुनिक अर्थों मे यह एक दार्शनिक प्रणाली नही है। पोप, बिना किसी प्रमाण के माणिक्कवाचकर को लगभग सातवी अथवा आठवी शताब्दी का बताना चाहते हैं। आर० डब्लू० फ्रेजर भी अपने द्रविड जाति पर लेख[1] में बिना किसी प्रमाण के उन्हे नवी शताब्दी में बताते है। माणिक्क-वाचकर का जन्म मदुरा के निकट माना जाता है। उनके नाम का अर्थ है 'वह जिसके वचन मणि हो।' वह विलक्षण बुद्धि सम्पन्न मनुष्य माने जाते हैं तथा ब्राह्मण धर्म एव शैवागमो के उत्कृष्ट विद्वान। जैसा हमने अन्य स्थान पर इगित किया है, ये आगम सस्कृत पद्यो के अलावा तमिल में भी लिखे गए हैं। अत ऐसा प्रतीत होता है कि

---

[1] हेस्टिंग्स के 'धर्म तथा नीति' के विश्व कोश मे।

माणिक्कवाचकर के विचार की पृष्ठभूमि संस्कृत पर आधारित थी। माणिक्कवाचकर के विषय में तिरु-विलैयाडिल तथा वातवुररपुराण में उपलब्ध पौराणिक कथा को जो पोप द्वारा संक्षिप्त रूप में वर्णित है फिलहाल हम छोड देते हैं। ऐसा कहते है कि उन्होंने राजा का मंत्री पद त्याग दिया था तथा एक शैवयोगी बन गए थे। उनकी बुद्धि उनके चारो ओर के उन व्यक्तियो के दुख से पीड़ित थी जो जन्म व मृत्यु के चक्र से गुजर रहे थे तथा जिन्हें उस शिव के प्रति उत्कट प्रेम नही था, जो उनकी रक्षा कर सकता था। अपनी मानसिक व्यग्रता की यह अवस्था, तथा अपने अज्ञान एव यौवन की मूर्खताओ की स्वीकारोक्ति विशेष रूप से उन्होने अपनी कविताओ में निबद्ध की है।

इसके उपरात स्वय शिव उनसे मिलते हैं तथा उसके पश्चात् वे शिव के शिष्य बन जाते है। शिव अपने तीन नेत्रो सहित, शरीर पर भस्म का लेप किए हुए मेयकड-देव की विख्यात रचना 'शिव-ज्ञान-बोध', हाथ मे लिए हुए उनके समक्ष प्रकट होते हैं। स्वय पोप स्वीकार करते हैं कि 'शिव-ज्ञान-बोत' छठी शताब्दी तक जो माणिक्कवाचकर का समय माना जाता है, नही लिखी गई थी।[1]

अपने जीवन मे वह एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ की यात्रा तबतक करते रहे जबतक वे चिदम्बरम् नही पहुँचे, जहाँ उन्होने बौद्धो को शास्त्रार्थ मे तर्क तथा सिद्धिशक्तियो के प्रदर्शन द्वारा पूर्ण रूप से पराजित किया। तब वह अन्य भक्तो के पास वापस लौट गए। उन्होने एक वृक्ष के नीचे लिंगम् की स्थापना की तथा दिन-रात उसकी पूजा की। उसी समय से उन्होने अपनी काव्य रचनाएँ आरम्भ की, जो शिव तथा उनके अनुग्रह की महिमा से परिपूर्ण थी। उनकी कविताओ से प्रकट होता है कि पाश्चात्ताप क्लेश, दुख की अनेक अवस्थाओ द्वारा उनकी बुद्धि का विकास किस प्रकार हुआ। उनकी शिव के प्रति भक्ति तथा प्रेम भी इसमे स्पष्ट है। माणिक्कवाचकर की कविता पर टीका करते हुए पोप कहते है 'कदाचित् ही कभी मानव-आत्मा को पवित्रता, शाति तथा दैवी साहचर्य के प्रति उत्कठा की इससे अधिक सुन्दर अभिव्यक्ति मिल सके।[2]

ईश्वर की सर्वव्याप्ति का तथ्य शैवगीतो मे प्राय शिव की लीला के रूप मे व्यक्त किया गया है। सम्पूर्ण विश्व उसकी मुस्कान से उज्ज्वल तथा उसकी आनन्दपूर्ण गतियो से उत्फुल्ल है। इस विचार को इतनी अधिक प्रमुखता दी गई है कि शिव को प्राय धूर्त तथा उन्मत्त कहा गया है, तथा पाशुपत-प्रणाली मे पाशुपत योगियो को उन्मत्त मनुष्यो

---

[1] शिव-ज्ञान-बोध मेयकडदेव द्वारा १२२३ ईसवी मे अथवा इसके लगभग लिखी गई मानी जाती है। फ्रेजर के 'धर्म तथा नीति शास्त्र के विश्व कोश' मे द्रविड जाति पर लेख देखिए।

[2] पोप का अनुवाद, पृ० ३४

के समान व्यवहार करने, इधर-उधर नृत्य करने तथा दूसरों के सामने अपने को बुरा दिखाने के लिए छद्म व्यवहार तक करने का, अनेक प्रकार की ध्वनियाँ करने का एवं अप्रासगिक ढग से हँसने का परामर्श दिया गया है। यह भी माना जाता है कि प्राय शिव अपने भक्तो की स्वामिभक्ति की, अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियो मे अपने को अत्यन्त प्रतिकूल रूप मे प्रदर्शित करके, परीक्षा करते है। विशेष रूप से शिव का नृत्य सम्पूर्ण विश्व तथा प्रेमपूर्ण हृदयो मे उसकी अनन्त अनुग्रह पूर्ण क्रियाओं का प्रतीक है। वह आर्यो से पूर्व काल के श्मशान वासी असुर वर्तको का स्मरण दिलाते हैं।

हम यह मानकर चलते हैं कि माणिक्कवाचकर की शिक्षाएँ शिव ज्ञान-बोध के उपदेश के समान है। जिसकी रचना बाद के काल मे हुई। शिव-ज्ञान-बोध पर उमापति की एक टीका है जिसका अनुवाद होईसिंगटन ने १८६५ के 'अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी जरनल' मे किया था। इस पुस्तक मे विभिन्न प्रकार के मोक्ष वर्णित हैं। अन्य विचारो से शैवविचार की विभिन्नता देखते हुए भिन्न शैव-सम्प्रदायो के विचारो मे अनेक अन्तर मिल सकते हैं। इनमे से कुछ अन्तर दक्षिणी शैवमत के भिन्न प्रकारो मे पहले ही देखे जा चुके है। अनेक विद्वानो का विचार है कि आत्मा के स्वाभाविक दोष हटाए जा सकते है, जिससे वह समस्त पाशो से नित्य मुक्ति पा सके। किन्तु शैव सिद्धान्त इस पर बल देता है कि मुक्त अवस्था मे भी दोष की सभाव्यता रहती है, चाहे वह क्रियाशील न हो। यह आत्मा मे एक स्थायी कलक के समान रहती है। इस प्रकार अनित्य जीवो मे व्यक्ति का 'स्व' तथा उसकी अपूर्णताएँ परस्पर सयुक्त रहती है, तथा उनका मोक्ष मे भी कभी विनाश नही होता। किन्तु अन्य शैव पथियो का विचार है कि शिव के अनुग्रह द्वारा आत्मा के स्वाभाविक दोष हटाए जा सकते हैं, जिसका स्वाभाविक निष्कर्ष है कि समस्त बधनो से नित्य मुक्ति सभव है। अन्य शैवो का विचार है कि मोक्ष मे आत्मा अद्भुत सिद्धि प्राप्त कर लेती है, तथा मुक्त मनुष्य ईश्वरत्व तथा तदनुरूप गुणो के सहभागी हो सकते है, तथा सिद्धि नामक अद्भुत शक्तियो की प्राप्ति तथा सपादन कर सकते हैं। कुछ अन्य व्यक्तियो का विचार है कि मोक्ष मे आत्मा पाषाण के समान जड हो जाती है। यह उदासीन अस्तित्व जन्म व पुनर्जन्म के चक्र के दुख व सघर्ष से आत्मा की शरणागार है। हमने पहले ही सबद्ध खडो मे मोक्ष के बहुत से विचारो का विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। परतु माणिक्कवाचकर के अनुसार अन्त मे शिव के अनुग्रह द्वारा आत्मा तीन प्रकार की अशुद्धता से मुक्त हो जाती है तथा दैवी ज्ञान प्राप्त कर लेती है एव इस प्रकार ऊपर उठकर शिव के सान्निध्य तथा अनत आनद एव चैतन्यमय अवस्था मे रहती है। यही विचार सिद्धात-दर्शन का भी है।[1]

---

[1] पोप।

शैव-सिद्धांत में ईश्वर के अनुग्रह (तमिल में जो अरुल कहलाता है) के सिद्वात को बड़ा महत्त्व दिया गया है। प्राणकमल की अशुद्धियाँ हटाने तथा मोक्ष-पथ-प्रदर्शित करने के लिए अनुग्रह देव अथवा गुरु किया है। आत्माएँ सचित कर्मों के अधीन हैं तथा उस सयुक्त अवस्था से वियुक्त आत्माएँ ईश्वर के अनुग्रह द्वारा ही छोड दी जाती हैं जो धीरे-धीरे अपने प्रयत्नों द्वारा अन्त मे मोक्ष-प्राप्ति के लिए शरीर धारण कर लेती हैं। समस्त अवस्थाओ मे अनुग्रह ही वह गतिशील शक्ति है जो साधक को क्रमश उसके अन्तिम लक्ष्य की ओर पहुँचती है। शिव का अनुग्रह उसकी शक्ति के फलन द्वारा ज्ञान का प्रकाश देता है, जिससे मनुष्य जीवन के कर्मों को करते हैं एव कर्म का सचय करते हैं, तथा सुख व दुख का अनुभव करते है। भौतिक ससार जड है तथा जीवों को अपने स्वरूप का ज्ञान नही है। शिव के अनुग्रह द्वारा ही मनुष्यो को अपनी अवस्था का बोध होता है तथा तभी वे गुह्य ज्ञान प्राप्त करते है, जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसके उपरांत भी शिव के अनुग्रह का तथा वह किस प्रकार मनुष्य को आवृत करता है इसका ज्ञान उसे नही होता यद्यपि मनुष्य को समस्त इद्रिय ज्ञान होते हैं। अनादि काल से मनुष्यो को ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता रहा है परतु वे कभी-कभी ही उसके भाजन बनते है तथा इस प्रकार बहुत से मोक्ष के मार्ग से वचित रहते हैं।

जब उपयुंक्त गुरु मिल जाता है तथा जब वह मनुष्य को उचित मार्ग के अनुसरण का उपदेश देता है तब अनुग्रह को क्रियान्वित होते देखा जा सकता है। जब पाप तथा धर्म का सतुलन हो जाता है तब शिव का मुक्तिदायी अनुग्रह अपना कार्य-प्रदर्शन करना आरम्भ करता है। मोक्ष के लिए, मनुष्य को, कर्म के आध्यात्मिक सार का, दो प्रकार के कर्मों के स्वरूप का, उनसे सयोजित सुख व दुख के स्वरूप का तथा जो कर्मों को निश्चित समय पर परिपक्व करता है, जिससे आत्मा उनके फलो का अनुभव कर सके, ऐसे ईश्वर का ज्ञान होना चाहिए।

जिस प्रकार एक स्फटिक सूर्य के प्रकाश मे अनेक रगो को प्रतिबिम्बित करता है, तथा इसके उपरात भी अपना पारदर्शक गुण सुरक्षित रखता है, उसी प्रकार ईश्वर के अनुग्रह के रूप मे शक्ति अथवा ज्ञान-प्राप्ति, आत्मा को दैदीप्यमान करती है तथा ससार में व्याप्त है। शिव के अनुग्रह से प्राप्त गूढ ज्ञान के बिना कोई भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। शिव के बिना आत्मा बुद्धिहीन है। आत्माओ के समस्त कर्म शिव के क्रियात्मक मार्ग-प्रदर्शन द्वारा होते हैं, तथा ज्ञान के निमित्त के रूप मे इद्रियो का प्रत्यक्षीकरण भी शिव के अनुग्रह द्वारा ही होता है।

द्वितीय अवस्था मे यह शिक्षा दी जाती है कि आत्मा की शुद्धि के लिए ज्ञान का प्रयोग किस प्रकार होता है। जो मनुष्य सासारिक अनुभवो के भ्रमात्मक दुखो को सहन करते हैं, वे जैसे ही अपनी अशुद्धियो के विषय मे अवगत हो जाते हैं वैसे ही वे

स्वाभाविक रूप से ईश्वर के अनुग्रह मे मुक्ति खोजते है। पांडु के रोगी को मीठा दूध भी तीखा लगता है परतु यदि जिह्वा स्वच्छ कर दी जाए, तब तीखापन चला जाता है, उसी प्रकार मौलिक अशुद्धियो के प्रभाव मे समस्त धार्मिक आचरण अरुचिकर होते हैं, परतु जब यह अशुद्धियाँ हटा दी जाती हैं तब गुरु की शिक्षाएँ क्रियाशील हो जाती हैं।

परम आनद, जिसका इद्रियो द्वारा प्रत्यक्ष नही किया जा सकता, आध्यात्मिक प्रणाली से अनुग्रह द्वारा प्राप्त हो जाता है। ईश्वर का अनुग्रह स्वत हमारे लिए प्रकट होता है। इस प्रकार परम आनद अनुग्रह का वरदान है जिसे आत्माएँ स्वय प्राप्त नही कर सकती।

केवल वे ही, जो इस अनुग्रह के भाजन है परम आनन्दस्वरूप शिव के साथ सयुक्त हो सकते है। एक दिलचस्प धारणा यह है कि आत्माएँ तथा शक्ति स्त्री जाति की हैं तथा शिव पति है, जिनमे रहस्यमय एकता सपन्न होती है। शिव पूर्ण आनंद स्वरूप है। यदि आत्मा तथा ईश्वर मे रहस्यमय एकता मान ली जाती है तब आत्मा तथा ईश्वर का द्वैत कहाँ रहा ? उन्हे एक हो जाना चाहिए, अत यह मानना होगा कि वे दोनो एक होकर भी विभाजित रहते है। जब बधन हटा दिए जाते है तब भक्त अवाक्-आनद की अनुभूति मे ईश्वर से एक हो जाता है, तथा उसे यह कहने का अवसर ही नही रहता कि उसने शिव को प्राप्त कर लिया है। जो मोक्ष उपलब्ध करते है तथा जो समाधि की अवस्था को प्राप्त करते है, वे प्रभु से कभी पृथक् नही किए जा सकते। इस अवस्था मे उनके समस्त शारीरिक कर्म ईश्वर के पूर्ण नियत्रण मे रहते है। इस प्रकार एक अवस्था आती है जिसमे ज्ञाता, गूढ ज्ञान तथा शिव कभी पृथक् नही वरन् परस्पर सविलीन प्रतीत होते है।

जो इस समाधि की अवस्था मे प्रवेश कर लेते है, वे यद्यपि सर्वज्ञान तथा अन्य गुण प्राप्त कर लेते है, तथापि जबतक वे इस पृथ्वी पर हैं तबतक उन्हे अपने गुह्य ज्ञान के विषय, परमेश्वर के अतिरिक्त कुछ भी ध्यान नही होता। उनकी समस्त इद्रियो का निरोध हो जाता है तथा वे अपने उद्गम मे बहुत गहरी विलीन होती जाती है और अपने सवेदनो को प्रकट नही करती। दैवी अनुग्रह अन्दर और बाहर स्पष्टत प्रकट होने लगता है। इस गुह्य ज्ञान की अवस्था मे आसमान विश्व केवल ईश्वर मे ही निहित दृष्टिगोचर होता है।

पोप द्वारा अनुवादित वातवुरार-पुराण मे चिदम्बरम् मे माणिक्कवाचकर तथा बौद्ध गुरुओ के मध्य हुए प्रतिवाद का एक वर्णन है। किसी भी पक्ष को बौद्धमत के विषय मे अत्यधिक ज्ञान होने की अभिव्यक्ति इस प्रतिवाद से प्रदर्शित नही होती। प्रतिवाद नगण्य विषयो पर होता है, तथा तार्किक सगति का भी उसमें अभाव है अत उसका विशद विवेचन करना व्यर्थ है। इसमे भी बहुत सदेह है कि इस प्रतिवाद के कारण

किसी भी प्रकार, बौद्धमत के सम्मान मे कुछ कमी हुई होगी। इसके ह्रास के तो वस्तुत अनेक अन्य कारण थे, नवीं शताब्दी के पश्चात् दक्षिण भारत के विभिन्न पथो का प्रादुर्भाव तथा उनमे परस्पर संघर्ष तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि।

माणिक्कवाचकर तथा शैव-सिद्धांत

शकर के भाष्य (२-२-२७) मे एक जगह उल्लेख आता है कि स्वय शिव द्वारा लिखे गए 'सिद्धांत-शास्त्र' मे शैवसिद्धांत प्रतिपादित है। शंकर हमें उसके प्रतिनिधि विचारो का विवरण देते हैं, जो दो प्रत्ययो के अतर्गत आ सकते है (१) वेदात के इस विचार, कि ईश्वर समस्त सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है तथा उससे परे कुछ नही है, के विपक्ष मे सिद्धातो का अनुमान है कि ईश्वर निमित्त कारण है। वह (२) शैवसिद्धात का भी उल्लेख करते हैं, जिसने तीन तत्त्व, पति, पशु तथा पाश स्वीकार किए। शैवो मे वे महाकारुणिक, कापालिक आदि का उल्लेख करते है। जैसा मैंने बहुधा कहा है, किसी ऐसे शैवमत का, जिसे शकर ने सिद्धात नाम दिया है, निश्चितता से खोज करना तथा उन प्रणालियो की विशेषताओ की, जिनका वे खडन करना चाहते थे, परिभाषा करना भी अत्यत कठिन है। अब हमारे सम्मुख शैवसिद्धांत के नाम से ज्ञात शैवमत की प्रणाली तथा अनेक ऐसी रचनाएँ है जो शैव 'सिद्धात सप्रदाय' की रचनाएँ मानी जाती है। इनमे अधिकांश टीकाओं के रूप मे तमिल मे लिखी गई है। इनमे से कुछ सस्कृत मे प्राप्त है। इसी के समान प्रकार का शैवमत शिव-महापुराण के वायवीय-खड मे मिलता है। इस खड यह मे कहा गया है कि इस दर्शन का मौलिक सिद्धात आगम रचनाओ मे लिखा गया था जिनकी रचना शिव के अवतारो ने की थी। वही शिक्षाएँ तमिल आगमो मे भी मिलती हैं, जिनकी वैसी ही प्रामाणिकता तथा वही विषय है। पोप कहते है कि शैव सिद्धात-प्रणाली अत्यधिक विस्तृत, प्रभावशाली तथा नि सदेह भारत के समस्त धर्मों से अधिक वास्तविक रूप से मूल्यवान् है। मुझे यह एक निरर्थक अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। शैवमत के मौलिक तथ्य वेदाती अद्वैतवाद तथा साख्य से निकले हैं, तथा कभी-कभी न्याय सिद्धातो का भी प्रयोग किया गया है। जैसाकि अन्य स्थान पर देखा गया है, न्याय शैवमत के पाशुपत-सप्रदाय का उल्लेख करता है। यह मानना भी सदेहास्पद है कि यह विशेष रूप से दक्षिण भारतीय तथा तमिल है क्योंकि हमारे पास वायवीय-सहिता मे भी इसी प्रकार के सिद्धात तथा उत्तर भारतीय शैवमत मे भी ये ही विचार कुछ भिन्न रूपो मे पाए जाते हैं। पोप के अनेक ऐसे कथन हैं जिनका कोई तात्त्विक महत्त्व नही है। प्रस्तुत रचना का यदि कोई वाद-विवाद-सबधी उद्देश्य होता, तो उनकी सप्रमाण अधिक आलोचना आवश्यक होती।

कुछ व्यक्तियो का कथन है कि शैवमत का प्राचीनतम रूप दक्षिण भारत का प्रागैतिहासिक प्राचीन धर्म है, परन्तु मुझे आर्यों से पूर्व वर्तमान द्रविड धर्म के निश्चित

स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए कोई ऐसा प्रमाण नही मिला है, जिसका मैं वर्तमान शैवमत से तादात्म्य कर सकूं। अब भी यह अत्यंत सदेहास्पद है कि आर्यों से पूर्व द्रविडों का अन्य आदिवासी जातियो में प्रचलित प्रथाओ से भिन्न कोई क्रमबद्ध दर्शन अथवा धर्म था।

हमारे विचार से तो पाशुपत-सूत्र तथा भाष्य का उल्लेख शकर ने किया था, तथा सम्भवत वे ही शैवमत के प्रारंभिक आधार थे, जैसाकि काल्पनिक उडानो को छोडते हुए वास्तविक प्रमाणो द्वारा निष्कर्ष निकाला जा सकता है। हम यह मान सकते है कि हर्षोन्मादपूर्ण धार्मिक नृत्य, असुर-पूजा के आचार, तथा अन्य आदिम क्रियाएँ उस समय विद्यमान थी, जो यद्यपि मूलत पूर्वजो की पूजा आदि के रूप मे प्रचलित थीं तथापि शनै -शनै प्राचीनतम पाशुपतो द्वारा भी स्वीकार कर ली गईं, जिनके व्यवहार तथा आचरण की दृष्टि से तो उनका ब्राह्मणीय सामाजिक क्षेत्र से तालमेल नही बैठता, परन्तु ऐसे शैवमत को मानने वालो का ब्राह्मण होना आवश्यक था। जाति अथवा वर्णविहीनता प्राचीन पाशुपत-शैवमत का आवश्यक स्वरूप नही था। एक पृथक् खड मे हम वैदिक काल से लेकर शिव के विषय की अवधारणाओ के विकास के विवेचन करने का प्रयत्न करेगे। इस कथन का कोई प्रमाण नही है कि भारत के पूर्वी समुद्र-तट पर स्थित एक छोटे से ईसाई गिरजाघर ने देश के अति प्रभावशाली शैव तथा वैष्णव धर्मो को प्रभावित किया था। हमने देखा है कि जो सस्कृत सस्कृति के अनुयायी हो वे नियमित रूप से कदाचित् ही बौद्धमत के पाली ग्रथ पढते हो, यद्यपि पाली सस्कृत के इतने अधिक निकट है। इसी दृष्टि से हम कह सकते है कि बौद्धो के साथ माणिक्कवाचकर का विख्यात शास्त्रार्थ महत्वपूर्ण नही माना जा सकता, क्योकि ऐसा प्रतीत नही होता कि माणिक्कवाचकर अथवा श्री-लकावासियो को एक दूसरे के धर्म के विषय मे ज्ञान था। पोप का यह कथन सर्वथा अनुचित है कि कुमारिल भट्ट ने दक्षिण मे वैयक्तिक देववाद के सिद्धात का उपदेश दिया, क्योकि कुमारिल द्वारा प्रतिपादित मीमासा-सिद्धात, किसी ईश्वर अथवा स्रष्टा के प्रत्यय को स्वीकार नही करता।

सम्भवत नवी शताब्दी के माणिक्कवाचकर शैव सिद्धात नाम से ज्ञात विचारधारा के सबसे प्रथम सतो म से एक थे। सम्भवत एक शताब्दी पश्चात् नाणसबधर तथा अन्य भक्त हुए जिन्होने सिद्धात का अधिक विकास किया। उनके विषय मे किवदन्तियाँ पेरिय-पुराण मे है। परन्तु यह आश्चर्य है कि धार के राजा भोज, जिन्होने 'तत्व-प्रकाश' नामक अति श्रेष्ठ शैवरचना लिखी थी, इन तमिल लेखको की ओर ध्यान नही देते। इसी प्रकार चौदहवी शताब्दी मे माधव भी तमिल लेखको मे से किसी का उल्लेख नही करते हैं। हमे बताया गया है कि इसके पश्चात्, सन्तान गुरु (शिक्षको का क्रम) नामक चौदह मुनि हुए जिन्होने शैवसिद्धात रूप मे ज्ञात दर्शन की प्रणाली का उचित विस्तार किया। इनमे से एक उमापति थे जो १३१३ ईसवी मे विद्यमान थे।

इस प्रकार वे माधव के समकालीन थे तथापि माधव ने उनका कोई उल्लेख नही किया है।

शैवो तथा श्री वैष्णवो द्वारा तेरहवी तथा चौदहवी शताब्दी के काल मे ईश्वरवाद का महान् प्रचार हुआ। तिरुवाचकम की व्याख्या करते हुए उमापति कहते है कि समस्त वेदो के यथार्थ उद्देश्य का सार, तीन रहस्यमय शब्दो—पति, पशु तथा पाश मे है। शैवसिद्धात-प्रणाली के ये तीन तत्त्व है। परतु हमने पहले ही इगित किया है कि शैव-सिद्धात की कोई विशेष विभेदात्मक त्रिलक्षणता नही थी, आठवी शताब्दी मे शकर ने इनका उल्लेख किया है, ये शैवमत के पाशुपत सम्प्रदाय के प्रधान सिद्धात है। शिव-महापुराण के वायवीय खड मे प्राप्त शैवमत के सम्प्रदायो का उल्लेख भी शकर ने किया है। पति, पशु तथा पाश समान रूप से नित्य, अपरिवर्तनशील हैं, कालक्रम के परे है तथा काल से अप्रभावित है। यह 'पति' अन्य कोई नही वरन् शिव हैं जिनके अनेक नाम है जैसे रुद्र, पशुनापति, एव शिव आदि। उमापति कहते है कि, शिव परम सत्ता है जो न स्थाई रूप से व्यक्त है न अव्यक्त है, वह निर्गुण तथा विशिष्ट चिह्नो से रहित समस्त अशुद्धियो से मुक्त, निरपेक्ष तथा नित्य, असख्य आत्माओ के विवेक का उद्गम तथा परिणाम रहित है। वह चेतन रूप तथा शुद्ध आनन्द स्वरूप है। दुष्टो की उन तक पहुँच कठिन है परन्तु जो यथार्थ मे उसकी पूजा करते हैं उनका वह अन्तिम लक्ष्य है। इस प्रकार शिव, निष्कल, स्वय मे पूर्ण, परतु अभिव्यक्त होने वाले तत्त्व के रूप मे वर्णित है, किन्तु बधन उत्पन्न करने वाले अशुद्धि के अनत समूह के तथ्य आत्माओ को देने के लिए वह एक सकल रूप धारण कर लेता है, अर्थात् ऐसा रूप जो सूक्ष्म आत्मिक शरीरो के खडो से निर्मित हो। वह निराकार तथा ज्ञान-रूप है। वह सृष्टि करता है, रक्षा करता है, तथा सब कुछ माया की शक्ति को प्रदान कर देता है, परतु वह अतिम शरण-दाता है जो हमे कभी नही छोडता। उसका सब स्थानो मे निवास है तथा वह सबमे व्याप्त है, जिस प्रकार अग्नि समस्त लकडी मे व्याप्त है। वह केवल उन्ही को अपना वरदान देता है जो इसके लिए उसके निकट जाते है।

जीवो के समूह के लिए जो पशु शब्द से अभिहित है, यह कहा गया है कि अनादिकाल से असख्य आत्माओ ने मुक्ति प्राप्त कर ली होगी। साधारणत तीन प्रकार की अशुद्धियाँ, अर्थात्—अधकार, कर्म तथा मोह होती हैं। जब मोह हटा दिया जाता है तब भी अधकार बना रह सकता है। आत्माएँ केवल तब ही अपने इद्रियो के ज्ञान से पदार्थों का प्रत्यक्ष कर सकती हैं, जब उनकी क्रियाओ के साथ कोई स्वाभाविक दैवी शक्ति भी सम्मिलित हो। समस्त जीव मूल अशुद्धियो से दूषित होते है। उन तीन प्रकार की अशुद्धियो का शिव को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जो बधनकारी हैं।

पर-शिव अथवा महेश्वर तथा परा-शक्ति एक के ही दो रूप हैं। शिव शुद्ध ज्ञान हैं तथा शक्ति शुद्ध क्रिया है। उनके सयोग से निम्नलिखित का विकास होता है—

(१) इच्छाशक्ति जो ज्ञान तथा क्रिया के समान अनुपात की एक संधि है, (२) क्रिया-शक्ति, जो क्रिया की अधिकता के साथ ज्ञान तथा क्रिया की संधि है, तथा (३) ज्ञान-शक्ति जो ज्ञान की अधिकता के साथ ज्ञान व क्रिया की संधि है, जिसे अरूल-शक्ति भी कहते हैं। अरूल-शक्ति ज्ञानशक्ति के रूप मे आत्माओ की मुक्ति के समय क्रियात्मक रहती है, जबकि निरोधान-शक्ति के रूप मे यह उस समय क्रियात्मक रहती है जब आत्माएँ बधन में बधती हैं।

सक्षेप मे शैवसिद्धात की स्थिति, जहाँ तक हम तमिल रचनाओ के प्रामाणिक अनुवादो से तथा पोप व शोमरस आदि द्वारा लिखित तमिल साहित्य के प्रामाणिक अध्ययनो से ज्ञात कर सकते हैं, इस प्रकार निष्कृष्ट की जा सकती है कि वे आत्माएँ जो शरीर मे व्याप्त है, स्वय जडरूप हैं तथा वे बौद्धिक साधन भी अचेतन है, जिनसे वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण होता है। चेतन अनुभवो का केवल शिव की शक्ति से ही उद्गम हो सकता है। सूर्य की किरण के समान यह शक्ति मूल शक्ति है जो शिव से अविभेद्य है। शैवसिद्धात-सम्प्रदाय का चार्वाक सम्प्रदाय से प्रत्यक्ष विरोध है जो किसी भी स्रष्टा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। शैवसिद्धात-सम्प्रदाय एक परम सत्ता के अस्तित्व को मानता है और यह तर्क प्रस्तुत करता है कि वही भासमान विश्व की उत्पत्ति, पालन तथा विलय करता है। समस्त जीवों, नरो एव नारियो सहित तथा उन पदार्थों सहित जो निर्जीव हैं, परतु भासमान अस्तित्व के अन्तर्गत हैं, सम्पूर्ण विश्व कुछ समय के लिए अस्तित्वगत होता है तथा तत्पश्चात् विलीन हो जाता है, परन्तु इसके उपरात जैसाकि हमने पहले कहा है इसमे भौतिक ससार तथा आत्माओ के स्वरूप के विषय मे हमारा ज्ञान स्पष्ट नही होता। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रारम्भ से किस प्रकार जीव आणवमल नामक अशुद्धियो से सयोजित हुए। आत्माओ की मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् भी आत्माएँ ईश्वर से एक अथवा सयुक्त नही होतीं। इन कठिनाइयो से बचने के लिए शैवमत के कुछ अन्य रूपो ने कुछ भिन्न प्रकार की धाराओ का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि शक्ति शिव का एक अश मानी गई है तथा इससे तन्त्र-दर्शन के अनेक रहस्यमय पक्षो का निर्माण हुआ है, तथापि ईश्वर से भक्तों का व्यक्तिगत संबध सेवा-भाव तथा सम्पूर्ण आत्मसमर्पण पर आधारित है। इसमे आरवार अर्थात् वैष्णव सतो मे देखे गए आनदपूर्ण प्रेम के श्रृगारमय पक्ष का नितात अभाव है।

किसी अर्थ मे तिरुवाचकम माणिक्कवाचकर की आध्यात्मिक जीवन-कथा मानी जा सकती है जिसमे उनके जीवन के विभिन्न कालो के अनुभवो का कथन तथा उनकी व्याख्या है। यह रचना उनके धार्मिक अनुभवों तथा उत्साह से परिपूर्ण है तथा इसमे धार्मिक मानसिकता की विभिन्न स्थितियो का भी वर्णन है। इस प्रकार वह कहते हैं—

कर्मों की भीषण ज्वाला अब भी निरंतर दोहरे प्रज्वलित है—
अब मैं क्या करूँ ?
न तो तन द्रवीभूत होकर अस्तित्व खोता है
और न ही 'मिथ्या' धूलिसात होता है।
मन उस रक्तिम ज्वाल के मधु से
एकाकार नहीं हो पाता,
पेरन तुरइ के महान सुन्दर प्रभु।[1]
मैं पुकारूँ, प्रतीक्षा करूँ, नाचूँ, गाऊँ या देखूँ ?
ओ अनन्त। मैं क्या करूँ ?
शिव की, जो असीम आनन्द से भर देते हैं,
पेरन तुरइ के महान प्रभु की,
सब मेरे साथ विनत होकर वन्दना करो।[2]
उन्होंने मुझ मे दीन भावना भरकर
जन्म चक्र से मुक्त किया।
मेरी आत्मा मे अनिर्वचनीय आनन्द की पुलकन भरी
पेरन तुरई के प्रभु ने, शिव ने,
असीम अनुकम्पा से मुझे अपना लिया।
मेरी सब पीडाओ पर अनुलेप लग गया है
और हुई है अमर, दिव्य चिरानन्द की प्राप्ति।[3]
महामहिम, सर्वोपरि, असीम प्रभु,
मुझे, जो तुम्हारा तुच्छ, नीचातिनीच दास मात्र है,
तुमने उस सर्वोच्च आनन्द का भागी बनाया है,
जिसे अन्य किसी ने न जाना है, न पाया है।
महाप्रभु मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ।[4]
तुम सभी जो उसके सेवक हो गए हो,
अपने हर नादान, मिथ्या विचार को दूर कर दो।
सुरक्षा के इस दृढ़ दुर्ग, इस पावन चिह्न को
अन्तिम क्षण तक दृढता मे ग्रहण किए रहो।
इस पापांकित देह को विसर्जित कर दो,

---

[1] तिरुवाचकम्, पृ० ३३४।
[2] वही।
[3] वही, पृ० ३३६।
[4] वही, पृ० ३३६।

शिव अपने लोक मे अवश्य ही हमे स्थान देगे ।
भुजगधारी, विभूति-भूषण अपने चरण कमलो मे
अवश्य शरण देगे ।[1]

भोज तथा उसके टीकाकारों के अनुसार शैवदर्शन

चौदहवी शताब्दी मे माधव अपने सर्व-दर्शन-सग्रह में दर्शन की एक प्रणाली 'शैवदर्शन' का उल्लेख करते है जो इस विचार को अस्वीकार करता है कि ईश्वर अपने सकल्प से हमारे लिए समस्त अनुभवो का सृजन करता है और यह मानता है कि ईश्वर ऐसा हमारे अपने कर्मों के आधार पर ही करता है। माधव ने इस दर्शन को शैवागमो पर आधारित बतलाया है जिनकी रचना शिव अर्थात् महेश्वर द्वारा की गई मानी जाती है। श्रीकठ तथा अप्पय के दर्शन का विवेचन करते हुए हमने बतलाया था कि वे अट्ठाईस आगमो का उल्लेख करते है, यह माना जाता है कि इन सबको शिव तथा उसके अवतारो ने लिखा था इन सबका तात्पर्य एक ही है चाहे वे द्रविड भाषा मे हो अथवा सस्कृत मे। यद्यपि हमारे लिए समस्त आगमो को प्राप्त करना सम्भव नही है, तथापि पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप मे अनेक आगम उपलब्ध है। कुछ आगमो के अपने ही प्रमाण के अनुसार वे सस्कृत, प्राकृत तथा स्थानीय प्रादेशिक भाषाओ मे लिए गए थे।[2] यद्यपि आगम महेश्वर द्वारा लिखे गए थे तथापि हम यह देखते है कि समस्त आगमो का एक ही उद्देश्य प्रतीत नही होता। इससे शैवागमो की व्याख्या मे बहुत भ्रम उत्पन्न होता है। इसके उपरात भी अतर सदैव इतने स्पष्ट नही हैं कि वे शैवमत के विभिन्न उप-सम्प्रदायो के विशिष्ट लक्षणो की परिभाषा स्पष्ट कर सके।

सम्भवत ११वी शताब्दी के सुप्रसिद्ध राजा भोज ने जिसने 'सरस्वती-कठाभरण' तथा 'योग-सूत्र' पर टीका लिखी है तत्व-प्रकाश नामक रचना भी लिखी जिसका माधव ने अपने सर्वदर्शन-सग्रह मे उल्लेख किया है। माधव ने अघोर शिवाचार्य का भी उल्लेख किया है जिनकी 'तत्व-प्रकाश' पर टीका अभी तक प्रकाशित नही हुई है परतु उन्होने श्रीकुमार का उल्लेख नही किया है जिसकी तत्व-प्रकाश पर टीका त्रिवेंद्रम ग्रथमाला मे तत्व-प्रकाश ग्रथ के साथ प्रकाशित हो चुकी है। प्रतीत होता है कि अघोर शिवाचार्य ने मृगेद्रातम पर मृगेद्रागम-वृत्ति-दीपिका नामक एक अन्य टीका लिखी थी।

---

[1] वही, पृ० ३२१।

[2] सस्कृतै प्राकृतैर्यश्चाशिष्यानुरूपत,
देश भाषाद्युपायैश्च च बोधयेत स गुरु स्मृत।
—शिव-ज्ञान-सिद्ध, (मैसूर, हस्तलेख, सख्या ३७२६)।

अपनी टीका लिखते हुए अघोर शिवाचार्य कहते हैं कि वह, यह टीका इस कारण-वश लिख रहे है कि अन्य व्यक्तियो ने तत्व-प्रकाश की व्याख्या आगम शास्त्रो के सिद्धातों से अपरिचित होने के कारण, अद्वैत सिद्धान्त वाली मनोवृत्ति से करने का प्रयत्न किया था। २-२-३७ मे शकर द्वारा माहेश्वर-सम्प्रदाय के खंडन से हमे यह ज्ञात होता है कि उसने माहेश्वरों को ऐसे व्यक्ति माना था जो ईश्वर को ससार का केवल निमित्त कारण मानते थे तथा ससार का उपादान कारण उससे पृथक् ही किसी तत्त्व को मानते थे। शंकर के अद्वैत वेदात के अनुसार ब्रह्मन् ससार का उपादान व निमित्त कारण दोनो है। यथार्थ मे ससार ब्रह्मन् के अतिरिक्त कुछ नही है यद्यपि भ्रम के कारण नानाविध ससार का आभास होता है, जिस प्रकार भ्रम द्वारा रज्जु मे सर्प का आभास होता है। यह विवर्तवाद कहलाता है जो उस परिणामवाद के विपरीत है जिसके अनुसार एक भौतिक परिवर्तन द्वारा ससार की उत्पत्ति होती है। परिणामवाद साख्य अनुयायियो द्वारा स्वीकार किया गया है। एक अन्य विचार के अनुसार ईश्वर निमित्त कारण है जो ससार की रचना व निर्माण परमाणुओ अथवा भौतिक शक्ति, अर्थात् स्थूल माया के द्वारा करता है। नैयायिक मानते हैं कि क्योंकि ससार एक कार्य है तथा यन्त्रवत् व्यवस्था की उत्पत्ति है, अत इसका एक बुद्धिमान स्रष्टा होना आवश्यक है जो परमाणु तत्त्वो की सीमाओं तथा सामर्थ्य से परिचित हो। अत ईश्वर अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है जिस तरह कार्य से कारण का अनुमान किया जा सकता है। यही विचार कुछ शैवागमो जैसे मृगेंद्र, मातग परमेश्वर आदि का भी है।

तत्व-प्रकाश की व्याख्या करने मे श्रीकुमार अपनी अस्थिर मनोदशा का परिचय देते हैं, कभी वे ईश्वर के निमित्त कारण होने के आगम-विचार का अनुसरण करते है, तथा वह कभी वेदात के विवर्तवाद के अनुसार व्याख्या करने का प्रयत्न करते है। अघोर शिवाचार्य, आगम दृष्टिकोण की एक अधिक निश्चित स्थिति लेते हैं तथा ईश्वर को निमित्त कारण मानते है।[1] वायवीय-सहिता मे व्याख्यात शैवमत के हमारे विवरण मे हमने देखा है कि पौराणिक व्याख्याकारो ने शैवमत को किस प्रकार पूर्ण अद्वैतवाद के निश्चित पथ की ओर अग्रसर किया है, तथा साख्य की प्रकृति को किस प्रकार ईश्वर की उस शक्ति के रूप मे माना है, जो न तो ईश्वर से भिन्न है और न उससे तदात्म है। ऐसा विचार स्वाभाविक ही एक प्रकार की अस्थिरता की ओर अग्रसर करता है यह प्रासगिक स्थानो पर देखा जा चुका है। माधव के अनुसार

---

[1] विवादाध्यासित विश्व विश्व-वित्-कर्तृ-पूर्वकम्, कार्यत्वादवयो सिद्ध कार्यं कुम्भादिक यथा, इति श्रीमत्-मातगेऽपि, निमित्त कारण तु ईश इति। अथ चेश्वर-वादोऽस्माभि मृगेन्द्र-वृत्ति-दीपिकाया विस्तरेणापि दर्शित इति।

—अघोर-शिवाचार्य की तत्व-प्रकाश पर टीका, (अडयार हस्तलेख)

शैवागम पति, पशु व पाश नामक तीन तत्त्वो तथा विद्या, क्रिया, योग एव कार्य नामक चार अन्य तत्त्वो की व्याख्या करते है। जीवो की कोई स्वतत्रता नही है तथा बन्धन भी स्वय निर्जीव है परन्तु दोनो ईश्वर की क्रिया द्वारा सयुक्त हो जाते हैं।

भोज ने अपनी पुस्तक तत्त्व-प्रकाश, शैवदर्शन द्वारा स्वीकृत विभिन्न तत्त्वमीमांसीय तथा अन्य तत्त्वो की व्याख्या करने के लिए लिखी है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व शिव है जो चित् माना जाता है, जिसका अर्थ शैवो के अनुसार सयुक्त ज्ञान व क्रिया है।[1] समस्त निर्जीव सत्ताओ का अधीक्षण तथा निरीक्षण करने वाले तत्त्व के रूप मे ऐसे चेतन ईश्वर को स्वीकार करना पडता है। यह अनत सत्ता स्वय सिद्ध तथा एक ही है, यह नि शरीर है तथा किसी पर निर्भर नही है, यह एक तथा निरूपम है। यह सर्व-व्याप्त तथा नित्य भी है। मुक्त जीव मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् इसी के समान हो जाते हैं, परतु ईश्वर सदैव एक ही समान तथा सदैव मुक्त रहता है तथा वह कभी किसी अन्य उच्चतर सत्ता द्वारा निर्देशित नही होता। यह समस्त वासनाओ से रहित है। यह समस्त अशुद्धियो से भी रहित है।[2]

मृगेन्द्र अथवा मातग परमेश्वर की तरह अघोर शिवाचार्य भी शैवागमों का अनु-सरण करते हुए यह मानते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व नैयायिक पद्धति के तर्कों से अनु-मानित किया जा सकता है। अत यह तर्क दिया गया है कि ईश्वर ने ससार की सृष्टि की है, वह उसका पालन करता है तथा उसका सहार करेगा, वह हमारी दृष्टि पर आवरण डाल देता है। वही हमे मुक्त भी करता है। ये पाच क्रियाएँ अनुग्रह के अन्तर्गत आती हैं। वास्तव मे अनुग्रह का अर्थ ईश्वर की उस शक्ति से है जो स्वय सासारिक विषयो के रूप मे अभिव्यक्त है तथा व्यक्ति के कर्मानुसार उसको बधन व मोक्ष की ओर प्रवृत्त करती है। बहुत सम्भव है कि शैवमत के कुछ सम्प्रदायो मे ईश्वर की क्रियाशीलता को ही 'अनुग्रह' माना गया हो। ये व्यक्ति महाकारुणिक कहलाते थे। इस प्रकार अनुग्रह का अर्थ सृष्टि की क्रिया तक विस्तृत हो जाता है। यदि यह साधारण अनुग्रह होता तब यह केवल उसी समय हो सकता था जबकि ससार पहले से ही अस्तित्व मे आ चुका होता।[3] किन्तु इस अनुग्रह मे जो क्रियात्मक

---

[1] मृगेन्द्र को उनकी तत्व-प्रकार की टीका मे उद्धृत करते हुए अघोर शिवाचार्य कहते है चेतन्य दृक्-क्रिया-रूपमिति "चिद्घन" चिदेव घन देह-स्वरूप यस्य स चिद्घन। यह चिद्घन वह विशेषण है, जिससे तत्त्व-प्रकाश मे शिव को विभूषित किया गया है।

[2] मोहो मदश्च रागश् विषाद शोक एव च, वैचित्त्य चैव हर्षश्च सप्तैते सहजा मला।
—तत्व-प्रकाश, कारिका १ पर अघोर शिवाचार्य की टीका, (अयार-हस्तलेख)।

[3] अनुग्रहस्चात्रोपलक्षणम्। —वही।

रूप मे सृष्टि, पालन, सहार, जीवो की दृष्टि पर आवरण डालना तथा अन्त मे उन्हे मुक्त करना सम्मिलित है ।[1] श्रीकुमार इस स्थिति का स्पष्टीकरण यह मानकर करते है कि दृष्टि पर आवरण डालने तथा मुक्ति द्वारा ज्ञान देने की क्रियाएँ परस्पर विरोधी नही है क्योकि मुक्ति और ज्ञान केवल उनके लिए है जिन्हे आत्म-नियत्रण, इन्द्रिय-नियत्रण, धैर्य एव समस्त भोगो के परित्याग की शक्ति प्राप्त है, तथा पूर्वोक्त उनके लिए है जिन्हे यह प्राप्त नही ।[2] इस प्रकार ईश्वर अपनी पाच प्रकार की क्रियाओ द्वारा, समस्त जीवो के मोक्ष तथा सुखानुभवो के लिए उत्तरदायी है । उसकी 'चित्' उसकी क्रियाओ के अविभाज्य रूप से सबधित है । यद्यपि ईश्वर चित् स्वरूप है, तथा उस रूप मे जीवो के समान है, तथापि ईश्वर उन शक्तियो द्वारा, जो जीवो को स्वय प्राप्त नही, उन्हे मोक्ष प्रदान कर सकता है । यद्यपि ईश्वर की चित् पूर्णत क्रिया से सयोजित है तथापि यह उससे अभिन्न है । दूसरे शब्दो मे ईश्वर शुद्ध वैचारिक गतिविधि है ।

शिव की शक्ति एक है यद्यपि इसे इसके विभिन्न कार्यों के अनुसार जिनका यह सम्पादन करती है, विभिन्न रूपो मे प्रदर्शित किया जा सकता है । श्रीकुमार यह इगित करते है कि इस शक्ति का मूल आकार विशुद्ध आनन्द है जो शुद्ध चित् से अभिन्न है । ससार की सृष्टि के लिए ईश्वर की अपनी शक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य साधन की आवश्यकता नही होती, जिस प्रकार हम स्वय शरीर के समस्त कार्यों का सम्पादन अपनी स्वय की शक्ति द्वारा कर सकते है, तथा किसी अन्य बाह्य सहायता की आवश्यकता नही होती । इस शक्ति को माया से विभिन्न समझना आवश्यक है । माया पर विचार करते समय हम इसे बिंदु माया नामक अनत शक्ति मान सकते हैं, जो ससार का उपादान कारण है ।[3]

---

[1] तत्व-प्रकाश, कारिका ७ ।

[2] वही—तत्व-प्रकाश पर टीका, कारिका ७ ।

[3] कार्य भेदेऽपि मायादिवन्नाम्या परिणाम इति दर्शयति तस्य जडधर्मत्वात् । अद्याम् प्रधान-भूताम् समवेताम् अनेन परिग्रह-शक्तिस्वरूपम् बिन्दु मायात्मकम् अपि अस्य बाह्य-शक्ति-द्वयम् अस्ति (अघोर शिवाचार्य की टीका, अडयार हस्तलेख) किन्तु श्रीकुमार के विचार से माया से सयुक्त होकर शिव ससार के निमित्त तथा उपादान कारण बनते है

निमित्तोपादान-भावेन अवस्थानाद् इति ब्रूम ।

इस विचारानुसार शैवमत शकर के अद्वैतवाद मे समानता आ जाती है । अघोर शिवाचार्य ने अपनी टीका इस विचार के विरोध मे लिखी । उनका कथन है कि यह विचार उन शैवागमो के विचारो का प्रतिनिधित्व नही करता है जो ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते है ।

श्रीकुमार की टीका मे प्राप्त शैवसिद्धात अद्वैतवादी पुराणो मे, शिवद्वैत-प्रणाली के रूप मे (विशेषत. सूत-संहिता मे) पहले ही आ चुका है।[1]

शिव केवल अपनी शक्ति द्वारा जीवो को अनुभवो तथा मोक्ष का प्रावधान करता है। ऊपर वर्णित पाच प्रकार की क्रिया को भी 'एक शक्ति' से पृथक् किन्तु उसके विभिन्न कार्यों से सम्वादनार्थ विभिन्न प्रकारो के रूप में मानना चाहिए।

तत्व-प्रकाश का उद्देश्य शैवागमो मे उपलब्ध शैवदर्शन की व्याख्या करना है तथा मुख्यत पति, पशु तथा पाश नामक पदार्थों का वर्णन करना है। पति ईश्वर है एव पशु, अणु कहलाता है तथा पाच पदार्थ पाच पाश है। अणु ईश्वर पर आश्रित हैं तथा वे विभिन्न प्रकार के बधन से मुक्त है। पाच प्रकार के पदार्थ मल के कारण उत्पन्न है तथा वे बिन्दु माया की शुद्धियो तथा अशुद्धियो के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ है। श्रीकुमार इगित करते हैं कि क्योकि आत्माएँ मल से अनादिकाल से सयोजित है, अत वे माया के शासन मे आ जाता है, परन्तु क्योकि आत्माएँ शिव के स्वरूप की है, अत जब यह मल जला दिया जाता है, तब वे शिव से एक हो जाती हैं। पाच प्रकार के पदार्थ जो बधनकारी है मल, कर्म, माया, ससार (जो माया से उत्पन्न है) तथा बाधने वाली शक्ति है।[2]

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि यह शक्ति ईश्वर की है तब किम प्रकार बधन मे आने वाले विषयो का गुण बन जाती है? उत्तर है कि वास्तव मे शक्ति प्रभु की है तथा बन्धन या पाश मे यह शक्ति केवल इस अर्थ मे ही उपचरित मानी जा सकती है कि बधन अथवा बधन की शक्ति जीव मे तथा उसके द्वारा अनुभव की जाती है।[3] वह परमेश्वर की ही शक्ति।

पशु वे हैं जो पाश से बधे है, अर्थात् वे जीव जो जन्म व पुनर्जन्म के चक्र से होकर निकलते है। इस सम्बन्ध मे श्रीकुमार आत्म चेतना तथा स्मृति के आधार पर आत्मा के विवेचन करने का प्रयत्न करते हैं, तथा यह मानते हैं कि इन तथ्यो की बौद्धो

---

[1] सूत सहिता, पुस्तक ४ पद्य २८।

[2] मल कर्म च माया च मायोत्थमखिल जगत्, तिरोधानकरी शक्तिरर्थ पचकमुच्यते।
—श्रीकुमार की टीका पृ० ३२।

[3] ननु कथमेकस्या एव शिव-शक्ते पति पदार्थे च पाश-पदार्थे च सग्रह उच्यते। सत्यम्, परमार्थत पति-पदार्थ एव शक्तेरन्तरभाव पाशत्व तु तस्यां पाश धर्मानुवर्तनेन उपचारात्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रे—तासा माहेश्वरी शक्ति सर्वानुग्राहिका शिवा, धर्मानुवर्तनादेव पाश इति उपचयत, इति।
—अघोर शिवाचार्य की टीका, (अडयार-हस्तलेख)।

द्वारा व्याख्या नही की जा सकी जो क्षण भंगुर आत्माओ मे विश्वास करते थे। ये तीन प्रकार की हैं—वे जो मल तथा कर्म से सयोजित हैं, वे जो केवल मल से संयोजित हैं, (ये दोनो प्रकार की आत्माएँ सम्मिलित रूप से 'विज्ञानकल' कहलाती है), तथा तीसरे प्रकार की सकल कहलाती हैं जो मल, माया तथा कर्म से सयोजित है। प्रथम, अर्थात् विज्ञानकल पुन दो प्रकार की हो सकती है अर्थात् अशुद्धियो से सयोजित तथा अशुद्धियो रहित। वे जो मल से मुक्ति प्राप्त कर लेती हैं, ईश्वर द्वारा विभिन्न दैवी कार्यों के लिए नियुक्त की जाती हैं तथा उन्हे विद्येश्वर तथा मत्रेश्वर कहते है। किन्तु सूक्ष्म शरीर का निर्माण करने वाले आठ तत्त्वो के समष्टि शरीर से सयुक्त होने के कारण अन्य आत्माएँ नवीन जीवन चक्र मे चली जाती है। ये आठ तत्त्व इस प्रकार हैं—पाच ज्ञानेन्द्रिया, मनस्, बुद्धि तथा अहकार, ये सब पुर्यष्टक अर्थात् आठ तत्त्वो वाला शरीर कहलाते है।

वे, जिनके मल परिपक्व हो जाते हैं, उचित दीक्षा द्वारा ईश्वर से वह शक्ति प्राप्त कर सकते है जिनके द्वारा मल हटाए जा सकते हैं तथा वे ईश्वर से एक हो जाते हैं। किन्तु अन्य जीव ईश्वर द्वारा बधनो मे बाध दिए जाते हैं तथा विविध अनुभवो के चक्र को सहन करने के लिए बधे रहते हैं जिसके अत मे वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

पाश चार प्रकार के है—मल, कर्म, मायेय और माया। मल का पाश अनादि है तथा हमारे ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति पर आवरण के रूप मे है। अनादि काल से कर्म का भी प्रवाह होता रहता है, वह मल पर निर्भर है। तृतीय मायेय कहलाता है जिसका अर्थ माया (जो चतुर्थ है) द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर है। अघोर शिवाचार्य का कथन है कि मायेय का अर्थ उन वासना के पशो से हैं जो कर्म के कारण उत्पन्न होते है। प्रलय के समय जिनके मायेय मल नही होता, वे स्वय अकेले रह जाते हैं परन्तु मुक्त नही होते।

परन्तु मल क्या है ? यह एक अनाध्यात्मिक पदार्थ माना जाता है जिसके कार्य अनेक है। इसी कारण जब एक व्यक्ति का मल हटा दिया जाता है तब वह दूसरो मे कार्य कर सकता है। ईश्वर की आवरण-शक्ति के समान यह मल दूसरे व्यक्तियो मे कार्य करता रहता है यद्यपि यह किसी एक व्यक्ति मे से हटाया जा सकता है। जिस प्रकार भूसी बीज का आवरण करती है उसी प्रकार मल व्यक्ति के स्वाभाविक ज्ञान तथा कर्म का आवरण करता है, तथा जिस प्रकार भूसी अग्नि तथा ताप से जल जाती है उसी प्रकार जब आतरिक आत्मा प्रकाशमान होती है तब मल हट जाता है। यह मल हमारे शरीरो के लिए उत्तरदायी है। जिस प्रकार ताम्बे का कालापन पारे से हटाया जा सकता है उसी प्रकार शिव-शक्ति द्वारा आत्मा का कालापन हट जाता है।

कर्म अनादि है तथा धर्म एव अधर्म स्वरूप है। श्रीकुमार धर्म व अधर्म की परिभाषा दुःख तथा सुख के विशिष्ट कारण के रूप में करते है, तथा वे धर्म तथा अधर्म

के विषय मे अन्य विचारो व सिद्धातो के खडन का प्रयत्न करते हैं। माया वस्तु सत्ता मानी जाती है, जो ससार का कारण हैं। हमने पहले ही देखा है कि बधन (मायेय) माया के कार्यों से उत्पन्न हैं, इस कारण माया पाश का मूल कारण है। यह प्रातिभासिक नही है जैसा वेदातियो का कथन है वरन् यह ससार का उपादान कारण है। इस प्रकार हम देखते है कि मल, माया, कर्म तथा मायेय रूप से ईश्वर की शक्ति, पाश का आधारभूत प्रत्यय है।

शिव से उत्पन्न ये प्रथम पाच शुद्ध तत्त्व है। शिव का तत्त्व बिन्दु माना जाता है तथा यह सबका मूल तथा प्रारम्भिक कारण है। यह माया के समान नित्य है। अन्य चार तत्त्व इससे उत्पन्न होते है तथा इस कारण इसे महामाया माना जाता है। ये तत्त्व विभिन्न ससारो के पौराणिक अधीक्षक ईश्वर है जिन्हे विद्येश्वर मन्त्रेश्वर आदि कहा गया है। बिन्दु से शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा विद्येश्वर उत्पन्न होते हैं। ये तत्त्व शुद्ध तत्त्व माने जाते है। व्यक्तियो को अनुभव का तथा कर्म करने का अवसर प्रदान करने के लिए पाच तत्त्वो की उत्पत्ति होती है, जो काल, नियति, कला, विद्या तथा राग है। अव्यक्त, गुण तथा तत्पश्चात् बुद्धि एव अहकार, मनस्, पाच कर्मेन्द्रिया व पाच ज्ञानेन्द्रिया तथा भूत तत्त्व जो माया के तेईस तत्त्वो का निर्माण करत है, माया से उत्पन्न होते है।

इस प्रकार हम देखते है कि, प्रथम पाच तत्त्व–शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा विद्या है। ये सब शुद्ध चित् स्वरूप (चिदरूप) है, तथा इस स्वरूप का होने के कारण इनमे कोई मल नही हो सकता। इसके उपरात सात तत्त्व है जो शुद्ध व अशुद्ध दोनो हैं, (चिदचिद्-रूप) तथा ये माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग तथा पुरुष है। यद्यपि शुद्ध चित् स्वरूप है तथापि अपने अशुद्ध सयोजन के कारण यह अशुद्ध प्रतीत हो सकता है। इन तत्त्वो के उपरात चौबीस तत्त्व है जो इस प्रकार है। अव्यक्तगुणतत्त्व, बुद्धि, अहकार, मनस्, पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया, पाच तन्मात्र तथा पाँच महाभूत। ये समस्त छत्तीस तत्त्व है।

यदि तत्त्वो के इस विभाजन की ओर हम ध्यान दे तब हम यह पाते हैं तथाकथित अशुद्ध तत्त्व अधिकाशत साख्य दर्शन के तत्व है। परन्तु जबकि साख्य मे प्रकृति तीन गुणो की साम्यावस्था के रूप मे अव्यक्ति के समकक्ष समझी जाती है तब यहाँ शैवदर्शन मे अव्यक्त अनभिव्यक्ति है जो माया से उत्पन्न होता है तथा गुणो को उत्पन्न करता है।

सार-सक्षेप के रूप मे हम यह कह सकते है कि, शैवागमो पर आधारित तत्त्व-प्रकाश मे प्रदर्शित विचारधारा, भारतीय दर्शन के कुछ सिद्धातो के साथ, कुछ पौराणिक कथाओ का अनोखा समिश्रण है। एक टीकाकार श्रीकुमार ने इसमे शकर का अद्वैत-दर्शन पढने का प्रयत्न किया है जबकि अन्य टीकाकार अघोर शिवाचार्य ने इस प्रणाली मे

एक प्रकार का द्वैतवाद पढने का प्रयत्न किया है यद्यपि यह द्वैतवाद सगत नही है। शकर के शैव-सप्रदाय के दर्शन के विवरण से हमे ज्ञात होता है कि महेश्वर नामक कुछ शैवों ने अपनी सिद्धात नामक रचनाओ मे इस विचार की स्थापना करने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर ससार का उपादान कारण नही वरन् केवल निमित्त कारण है। शकर के विचारानुसार ईश्वर ससार तथा समस्त जीवो का उपादान तथा निमित्त कारण दोनो हैं। अघोर शिवाचार्य का टीका लिखने का उद्देश्य वे यह बतलाते है कि इसकी व्याख्या अद्वैत मनोवृत्ति वाले व्यक्तियो ने की थी, अत यह प्रदर्शित करने का उनका कर्तव्य था कि शैवगमो के अनुसार ईश्वर केवल निमित्त कारण ही हो सकता है जैसाकि हम नैयायिको मे पाते हैं। वे इस आधारभूत धारणा से प्रारभ करते है कि ईश्वर, चेतना तथा शक्ति के बल का पूर्ण सम्मिश्रण है, तथा उनका कथन है कि माया ससार की उपादान कारण है, जिससे अन्य विविध पदार्थ उत्पन्न होते है, जो साख्य तत्वो के समान है। परतु वे यह नही स्पष्ट करते कि किस प्रकार की निमित्तता शुद्ध एव अशुद्ध तथा शुद्धाशुद्ध विविध तत्वो को उत्पन्न करने मे माया को प्रभावित करती है। उनका कथन है कि माया की शक्ति भी ईश्वर से ही प्रवृत्त होती है तथा माया मे इस प्रकार प्रतीत होती है मानो उससे अभिन्न हो। इस प्रकार यह सब एक मौलिक भ्रम है जिसके द्वारा बिदु तथा नाद के रूप मे माया की प्रक्रिया अथवा ईश्वर की सृष्टि के लिए कामना तथा सृष्टि की प्रक्रिया घटित हो जाती है। परतु वे भ्रम का स्वरूप तथा कारण अथवा भ्रम उत्पन्न होने के रूपो को और अधिक स्पष्ट नही करते। इस महत्वपूर्ण विषय मे तत्व प्रकाश का मूल ग्रथ भी कोई प्रकाश नही डालता। अपने समर्थन के लिए अघोर शिवाचार्य प्राय मगेन्द्रागम का उल्लेख करते है। परतु मृगेन्द्रागम तत्व-प्रकाश के समान साख्य के विकास की प्रक्रिया का अनुसरण नही करता। वहाँ हम ईश्वर के सकल्प द्वारा अणुओ के निर्माण तथा सघटन के विषय मे सुनते है जो न्याय दृष्टिकोण के अधिक समान है।

जीव के स्वरूप के विषय मे व्याख्या करते हुए यह कहा गया है आत्माएँ इस अर्थ में अणु हैं कि उन्हे केवल सीमित ज्ञान प्राप्त है। यथार्थ मे जीव, शिव अथवा ईश्वर स्वरूप है परतु इसके उपरात भी उनमे एक स्वाभाविक अशुद्धि है जो सभवत उनमे माया के प्रवेश के कारण है। इस विषय मे कुछ भी निश्चित रूप से नही कहा गया है कि अशुद्धि का स्वरूप क्या है तथा जीव मे यह किस प्रकार आई। श्रीकुमार वेदातियो के समान इस अशुद्धि की व्याख्या अविद्या आदि से करते है। परतु अघोर शिवाचार्य इस विषय मे कुछ नही कहते है। यह कहा गया है कि जब कर्म के फलो द्वारा अशुद्धि परिपक्व हो जाएगी तब ईश्वर गुरु के रूप मे उपयुक्त दीक्षा देगा जिससे अशुद्धि जल जाए तथा इस प्रकार स्वच्छ अथवा शुद्ध किए हुए जीव शिव का स्वरूप प्राप्त कर सके। ऐसी प्राप्ति से पूर्व शिव, कुछ ऐसी आत्माओ को, जिनकी अशुद्धिया

स्वच्छ हो गई है, ससारो के अधीक्षक के रूप में के लिए विद्येश्वर अथवा मन्त्रेश्वर के रूप मे नियुक्त कर सकता है। पुनर्जन्म के चक्रो के समय, जिन जीवो को अपने कर्मो के परिपक्व होने के लिए इससे निकलना पडता है, वे पुर्यष्टक नामक (जिसमें तन्मात्र, बुद्धि, अहकार तथा मनस् सम्मिलित है) सूक्ष्म शरीरो के माध्यम से कर्मोपभोग करते है।

तथाकथित पाश भी यथार्थ मे शिव की शक्ति की ही एक उत्पत्ति है, तथा इसी कारण पाश एक आवरण शक्ति हो सकती है और मोक्ष के समय उसे हटाया भी जा सकता है। शिव तत्व ही जो बिंदु भी कहलाता है, पाँच प्रकार के शुद्ध तत्वो के तथा पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थों अर्थात् अशुद्ध तत्वो के रूप मे स्वय उत्पन्न हो जाता है। ये पाँच प्रकार के शुद्ध तत्व-शिव तत्व, शक्ति तत्व, सदाशिव तत्व, ईश्वर तत्व तथा विद्या तत्व हैं। इन शुद्ध तत्वो के कलेवरो की उत्पत्ति महामाया नामक शुद्ध माया से होती है। इनके पश्चात् काल, नियति, कला, विद्या तथा राग के शुद्धाशुद्ध तत्व हैं जो आत्मा तथा ससार के मध्य एक प्रकार की कडी है, जिससे आत्मा ज्ञान प्राप्त कर सके तथा कर्म कर सके। माया के पश्चात् अव्यक्त अर्थात् गुण तत्व है, तथा गुण तत्व से बुद्धि तत्व तथा उससे अहकार और उससे मनस्, बुद्धि, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच तन्मात्र एव पाँच स्थूल भूत उत्पन्न होते है।

जैसाकि हमने ऊपर इगित किया है अधिकाशत सिद्धाती विचारक इस विचार पर दृढ है कि उपादान कारण निमित्त कारण से भिन्न है। यह उपादान कारण माया, प्रकृति अथवा अणु एव उनके कार्य के रूपो मे प्रकट होता है तथा निमित्त कारण ईश्वर अर्थात् शिव है। परन्तु ये सभी सप्रदाय यह मानते है कि सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता से पूर्ण शिव समस्त शक्ति का उदगम है। यदि ऐसा हो तो माया की समस्त शक्तियाँ तथा उससे उत्पन्न समस्त तत्व शिव के ही स्वरूप होने चाहिए, तथा तब निमित्त कारण से भिन्न उपादान कारण की स्वीकृति एक अनावश्यक विरोध हो जाती है। जैसाकि प्रणालियो के हमारे अध्ययन मे स्पष्ट है, विभिन्न प्रणालियो को इस विरोध से बचने के लिए, परन्तु स्पष्टत बिना किसी सफलता के, विभिन्न प्रकार से अपना तर्क परिवर्तित करना पडा है। जब नैयायिक कहता है कि उपादान कारण, सबध तथा निमित्त कारण भिन्न हैं, तथा निमित्त कारण के रूप मे ईश्वर ससार का विधान करता है, तथा कर्म के अनुरूप वह ससार का नैतिक शासक है, तब कोई विरोध नही होता। ईश्वर स्वय किसी अन्य आत्मा के समान है, केवल यही अतर है कि वह सर्वज्ञाता तथा सर्वव्याप्त है एव वह नि शरीर व इद्रियरहित है। वह सबका साक्षात् प्रत्यक्षीकरण करता है। पुन, यदि योग दृष्टिकोण को ले, तब यह देखेंगे कि ईश्वर प्रकृति अथवा उपादान कारण से भिन्न है तथा प्रकृति मे प्रवेश करने वाली शक्ति ईश्वर की नही है। उसकी एक

अनादि इच्छा (सकल्प) है जिसके द्वारा सृष्टि के उद्‌भव तथा प्राकृतिक नियमो को समझने के लिए यह माना जाता है कि उसके नित्य सकल्प द्वारा कर्मों के अनुसार विभिन्न धाराओ मे प्रकृति के विकास के मार्ग मे आने वाली बाधाओ को हटाया जा सकता है। ईश्वर अन्य किसी पुरुष के समान है, केवल उसमे क्लेश नही है जिनसे साधारण पुरुष सयोजित है, तथा इसके कोई कर्म एव कर्म के पूर्व सस्कार नही है। ऐसा दृष्टिकोण इस प्रणाली को विरोध से भी बचा लेता है, परतु सिद्धात-सप्रदायो की ईश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद के मध्य अस्थिर स्थिति का समर्थन करने के लिए कोई सगत तर्क नही है। शाकर वेदात मे ब्रह्मन भी यथार्थ है, तथा एक मात्र वही उपादान तथा निमित्त कारण है। जगदाभास केवल एक आभास है तथा इससे पृथक् उसकी कोई सत्ता नही है। यह माया द्वारा उत्पन्न एक प्रकार का भ्रम है, जो न सत् है, और न असत्, क्योकि यह भ्रम की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाता है। धर्म तथा दर्शन के विरोध मे बचने के लिए शैव-सप्रदाय के भिन्न रूपो को पृथक् करना होगा।

शिव-तत्व, जिससे उपर्युक्त पाच शुद्ध तत्व (सदाशिव आदि) उत्पन्न होते हैं, बिंदु अर्थात् सभी परिणामो से अतीत शुद्ध ज्ञान तथा क्रिया शक्ति कहलाता है। यह माना जाता है कि यह शुद्ध शिव या बिंदु अथवा महामाया, सृष्टि के समय विभिन्न शक्तियो से परिपूर्ण रहते है, तथा इन शक्तियो मे तथा इनके द्वारा माया और उसके विकार विश्व की उत्पत्ति के लिए क्रियान्वित होते हैं, जो आत्माओ के बधन का आधार है। विश्व को उत्पन्न करने के लिए अनेक शक्तियो की यह गति अनुग्रह कहलाती है। इन शक्तियो द्वारा जीवो तथा निर्जीव पदार्थों का उचित सम्बन्ध करवाया जाता है, तथा सृष्टि का कार्य चलता रहता है। अत सृष्टि प्रत्यक्ष रूप मे शिव के कारण नहीं, वरन् उसकी शक्ति के कारण है। आगे अधिक कठिनाई तब अनुभव होती है, जब यह कहा जाता है कि यह शक्तियाँ ईश्वर से भिन्न नही है। ईश्वर के सकल्प तथा प्रयास केवल उसकी शक्ति की अभिव्यक्तिया है।[1]

ईश्वर के ज्ञान तथा कर्म के बीच दोलायमान विभिन्न व्यापार सदाशिव, ईश्वर और विद्या के भिन्न तत्वो के रूप मे प्रदर्शित किए गए हैं। परतु ये व्यापार दिक् तथा काल मे घटित अस्थायी घटनाएँ नही है, वरन् केवल बौद्धिक वर्णन हैं। वास्तव मे शिव तत्व सदैव एक समान रहता है। विभिन्न क्षण केवल काल्पनिक है। अनेक

---

[1] इस प्रकार 'मातग परमेश्वर' पृ० ७६, से उद्धृत करते हुए श्रीकुमार कहते हैं
तदुक्त मातगे

परस्तु परा सूक्ष्मा जाग्रतो द्योतन-क्षमा,
तया प्रभु. प्रबुद्धात्मा स्वतत्र स सदाशिव ।

शक्तियो से युक्त केवल शिव-तत्व ही है, जिसके बौद्धिक मूल्याकन के लिए उसके अनेक भेद किए जा सकते है।[1]

साख्य-प्रणाली मे यह माना गया था कि प्रकृति स्वत अपने स्वय के नैसर्गिक स्वभाव के कारण, समस्त जीवो को, उनके अनुभवो की सामग्री प्रदान करने के लिए विकास की प्रक्रिया मे अग्रसर होती है, तत्पश्चात् उनको मुक्त कर देती है। सिद्धात-प्रणालियो मे यही विचार अनुग्रह शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। यहाँ शक्ति का तात्पर्य है अनुभव की उत्पत्ति तथा मोक्ष के लिए अनुग्रह से सयोग करना है। शिव को अटल तथा अचल मानने के कारण इस प्रणाली मे सगुण ईश्वर को स्थान नही है। निर्गुण सत्ता के साथ अनुग्रह का विचार सगत रूप मे प्रयुक्त नही हो सकता।

ईश्वर की शक्तियाँ, जिन्हे हम उसका सकल्प अथवा प्रयास कहते हैं, कारण हैं तथा माया उपादान है, जिससे ससार का विधान होता है, परतु यह माया इस रूप मे इतनी सूक्ष्म है कि इसका प्रत्यक्षीकरण नही हो सकता। यह सभी के लिए एक सामान्य कारण पदार्थ है। यह माया हममे विभ्रम उत्पन्न करती है तथा हममे उनसे अभेद बुद्धि भी पैदा करवाती है, जो हमसे भिन्न है। माया का यह भ्रमात्मक कार्य है। इस प्रकार भ्रम को अन्यथा-ख्याति के समान प्रकार का मानना होगा, अर्थात् वह भ्रम जिसमे मनुष्य एक वस्तु को अन्य वस्तु समझता है, जैसाकि योग मे है। समस्त कर्म माया मे सूक्ष्म रूप मे निहित माने जाते हैं, तथा जीवो के लिए जन्म व पुनर्जन्म के चक्रो को चलाते है। इस प्रकार माया उन अन्य समस्त वस्तुओ की द्रव्यात्मक सत्ता है, जिनका हम प्रत्यक्ष कर सकते है।

परिवर्तनशील माया तथा अपरिवर्तनशील ईश्वर अथवा शिव के सबध के विषय मे मुख्य भ्राति की व्याख्या हमने पहले ही की है। परतु इसके पश्चात् यह प्रणाली आस्तिकवाद की ओर सुगमता से मुड जाती है, तथा समस्त जीवो को अनुभव की सामग्री प्रदान करने के लिए ईश्वर की शक्तियो द्वारा ईश्वर के सकल्प से माया किस प्रकार परिवर्तित हो जाती है यह स्पष्ट करती है। काल भी माया का एक कार्य है। काल मे तथा काल द्वारा नियति आदि के अन्य तत्व उत्पन्न होते है। नियति का अर्थ सबको नियत्रित करना है। यह उसी अर्थ मे प्रयुक्त है जिस अर्थ मे हम 'प्राकृतिक नियम' शब्द का प्रयोग करते हैं, जैसे बीज मे तेल का अस्तित्व, भूसी मे दाने का तथा इस प्रकार की अन्य समस्त नैसर्गिक प्राकृतिक घटनाएँ। नियति शब्द की उत्पत्ति 'नियम' से है जो दिक् तथा काल मे कार्य करता है। तथाकथित कलातत्व नियति

[1] तत्व वस्तुत एक शिव-सज्ञा चित्र-शक्ति-शत-खचितम्,
शक्ति व्यापृति-भेदात्तस्येते कल्पिता भेदा। —तत्व-प्रकाश २-१३

जाती हैं, जिससे वे बहुत अशो मे स्वय ज्ञान प्राप्त करने तथा क्रिया करने के लिए स्वतत्र हो जाते हैं। इस प्रकार कला वह है, जो कर्तृत्व अभिव्यक्त करती है (कर्तृत्व व्यजिका)। काल के द्वारा ही अनुभव व्यक्तियो से सयोजित किए जा सकते है।[1] कला के कार्य से ज्ञान उत्पन्न होता है तथा ज्ञान द्वारा सासारिक पदार्थों को समस्त अनुभव सम्भव होते हैं।

साख्य प्रणाली मे यह माना जाता है कि बुद्धि पदार्थों के सम्पर्क मे आती है, तथा तब उनके आकार ग्रहण करती है। वहाँ स्थित अध्यक्ष पुरुष द्वारा ऐसे बुद्धिगत आकार प्रकाशित किए जाते हैं। तत्व प्रकाश मे प्रतिपादित सिद्धात-प्रणाली इस विचार से असहमत है। यह मानती है कि अक्रिय होने के कारण पुरुष प्रकार उत्पन्न नही कर सकता। जिसे बुद्धि जानती है, वह विद्या या ज्ञान के तत्व द्वारा ग्रहण होता है, क्योकि विद्या पुरुष से भिन्न है, तथा वास्तव मे वह माया से उत्पन्न है। वह पदार्थों, बुद्धि तथा आत्मा के मध्य एक मध्यस्थ कडी बन सकती है। माया से उत्पन्न होने के कारण, बुद्धि स्वय प्रकाशित नही हो सकती, परतु ज्ञान की उत्पत्ति के लिए विद्या एक पृथक् पदार्थ के रूप मे उत्पन्न होती है। यह एक आश्चर्यपूर्ण सिद्धात है, जो साख्य से भिन्न है, परतु ज्ञान-मीमासीय विचार या व्याख्या के रूप मे दार्शनिक दृष्टि से निरर्थक ही है। साधारणत राग का अर्थ मोह है, जो समस्त व्यक्तिगत प्रयासो का सामान्य कारण है। यह बुद्धि का गुण नही है, वरन् एक सर्वथा भिन्न तत्व है। जब किसी की प्रवृत्ति किसी भी इन्द्रिय विषय की ओर नही हो तब भी 'राग' हो सकता है, जो एक व्यक्ति को मोक्ष की ओर अग्रसर करेगा।[2] पशु से सयोजित यह काल, नियति, कला, विद्या तथा राग की समष्टि उसे पुरुष बनाती है, जिसके लिए भौतिक ससार अव्यक्त, गुण आदि के रूप मे विकसित होता है। यहाँ भी साख्य-प्रणाली से इसकी भिन्नता की ओर ध्यान देना चाहिए। साख्य मे अव्यक्त का निर्माण गुणो की साम्यावस्था से होता है, परतु यहाँ गुण अव्यक्त से उत्पन्न होते है, जो एक पृथक् तत्व है।

शैव-प्रणाली निम्नलिखित तीन प्रमाण स्वीकार करती है प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द-प्रमाण। प्रत्यक्ष मे वह सविकल्प तथा निर्विकल्प दोनो को स्वीकार करती है, जिनकी व्याख्या इस रचना के प्रथम दो भागो मे की गई है। अनुमान के विषय मे

---

[1] इस प्रकार 'मातग' से उद्धृत करते हुए श्री कुमार कहते है (पृ० १२१) यथाग्नि-तप्त-मृत्पात्र जन्तुनालिम्ने क्षमम तथाणु कलया विद्ध भोग शक्नोति वासितु भोग-पात्री कला ज्ञेया तदाधारश्च पुद्गल।

[2] इस प्रकार—श्री कुमार कहते हैं (पृ० १२४) अस्य विषयावभासेन विना पुरुष प्रवृत्ति-हेतुत्वाद् बुद्धि-धर्म-वैलक्षण्य सिद्धि मुमुक्षोर्विषय-तृष्णस्य तत्साधने विषयावभासेन विना प्रवृत्तिर्दृष्टा।

कार्य से कारण का अनुमान तथा कारण से कार्य का अनुमान तथा तृतीय प्रकार का सामान्यतो दृष्ट अनुमान स्वीकार करते हैं ।

बुद्धि से उत्पन्न अहकार का तत्व स्वय को जीवन तथा आत्मचेतना की भावनाओ मे अभिव्यक्त करता है किन्तु आधारभूत तत्व 'आत्मा' इन भावनाओं से अप्रभावित रहती है । यह प्रणाली सात्विक, राजस तथा तामस अहकार, के सांख्य के समान, त्रिधा विभाजन मे विश्वास करती है । पूर्णतया साख्य के समान ही अन्य तत्व है जिनकी विस्तृत व्याख्या की पुनरावृत्ति अनावश्यक है ।

शिव तत्व तथा माया का सम्बन्ध परिग्रह-शक्ति कहलाता है । इस सम्बन्ध की प्रक्रिया इस अर्थ मे समझी जाती है कि शिव की उपस्थिति मात्र से माया मे विविध रूपान्तर होते है, तथा वही इसे ससार के रूप मे इसके विकास की ओर अथवा समय आने पर विनाश की ओर तथा पुन सृष्टि की ओर प्रवृत्त करती है । इसकी तुलना सूर्य तथा कमल से की जा सकती है । केवल सूर्य की उपस्थिति मे कमल स्वय खिल जाता है, जबकि सूर्य सर्वथा अपरिवर्तित रहता है । इसी प्रकार चुम्बक की उपस्थिति मे लौह चूर्ण मे गति होती है । इस तथ्य की विविध धार्मिक शब्दो द्वारा विविध व्याख्याएँ की गई है, जैसे ईश्वर का सकल्प, ईश्वर का अनुग्रह तथा ईश्वर द्वारा समस्त जीवित प्राणियो का बधन । पुन इसी अर्थ मे समस्त ससार को ईश्वर की शक्ति तथा सकल्प की अभिव्यक्ति माना जा सकता है, तथा ईश्वरवाद की स्थिति का समर्थन किया जा सकता है । दूसरी ओर, क्योंकि एकमात्र शिव ही एक परम तत्व है उसके अतिरिक्त कुछ भी होना सम्भव नही, इस प्रणाली की व्याख्या शकर की व्याख्या के समान शुद्ध अद्वैतवाद के रूप मे की गई है, जहाँ विविध सासारिक पदार्थ अनेकता के आभासमात्र के रूप मे प्रकट होते है, जबकि यथार्थ मे केवल शिव का ही अस्तित्व है । इसी आधार पर सूत्र-सहिता के यज्ञ वैभव अध्याय मे शिवाद्वैत-प्रणाली की व्याख्या की गई है ।

ईश्वर की शक्ति एक है, यद्यपि विभिन्न सदर्भों मे यह अनत तथा अनेक प्रतीत हो सकती है । यही शुद्ध शक्ति, शुद्ध सकल्प तथा बल के समरूप है । माया के परिवर्तनो की व्याख्या सृष्टि के द्वारा जीवो के लाभ के लिए ईश्वर के अनुग्रह के विस्तार के रूप मे की गई है । ज्ञान के रूप मे ईश्वर शिव कहलाता है तथा कर्म के रूप मे शक्ति कहलाता है । जब दोनो का सतुलन हो जाता है, तब हमे सदाशिव प्राप्त होता है । जब कर्म की प्रबलता होती है तब यह महेश्वर कहलाता है ।

इस प्रणाली मे कर्म-सिद्धात सामान्यत वैसा ही है जैसाकि बहुत सी अन्य प्रणालियो मे है । यह सामान्यत बहुत अशो मे साख्य-सिद्धात से सहमत है, परतु सदाशिव आदि पाच तत्व अन्य कही नही पाए जाते हैं, तथा ये केवल पौराणिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं ।

'शिव-ज्ञान-सिद्धियर' केवल सदाचरण, शिष्ट सभाषण, सद्भाव, मैत्री, निर्दोष सयम, दया, सम्मान, श्रद्धा, सत्यता, ब्रह्मचर्य, आत्म-सयम, विवेक आदि नियमों का ही प्रतिपादन नहीं करता, वरन् ईश्वर के प्रति प्रेम तथा उसकी भक्ति की आवश्यकता पर भी बल देता है।

वीरशैवमत के मूलाधार श्रीकरभाष्य मे श्रीपति पडित के वेदान्त सिद्धात।

श्रीपति पडित चौदहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे विद्यमान थे तथा ब्रह्मसूत्र पर अन्तिम टीकाकारो मे एक थे। श्रीपति पडित का कथन है कि उन्हे ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखने की प्रेरणा अगस्तयवृत्ति नामक निबन्ध से मिली जो अब प्राप्त नही है। उनकी रैवण के प्रति भक्ति है, जिनको उन्होने पथ का महान् सत माना है, तथा मरुल के प्रति भी भक्ति है, जो षट्स्थल-सिद्धात के प्रतिपादक माने जाते है। वे राग की भी भक्ति करते हैं जो द्वापर युग मे विद्यमान थे तथा जिन्होंने परपरा से आए शैवमत की स्थापना के लिए मीमासा तथा उपनिषदो के मुख्य तत्वो का सकलन किया।

श्रीकर-भाष्य को भिन्न श्रुतियो तथा स्मृतियो के विचारो के निश्चित वर्गीकरण-कर्ता के रूप मे माना जाना चाहिए, तथा इसका मुख्य श्रेय राम को देना चाहिए। परतु, यद्यपि यह रचना वेदान के द्वैत अथवा अद्वैत विचारो की व्याख्या से स्वय को पृथक् रखती है, तथापि यह एक ऐसे सिद्धात को मानती है जिसको विशिष्टाद्वैत कहा जा सकता है, तथा यहा प्रतिपादित सिद्धात के मतो मे वीरशैव कहलाने वाले शैवो का भी समर्थन मिलता है। यह स्मरण रखना है कि श्रीपति रामानुज के पर्याप्त समय बाद हुए तथा उनके लिए यह सम्भव था कि उन्होने कुछ विचार रामानुज के विचारो से लिए हो।

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र की अपनी व्याख्या मे शकर ब्रह्मन् के प्रति जिज्ञासा की आवश्यकता की ओर अग्रसर करने वाली स्थिति को महत्व देते है, तथा रामानुज भी इसी प्रश्न का विवेचन करते है एव उनके विचार मे, पूव मीमासा तथा वेदान दोनो एक ही अध्ययन के विषय है, परतु श्रीपति यहाँ इस प्रश्न को छोड देते है, तथा बतलाते है कि इस सूत्र का उद्देश्य ब्रह्मन् के स्वरूप तथा उसके मन अथवा अमन् होने के विषय मे जिज्ञासा उपस्थित करने का है। उनके अनुसार इस सूत्र का उद्देश्य ब्रह्मन् के जीवो पर प्रभाव के अन्वेषण म भी है।

श्रीपति ने पूर्व मीमासा तथा वेदात दोनो अनुशासना को एक ही विज्ञान के रूप मे स्वीकार किया परतु चार्वाक के इस सिद्धात का कि जीवन भौतिक सयोगो द्वारा ही उत्पन्न है, उन्होने अत्यधिक विरोध किया। वह यह स्पष्ट करते है, कि चार्वाक के ब्रह्मन् की सत्ता को नकारने की बात इस मान्यता पर आधारित है कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है यह बताने के लिए, दूसरे ससार से कोई नही आया है। श्रीपति यह भी इंगित करते है कि वैदिक शाखाओ मे कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी है, जो ईश्वर के अथवा

जीवो पर उसकी शक्ति के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, तथा जिनके विचारानुसार प्राग्वैदिक भाषा मे 'अपूर्व' कहलाने वाली कर्म की शक्ति द्वारा ही मनुष्यो के सुखो व दु खो की व्याख्या की जा सकती है। अत यदि शरीर तथा आत्मा को एक ही माना जाय अथवा व्यक्ति के कर्मों के उचित रूप से फलित होने के लिए ईश्वर की आवश्यकता न मानी जाय, तो वेदात के अध्ययन के इन दो प्रयोजनो की आवश्यकता नही रह जाती।

अत इस जिज्ञासा की उत्पत्ति करने वाला सशय कही अन्यत्र स्थित होना चाहिए अर्थात् भगवान् शिव के अथवा जीवो के स्वरूप के प्रति होना चाहिए। केवल भगवान् शिव के अस्तित्व को यथार्थ मानने की घोषणा अनेक वैदिक ग्रथो मे की गई है। हमारी आत्मचेतना मे अभिव्यक्त होने वाली आत्मा भी भिन्न सत्ता के रूप मे ज्ञात है। ऐसा होने पर सशय किस प्रकार उदित हो सकता है ? इसके अतिरिक्त ब्रह्मन् का स्वरूप हम केवल तर्क द्वारा ज्ञात नही कर सकते, क्योकि अनित्य आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने से नित्य ब्रह्मन् के स्वरूप का बोध सभव नही है। इसके अतिरिक्त उपनिषद् घोषित करते है कि ब्रह्मन्, चेतन तथा अचेतन दो प्रकार का है। अत ब्रह्म ज्ञान होने के उपरात भी अचेतन ब्रह्मन् का ज्ञान शेष रह जाता है इसलिए मोक्ष नही प्राप्त हो सकेगा।

दूसरा प्रश्न उठ सकता है कि तर्क का उद्देश्य इसका निश्चित ज्ञान प्राप्त करना है कि क्या ब्रह्मन् व आत्मा एक है। उसके समर्थन के लिए अनेक ग्रथ है, परतु फिर भी हमारी स्वय की आत्म चेतना हमे व्यक्तियो के रूप मे अभिव्यक्त करती है इससे विरोध उत्पन्न होता है। इसका सामान्य उत्तर यह है कि हमारी अह-चेतना की पृथक् सत्ता हमे सदैव इस बात की ओर प्रवृत्त करेगी कि हम आत्मा और ब्रह्मन् के तादात्म्य का कथन करने वाले उपनिषदीय शास्त्रो को गलत समझे। परतु दूसरी ओर यह भी उत्तर हो सकता है कि अविद्या द्वारा ब्रह्मन् हमारे व्यक्तित्व के आभास की सृष्टि करता है और हमे यह आभास होता है कि 'मैं एक पुरुष हूँ।' क्योकि ऐसे सर्व-व्यापी भ्रम के बिना मोक्ष का प्रश्न ही नही उठ सकता। इसके अलावा शुद्ध ब्रह्म तथा समस्त जागतिक पदार्थ परस्पर उतने ही भिन्न हैं, जितना प्रकाश से अधकार, फिर भी ऐसा भ्रम स्वीकार करना ही पडता है। क्योकि अन्यथा समस्त सासारिक व्यवहार ही समाप्त हो जाएगा। अत ब्रह्मन् के निश्चित स्वरूप, जीव तथा ससार के सच्चे स्वरूप के अन्वेषण के लिए कदाचित् ही कोई स्थान रह जाता है। क्योकि उस परात्पर ब्रह्मन् की अनत सत्ता को स्वीकार करना पडता है, जिसका शब्दो से वर्णन नहीं किया जा सकता। अत ब्रह्मन् समस्त तर्कों से परे है।

ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा, अनुमान प्रमाण द्वारा तथा उपनिषद् एव श्रुति के प्रमाण द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के विषय मे श्रीपति प्रथम

प्रश्न प्रतिपादित करते हैं। हमे अनुभव द्वारा ज्ञात है कि प्रतिभा, योग्यता तथा धन आदि युक्त होते हुए भी कुछ मनुष्य अपने लक्ष्य प्राप्त नही कर पाते, जबकि सब कुछ न होते हुए भी अन्य मनुष्य सफल हो जाते हैं। श्रीपति के अनुसार यह निश्चित रूप से एक सर्वज्ञ प्रभु के अस्तित्व तथा मानव जाति से उसके सबधो को प्रमाणित करता है। साधारण अनुभव मे जब हम किसी मदिर को देखते हैं तब हम यह कल्पना कर सकते है कि इसका कोई निर्माता होगा। इसी प्रकार ससार के दृष्टात मे भी हम यह कल्पना कर सकते है कि इसका कोई निर्माता अवश्य ही होगा। चार्वाक का यह तर्क स्वीकार नही किया जा सकता कि पदार्थों के सयोग से वस्तुएँ इसी मे से उत्पन्न हो जाती हैं, क्योकि हमने कभी पदार्थों के सयोग से ऐसे जीव का उत्पन्न होना नही देखा जैसा हम पक्षियो अथवा पशुओ मे पाते हैं। जहाँ तक गोबर आदि के दृष्टात का प्रश्न है उनमे किसी प्रकार कुछ जीव पड गए होंगे जिससे कि उनसे मक्खियो तथा कीटाणुओ का जन्म हो सके। यह भी स्वीकार करना पडता है कि व्यक्ति के कर्मानुसार ईश्वर दड अथवा पुरस्कार प्रदान करता है तथा कर्म स्वत फलित नही होते, वरन् ईश्वर की इच्छानुसार फलित होते है।

कुछ उपनिषदो मे ऐसा कहा गया है कि प्रारम्भ मे कुछ भी नही था, परतु इस कुछ नही का अस्तित्व की एक सूक्ष्म अवस्था माना जाना चाहिए, क्योकि अन्यथा समस्त वस्तुएँ कुछ नही मे से उत्पन्न नही होती। उपनिषदो मे उल्लिखित इस असत का अर्थ आकाश माल के समान केवल अभाव मात्र अथवा असभव कल्पना मात्र नही है। बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र मे भी शुद्ध निषेध के इस विचार का खडन किया है (२-१-७)। वास्तव मे वेद तथा आगम, अनन्त शक्तियो के साथ भगवान शिव को सूक्ष्म अथवा स्थूल ससार का कारण घोषित करते है। किन्तु मनुष्य ब्रह्मन् मे अत्यत भिन्न है, क्योकि मनुष्य सदैव अपने पापो तथा दुखो मे पीडित रहते है। जब उपनिषद् यह कहते है कि ब्रह्मन् जीव से एक है तब स्वाभाविक ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इन दोनो मे परस्पर सर्वथा भिन्न होते हुए भी किस प्रकार तादात्म्य माना जा सकता है ?

श्रीपति का विचार है कि जीव का ब्रह्मन् से तादात्म्य बताने वाले औपनिषद वाक्यो का तात्पर्य इस सादृश्य के आधार पर समझा जा सकता है जिस प्रकार सरिताओ का सागर मे प्रवेश होकर उससे एक हो जाने की बात समझी जा सकती है। हमे एक 'भ्रम' की कल्पना की आवश्यकता नही है, जैसाकि शकर मानते है। भ्रम के बिना मोक्ष की समस्या उदित नही हो सकती। क्योकि जब हम यह कहते हैं कि 'हमें ज्ञात नही' तब हमे अज्ञान का प्रत्यक्ष लक्षण अनुभव होता है।

शकर के इस विचार का श्रीपति दृढतापूर्वक विरोध करते है कि चित् स्वरूप वाला एक भेद-रहित ब्रह्मन् है जो विभिन्न प्रकार के स्वरूपो मे प्रकट होता है। ब्रह्मन्

जीवो से सर्वथा भिन्न स्वरूप है। यदि ब्रह्मन् में अविद्या का गुण मान लिया जाए तो वह ब्रह्मन् नही रह जाएगा। इसके अतिरिक्त, ऐसी किसी अविद्या से उस ब्रह्मन् को विभूषित नही किया जा सकता, जिसका प्राय श्रुति ग्रथो मे, शुद्ध तथा विचार रहित अथवा मन से रहित के रूप मे वर्णन किया गया है। यदि अविद्या को ब्रह्मन् मे माना जाए, तो हमे मोक्ष के लिए इस अविद्या को हटाने के लिए किसी दूसरी सत्ता को मानना होगा। ब्रह्मन् स्वय इसको खोज कर धारित नही सकता क्योकि एक क्षण मे विद्या से घिरा तथा दूसरे क्षण मे उससे मुक्त होने के कारण यह एक समान रूप मे अपना निरपेक्ष तादात्म्य नही रख सकेगा। ससार का स्वप्न के समान भ्रमात्मक प्रत्यक्षो से निर्मित होने का विचार भी दोषप्रद है, क्योकि ससार मे एक निश्चित क्रम तथा व्यवस्था है जिसका उल्लघन नही किया जा सकता। बादरायण स्वय भी बाह्य ससार के अस्तित्व के न होने के विचार का खडन करते है (२-२-२७-२८)। इसके अतिरिक्त, भेदरहित ब्रह्मन् के अस्तित्व को, केवल शब्द-प्रमाण व अनुमान के प्रमाण पर ही सिद्ध किया जा सकता है, परतु क्योकि ये दोनो भी हमारे भेदयुक्त विचारात्मक ससार के अतर्गत सम्मिलित है, अत ये हमे उनमे परे अग्रसर नही कर सकते और न भेदरहित ब्रह्मन् के अस्तित्व को सिद्ध कर सकते है। इसके अतिरिक्त, यदि वेदो के सत्य को स्वीकार किया जाय, तब द्वैत की स्थापना हो जाएगी, तथा यदि उसे स्वीकार नही किया जाय, तब ब्रह्म की एकमात्र सत्ता को सिद्ध करने के लिए कुछ नही रहेगा। इसके अलावा, ऐसा कुछ प्रमाण नही है जिससे ससार के भ्रम को सिद्ध किया जा सके। अविद्या स्वय यथेष्ट प्रमाण नही मानी जा सकती क्योकि ब्रह्मन् स्वय-प्रकाश माना जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे ब्रह्मन् की स्वीकृति का अर्थ एक ऐसे सगुण ईश्वर की अस्वीकृति होगा जिसका समर्थन गीता सहित अनेक धर्म ग्रथो ने किया है।

उपनिषदो के वे वचन, जो ससार को नाम तथा रूप से निर्मित मानते हैं, आवश्यक रूप से इस विचार की सिद्धि नही करते कि केवल ब्रह्मन् ही सत्य है तथा ससार मिथ्या है। क्योकि यही उद्देश्य शिव को ससार का उपादान कारण मान कर प्राप्त किया जा सकता है, जिसका यह अर्थ नही कि ससार मिथ्या है। सम्पूर्ण आशय यह है कि जिस रूप मे भी ससार प्रकट हो, यह यथार्थ मे शिव के अतिरिक्त कुछ नही है।[1]

जब बादरायण कहते है कि ससार को ब्रह्मन् से भिन्न नही किया जा सकता तब उसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि ब्रह्मन् से उत्पन्न अनेक रूप ससार उससे अभिन्न है।

---

[1] वाचारमण विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतो अपवाद दर्शनादध्यासो ग्राह्य इति चैन न। वाचारमण-श्रुतीना शिवोपादानत्वात् प्रपचस्य तत्तादात्म्य बोधकत्व विधीयते न च मिथ्यात्वम्। —श्रीकर-भाष्य, पृ० ६।

संसार को ब्रह्मन् का शरीर नही माना जा सकता तथा शास्त्र यह घोषणा करते है कि आरम्भ मे केवल शुद्ध भाव का ही अस्तित्व था। यदि ब्रह्मन् से अन्य किसी को भी स्वीकार किया जाय तब शुद्ध अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। क्योकि दोनो परस्पर सर्वथा विरोधी है, अत एक को दूसरे का भाग स्वीकार नही किया जा सकता तथा दोनो का किसी प्रकार भी तादात्म्य नही किया जा सकता। अत सामान्य मार्ग यही होगा कि शास्त्रो की व्याख्या ब्रह्मन् के साथ द्वैत तथा अद्वैत दोनो मानते हुए की जाए। इस प्रकार ब्रह्मन् ससार से भिन्न तथा अभिन्न दोनो है।

श्रीपति का विचार है कि श्रुति पाठो के आधार पर, एक ब्राह्मण को, वैदिक कर्म-काण्डो मे दीक्षित होने के कारण, जितना सम्भव हो, शैव प्रकार की दीक्षा लेना, तथा शैव चिह्न अर्थात् लिंग धारण करना आवश्यक है। इसके उपरात ही वह व्यक्ति उस ब्रह्मन के स्वरूप के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है जिसके लिए ब्रह्म-सूत्र लिखा गया है।[1] ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा आवश्यक रूप मे हमे ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय मे समस्त प्रकार के तर्कों मे परिचित कराती है।

यद्यपि श्रीपति लिंग धारण करने तथा शैव प्रकार की दीक्षा लेने की आवश्यकता को प्रमुखता देते है, तथापि केवल उससे ही मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है जब हमे ब्रह्मन् के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो। ब्रह्मन् के स्वरूप के लिए तर्क उपस्थित करते हुए श्रीपति आगे कहते है कि जहाँ भी शास्त्रो ने ब्रह्मन् की व्याख्या भेदरहित एव निर्गुण के रूप मे की है, वहाँ सदैव उनका तात्पर्य सृष्टि के पूर्व काल से रहा है। भेदरहित शिव ही अपनी शक्ति के विस्तार द्वारा ससार की सृष्टि करता है तथा उसके वतमान रूप मे उसे प्रकट करता है, वैसे उसके सतत आधार के रूप मे सर्वदा शिव विद्यमान रहता है। इस प्रकार ससार भ्रम नही वरन् सत्य है, तथा स्वयं शिव स्वरूप है। जैसाकि हम देखेंगे यही एक मुख्य विचार है जिसका अधिकत विस्तार किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मन् दो रूपो मे प्रतीत होता है—शुद्ध चेतन रूप मे एव अचेतन भौतिक ससार के रूप मे तथा इस विचार का शास्त्रो के

---

[1] श्रीकर-भाष्य पृ० ८। धार्मिक शास्त्र ग्रंथो के प्रमाण पर श्रीपति शिव के चिह्न -लिंग के, उस विशेष विधि से धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता विस्तार से प्रतिपादित करते हैं तथा यह बतलाते है कि यह लिंग धारण उस लिंग से भिन्न है जिसका निषेध वेदादि मे है।

श्रीपति इंगित करते है कि लिंग के लिए केवल वही व्यक्ति योग्य है, जो साधाना–सम्पद नामक उन चार उप साधनो से युक्त है, जिनमे शम, दम, तितिक्षा, उपरति, मुमुक्षत्व आदि सम्मिलित हैं।

वचनो से समर्थन किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मन् निराकार तथा साकार है। यह शुद्ध ब्रह्मन् ही है जो दुःख-सुख, कारण-कार्य तथा अनेक परिवर्तनशील सत्ताओ के रूप मे होता है। ऐसी व्याख्या हमारे अनुभवो के अनुरूप होगी तथा इसका शास्त्रो से भी पूर्णत सामजस्य होगा।

विरोधियो का यह तर्क भी कि ईश्वर भ्रमात्मक है, अमान्य है क्योकि कोई भी व्यक्ति एक भ्रमात्मक पदार्थ के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिए उस पर विश्वास नही कर सकता। ऐसे ईश्वर का वही स्तर होगा जो किसी अन्य भ्रमात्मक पदार्थ का का होगा। इसके अतिरिक्त भक्त द्वारा पूजित, सम्मानित होकर ईश्वर उसका उपकार कैसे कर सकता है यदि वह भ्रमात्मक है।

इसके उपरात श्रीपति शुद्ध भेदरहित ब्रह्मन् के विचार के खडन का प्रयास करते है तथा प्रस्तुत रचना के तृतीय भाग मे रामानुज के उन तर्कों का, जिनका वर्णन हमने किया है, सक्षिप्त विवरण देते है, इस प्रकार हमारा द्वितीय सूत्र से परिचय कराया जाता है जिसमे ब्रह्मन् का उस तत्व के रूप मे वर्णन है जिसम से ससार की उत्पत्ति हुई है।

ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर टीका करते हुए, श्रीपति कहते है कि सत् एव आनद के तादात्म्य के रूप मे शुद्ध चित् ससार की सृष्टि तथा सहार का कारण है, तथा साथ ही उसका मूल आधार है। निराकार ब्रह्मन् बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के समस्त वस्तुओं की सृष्टि कर सकता है, जिस प्रकार निराकार वायु जगल को हिला सकती है अथवा आत्मा स्वप्नो की सृष्टि कर सकती है। जिन समस्त आकारो मे हम ईश्वर को पाते है, उन्हे ईश्वर, भक्त के लाभ के लिए धारण करता है।[1] वह भेदाभेद सिद्धान्त के समान प्रकार के कुछ शास्त्रो के वचनो का भी उल्लेख करते है जो ईश्वर तथा ससार का सबध सागर तथा लहरो के समान मानते हैं। ईश्वर का केवल एक भाग भौतिक ससार के रूप मे रूपातरित माना जा सकता है। इस प्रकार शिव, निमित्त तथा उपादान कारण, दोनो है। इन दोनो विचारो मे अन्तर समझना आवश्यक है एक तो यह कि निमित्त कारण तथा उपादान कारण मे कोई अन्तर नही है और दूसरा यह कि दोनो कारणो के रूप मे वही है।[2] मिथ्या अध्यास का कोई प्रश्न नही उठता है।

---

[1] भक्तानुग्रहार्थ धृत काठिन्यवद्-दिव्य-मगल-विग्रह धरस्य महेश्वरस्य मूर्तामूर्त-प्रपच-कल्पने अप्यदोष।

—श्रीकर-भाष्य, पृ० ३०।

[2] तस्मादभिन्न-निमित्तोपादान-कारणत्व न तु एक कारणत्वम्।

—श्रीकर-भाष्य, पृ० ३०।

उपनिषदो मे जीव ईश्वर के समान ही नित्य कहे गए है। शास्त्र प्राय ससार का वर्णन ईश्वर के एक भाग के रूप मे करते हैं। सृष्टि से पूर्व जब ईश्वर की शक्तियाँ सकुचित रूप मे होती हैं केवल तब ही ईश्वर निर्गुण कहला सकता है।[1] ऐसे अनेक उपनिषदीय गद्याश है जो ईश्वर की अवस्था को सृष्टि के कार्य मे सलग्नता के रूप मे वर्णित करते है, तथा इसके फलस्वरूप उसकी शक्तियाँ अभिव्यक्त होती प्रतीत होती है। यह सत्य है कि अनेक शास्त्रो मे माया ससार के उपादान कारण के रूप मे तथा ईश्वर निमित्त कारण के रूप मे वर्णित है। इसका यथेष्ट स्पष्टीकरण हो जाता है, यदि हम माया को ईश्वर का एक भाग मान ले। जिस प्रकार एक मकडी स्वय मे से पूर्ण जाला बुन लेती है उसी प्रकार ईश्वर स्वय मे से सम्पूर्ण ससार की सृष्टि करता है। इस कारण यह स्वीकार करना पडेगा कि भौतिक ससार तथा शुद्ध चैतन्य का एक ही कारण है। इस विषय मे, शकर के इस सिद्धात का कि ससार भ्रम अथवा अध्यास है, खडन करने का श्रीपति कठोर प्रयत्न करते है। यदि हम भ्रम के सिद्धात के विरोध मे माधव तथा उसके अनुयायियो के उन तर्कों का स्मरण करे, जिनकी व्याख्या प्रस्तुत रचना के चतुर्थ अध्याय मे की गई है, तो श्रीपति की आलोचनाएँ किसी न किसी रूप मे, उनमे अन्तर्भूत हो जाएगी। इस प्रकार हम यह देखते है कि शकर के विचारो पर रामानुज, निम्बार्क तथा माधव ने आपत्ति की थी।

श्रीपति कहते है कि ससार के तथाकथित मिथ्या रूप की व्याख्या न तो अनिर्वाच्य कहकर और न विरोधात्मक कहकर की जा सकती है, क्योकि तब वह वेदो पर भी प्रयुक्त होगा। 'विरोधात्मक' शब्द, अनेक रूप ससार के लिए प्रयुक्त नही हो सकता क्योकि यह अविच्छिन्न है, हमारी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति करता है, तथा हमारे कार्यों के लिए अवसर प्रदान करता है। जहाँ तक हम समझते है यह अनादि है। अत यह नही कहा जा सकता कि, किसी भविष्य काल मे अथवा वर्तमान समय मे, ससार को मिथ्या सिद्ध किया जा सकेगा। प्राय यह कहा गया है कि मिथ्या का अर्थ बिना किसी यथार्थता के किसी वस्तु का आभास है, जिस प्रकार मृग-जल है जो जल के समान आभासित होता है परन्तु जल के प्रयोजन की पूर्ति नही करता। परतु ससार केवल आभासित ही नही होता वरन् यह हमारे समस्त उद्देश्यो की पूर्ति भी करता है। पुराणो तथा अन्य शास्त्रो के वे समस्त वचन जिनमे ससार को माया कहा गया है केवल विभ्रमात्मक कथन है। अत केवल ईश्वर ही ससार का निमित्त तथा आधारभूत कारण है तथा ससार अपने आप मे मिथ्या नही है जैसाकि शकर के अनुयाई मानते है।

इसी प्रकार यह कल्पना भी अमान्य है कि ईश्वर अथवा जीव एक ऐसी सत्ता का

---

[1] शक्ति-सकोचतया सृष्टे प्राक्
परमेश्वरस्य निर्गहात्वात्। —तत्रैव, पृ० ३१।

प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अविद्या अथवा माया द्वारा प्रतिबिम्बित ब्रह्मन् के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। तथाकथित परावर्तनकर्ता माध्यम उपाधिरूप अथवा स्वाभाविक हो सकता है। ऐसी उपाधि माया, अविद्या अथवा अत करण हो सकता है। यह उपाधि स्थूल नही हो सकती है क्योकि उस स्थिति मे दूसरे लोक मे पुनर्जन्म सम्भव नही होगा। प्रतिबिम्ब का विचार भी अमान्य है क्योकि ब्रह्मन् वर्णरहित है इस कारण इसका प्रतिबिम्ब ईश्वर बन गया ऐसा नही माना जा सकता। जो निराकार है, वह प्रतिबिम्बित नही हो सकता। पुन, यदि ईश्वर अथवा जीव को माया अथवा अविद्या मे एकमात्र प्रतिबिम्ब माने, तब माया अथवा अविद्या के विनाश का अर्थ, ईश्वर तथा जीव का भी नष्ट होना होगा। इसी प्रकार, श्रीपति उस अवच्छेदवाद का खडन करने का प्रयत्न करते हैं, जिसके अनुसार बुद्धि से विशिष्ट या वस्तुगत रूप से अवच्छिन्न शुद्ध चित् ही जीव है क्योकि उस स्थिति मे किसी भी प्रकार की चेतना द्वारा अवच्छिन्नता जो हम समस्त भौतिक पदार्थों मे पाते हैं, उन्हे जीवो की स्थिति मे समझे जाने के योग्य कर देती है।

सृष्टि व सहार आदि के गुण ब्रह्मन् के नही अपितु ससार के हैं। तब फिर ससार की सृष्टि व सहार को, जिनका उद्गम ईश्वर है, ब्रह्मन् का स्वरूप लक्षण किस प्रकार कहा जा सकता है? उत्तर है कि इसे एक स्वरूप लक्षण नही माना जा सकता, परतु इसे केवल ससार के उद्गम होने का लक्षण मानना चाहिए, जिससे यदि कोई ससार न भी हो, तब भी उससे ईश्वर के अस्तित्व की यथार्थता पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नही पडेगा। प्रस्तुत परिभाषा (१-१-२) को स्वरूप लक्षण नही अपितु तटस्थ-लक्षण कहने का यही अर्थ है। केवल शिव ससार का स्रष्टा है, ससार का उसमे पालन होता है, तथा ससार उसमे पुन लय हो जाता है।

ब्रह्मसूत्र १-१-३ पर टीका करते हुए श्रीपति परपरागत धारा का अनुसरण करते हैं परन्तु यह मानते हैं कि वेद, ईश्वर अर्थात् शिव द्वारा रचित थे, तथा वेदो के समस्त मूल ग्रथो का निश्चित उद्देश्य शिव का यश कीर्त्तन है। नि सन्देह यह मीमासा के इस विचार के विरुद्ध है कि वेद अनत तथा अपौरुषेय है, परन्तु यह शकर की इस व्याख्या से सहमत है कि वेदो की रचना ईश्वर ने की थी। शकर की प्रणाली मे ईश्वर माया द्वारा ब्रह्मन् के प्रतिबिम्ब से निर्मित केवल एक परम भ्रम है। हम पहले ही बतला चुके है कि श्रीपति इस विचार को सर्वथा भ्रान्तिमूलक मानते हैं। उनके लिए ईश्वर अथवा महेश्वर का अर्थ परम ईश्वर है। आगे श्रीपति कहते है कि ब्रह्मन् के स्वरूप का बोध केवल वाद-विवाद अथवा तर्क द्वारा नही हो सकता वरन् उसका ज्ञान केवल वेदो के प्रामाण तथा साक्ष्य द्वारा ही हो सकता है। वह आगे कहते है कि शिव द्वारा पुराणो की रचना वेदो से पूर्व ही हुई थी तथा समस्त पुराणो मे से शिव-महापुराण सबसे अधिक प्रामाणिक है। अन्य पुराण, जो विष्णु अथवा नारायण का यशोगान करते हैं, निम्न स्तर के हैं।

ब्रह्मसूत्र १-१-४ पर टीका करते हुए श्रीपति कहते हैं कि मीमासा का मत है कि ब्रह्मन् के स्वरूप की उपनिषदीय व्याख्या मनुष्यो को किसी प्रकार के चिंतन के लिए प्रेरित करने के अर्थ मे नही करनी चाहिए। वे केवल ब्रह्मन् के स्वरूप का वर्णन करती है। उनका एकमात्र लक्ष्य ब्रह्मज्ञान है। श्रीपति की यह व्याख्या शकर के विचार के लगभग समान ही है। वे आगे कहते हैं कि ब्रह्मन् के स्वरूप का ज्ञान केवल उपनिषदो द्वारा ही हो सकता है। किसी भी प्रकार का अनुमान अथवा सामान्य स्वीकृति इस तथ्य को सिद्ध नही कर सकती कि ईश्वर एक है जो ससार का स्रष्टा है। मानव जाति द्वारा निर्मित सभी वस्तुओ के, जैसे, मदिर, महल अथवा पत्थर के गृह, निर्माण मे अनेक व्यक्तियो का सहयोग होता है। अत हम इस तथ्य से यह तर्क नही कर सकते कि क्योकि कुछ वस्तुओ का निर्माण हुआ है, अत एक स्रष्टा है जो उनकी सृष्टि के लिए उत्तरदायी है। यह न्याय विचार तथा अनेक शैवागमो के इस विचार का खडन है कि ईश्वर का अस्तित्व अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

वह आगे कहते है कि ब्रह्मन् मे वह शक्ति है जिससे वह स्वय को अभिव्यक्त करता है, तथा जिसमे अनेकता, भेद अथवा ऐक्य है। हम बल अथवा शक्ति को शक्तिमान् से पृथक् नही कर सकते। इस प्रकार ब्रह्मन् को शक्ति तथा समस्त शक्तियो का भडार, दोनो माना जा सकता है। जब तक तत्व नही होगा तब तक कोई शक्ति नही हो सकती। अत ब्रह्मन् तत्व तथा शक्ति दोनो रूपो मे स्थित है।[1] यह नही कहा जा सकता कि केवल ज्ञान हमे कर्म के लिए प्रेरित नही कर सकता, क्योकि जब कोई अपने पुत्र अथवा सम्बन्धी के विषय मे शुभ अथवा अशुभ समाचार सुनता है तब वह कर्म के लिए प्रेरित होता है। इस प्रकार ब्रह्मन् का शुद्ध ज्ञान भी हमे उसके चिंतन के लिए प्रवृत्त कर सकता है, अत मीमासी का यह तर्क मिथ्या है कि ब्रह्मन् के वर्णन मे कर्म का विधान आवश्यक है एव एक अस्तित्वगत सत्ता के केवल वर्णन का कोई व्यावहारिक मूल्य नही है।

श्रीपति मीमासा के इस तर्क का खडन करने के लिए भी विशेष प्रयत्न करते है कि वेद केवल अस्तित्वगत सत्ता के विषय मे कोई जानकारी मात्र नही देते क्योकि उसका कोई व्यावहारिक मूल्य नही है। श्रीपति कहते हैं कि चैतन्य की शुद्ध शक्ति अविद्या द्वारा छिपी हुई है। यह अविद्या भी ब्रह्मन् की स्वाभाविक शक्ति है तथा ब्रह्मन् के अनुग्रह मे यह अविद्या अपने कारण मे विलीन हो जाएगी। अत अविद्या का

---

[1] भेदाभेदात्मिका शक्तिर्ब्रह्म-निष्ठा सनातनी, इति स्मृतौ शक्तेर्दर्वहित-शक्तेरिव ब्रह्माधिष्ठानत्वोपदेशात्। निरधिष्ठान-शक्तेरभावात् च शक्ति-शक्तिमतोर अभेदाच्च तत्कर्तृत्व तदात्माकत्वं तस्यैवोपपन्नत्वात्।

—श्रीकर-भाष्य, पृ० ४५।

आभासमान द्वैत मिथ्या है तथा ब्रह्मन् के स्वरूप मे वर्णन का यथार्थ व्यावहारिक मूल्य है, क्योकि यह हमे ऐसा आदेश देता है कि ईश्वर के उस अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। केवल उसके द्वारा ही बधन हटाए जा सकते है। केवल उपनिषदो के अध्ययन द्वारा नही वरन् ईश्वर के अनुग्रह तथा अपने गुरु के अनुग्रह द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार हो सकता है।

श्रीपति का कथन है कि नित्य तथा नैमित्तिक कर्म आवश्यक है, केवल काम्य कर्मों को अर्थात् वे कर्म जो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए जाते है, कामना की पूर्ति के विचार से रहित होना चाहिए। जब मनुष्य वेदात ग्रथो का श्रवण करता है, तथा स्वय को पूर्ण रूप से शिव को समर्पित करता है, केवल तब ही हृदय शुद्ध होता है तथा शिव के स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

श्रीपति पुन ससार के मिथ्यात्व सिद्धात के विरोध मे अपने आरोप को दोहराते हैं। वे कहते है कि चूँकि उपनिषद् यह घोषणा करते है कि ससार की समस्त वस्तुएँ ब्रह्मन् है, अत ससार भी ब्रह्मन् है तथा मिथ्या नही हो सकता। हमारे सम्मुख, ससार मे प्रत्यक्ष किया जाने वाला बधनकारी वह समस्त क्षेत्र तब लुप्त हो जाएगा जब हमे शिव से अपने ऐक्य का ज्ञान हो जाएगा। क्योकि उस स्थिति मे विभिन्न वस्तुओ से पूर्ण तथा अनेक के रूप मे विद्यमान ससार का आभास लुप्त हो जाएगा क्योकि जो कुछ हम देखेंगे वह शिव ही होगा। इस प्रकार ब्रह्मन् समस्त ससार का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनो है तथा इसमे कही भी कुछ मिथ्यात्व नही है। ससार केवल शून्य अथवा भ्रममात्र नही हो सकता। ससार का एक आधार होना आवश्यक है तथा यदि भ्रम आधार से भिन्न माना जाएगा तो उसमे द्वैत दोष हो जाएगा। यदि ससार के तथाकथित अस्तित्वशून्य होने का केवल यही अर्थ होता कि यह आकाश-कमल के समान काल्पनिक है तब ससार के लिए किसी को भी कारण माना जा सकता था।

यह माना जा सकता है कि शकर के अनुयाई ससार को सर्वथा मिथ्या नहीं मानते वरन् इसकी व्यावहारिक सत्ता मानते है (व्यावहारिक मात्र सत्यत्वम)। किन्तु यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उसका स्वरूप क्या है, जो केवल व्यावहारिक है, क्योकि इस स्थिति मे ब्रह्मन् व्यावहारिक से परे होगा तथा कोई भी इसके विषय मे प्रश्न अथवा उत्तर नही करेगा वरन् केवल मूक बना रहेगा। यदि ससार के अनेकरूप आभासो के पीछे कोई तत्व न होता तो ससार बिना आधार के एक चित्रो की पक्ति मात्र होता। यह पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है कि उपनिषद् भेदरहित ब्रह्मन् का उल्लेख नही कर सकते। यदि कोई ऐसा अनुभव जिसका विरोध हो सके, व्यावहारिक कहलाता है, तब यह साधारण भ्रमो पर भी प्रयुक्त होगा जैसे कि मरुस्थल मे जल का आभास, जो प्रातिभासिक कहलाता है। यदि यह माना जाए कि व्याव-

हारिक रीति से विरोध होने का यह अर्थ है कि केवल ब्रह्मन् के ज्ञान होने पर ही विरोध ज्ञान होता है तब प्रथम ज्ञान के द्वितीय ज्ञान द्वारा विरोध के समस्त दृष्टात विरोध के दृष्टात ही नही माने जाएँगे। शकर के अनुयायी केवल यही उत्तर दे सकते हैं कि अव्यावहारिक ज्ञान के दृष्टात मे मनुष्य को ब्रह्मन् की अपरोक्ष अनुभूति के साथ ही साथ ससार के मिथ्या होने का ज्ञान भी उदित होता है। परन्तु ऐसा उत्तर अग्राह्य होगा क्योकि ब्रह्मन् का भेदरहित, के रूप मे ज्ञान आवश्यक रूप से उसका भी ज्ञान सम्मिलित करता है, जिससे वह भिन्न है। भेद का विचार भेदारहित्य के विचार का एक भाग है।

न ही व्यावहारिक सत्ता की धारणा का निर्माण इस मान्यता पर हो सकता है कि जिसका विरोध तीन अथवा चार क्रमिक क्षणो मे न हो, वह अव्याहत या व्याघातरहित माना जा सकता है क्योकि यह मान्यता भ्रमात्मक प्रत्यक्षीकरणो पर भी प्रयुक्त हो सकती है। ब्रह्मन् वह है जिसका कभी विरोध नही होता तथा यह अव्याघात काल द्वारा सीमित नही है।

पुन यह कभी-कभी माना जाता है कि ससार मिथ्या है क्योकि यह दृश्य है, परतु यदि ऐसा होता तब ब्रह्मन् का या तो दृश्य अथवा अदृश्य होना आवश्यक होना। प्रथम स्थिति मे वह मिथ्या हो जाता है, द्वितीय स्थिति में इसके विषय मे तर्क अथवा प्रश्न नहीं किए जा सकते। इस प्रकार श्रीपति शकर के ससार के मिथ्या होने के सिद्धात के विरुद्ध अपनी समालोचना लगभग उसी प्रकार की करते हैं जैसी व्यासतीर्थ ने अपने न्यायामृत मे की थी। अत उनका यहाँ दोहराना निरर्थक होगा क्योकि उनका विवरण प्रस्तुत रचना के चतुर्थ भाग मे पहले ही किया जा चुका है। श्रीपति इस विचार की, कि ब्रह्मन् भेदरहित है, उसी प्रकार की आलोचना करते हैं जैसे कि रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य की भूमिका में की है, तथा जिनकी यथेष्ठ विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत रचना के तृतीय भाग मे की जा चुकी है।

यह घोषणा करना कि ब्रह्मन् भेदरहित है तथा तब उसकी विशेषताओ के वर्णन का प्रयत्न करना, उदाहरणार्थ यह कहना कि ससार उससे उत्पन्न होता है तथा अत मे उसमे विलीन हो जाता है, निरर्थक होगा। विपक्षियो के अनुसार जो कुछ अस्तित्व-गत माना जाता है वह मिथ्या होगा जो इस मान्यता व अन्तर्गत अग्राह्य है। यदि ऐसा ससार मिथ्या है तब इसको कोई व्यावहारिक मूल्य देना निरर्थक होगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि ब्रह्मन् ज्ञान है अथवा ज्ञान का अभाव ? प्रथम स्थिति मे विपक्षी के लिए इस ज्ञान के विषय के स्वरूप का वर्णन करना कठिन होगा। दूसरा प्रश्न है कि विपक्षी इस बात को मानने को तैयार है अथवा नही कि मिथ्या पदार्थों (जगदाभास) तथा ब्रह्मन् के मध्य का अन्तर यथार्थ है। यदि अन्तर यथार्थ है तब अद्वैत सिद्धांत असफल हो जाता है। यह विधान करने से बचने का मार्ग नहीं

निकलता कि भेद तथा तादात्म्य दोनो के विचार मिथ्या है क्योकि अन्य कोई विकल्प नही है। इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्मन् ज्ञान स्वरूप होता तब हम ऐसे ज्ञान के विषय को ज्ञात कर सकने योग्य होते। तब यह भेदरहित ब्रह्मन् के विचार का विरोधी हो जाएगा। बिना किसी विषय के ज्ञान नही हो सकता, यदि ज्ञान का विषय हो तब वह उतना ही बाह्य होगा जितना स्वय ब्रह्मन् है, जिसका अर्थ है कि हमारे समक्ष आभासात्मक नानारूप ससार उतना ही बाह्य है जितना ब्रह्म है। निश्चित विषय के अतिरिक्त कोई ज्ञान नही हो सकता। इसके अतिरिक्त यदि जगदाभास का व्यावहारिक मूल्य माना जाए, तब उसके मूल मे किसी वास्तविक मूल्य का होना भी आवश्यक है, जो अनेक रूप ससार के आभास का आधार होगा। ऐसी स्थिति मे वह आधारसत्ता, ब्रह्मन् के अलावा एक अन्य सत्ता होगी तथा उसके एकमात्र सत्ता को चुनौती देगी। इस प्रकार श्रीपति शकर की इस व्याख्या का खडन करते है कि ब्रह्मन् भेदरहित है तथा जगदाभास मिथ्या है। वह यह भी कहते है कि मानव जाति ईश्वर की सत्ता से निम्न है तथा वह भक्ति द्वारा उसके अनुग्रह से उसकी एक झलक देख सकते है।

श्रीपति द्वारा प्रतिपादित वीरशैव-दर्शन का मुख्य विचार यह है कि ईश्वर अपनी शक्तियो से अविभाज्य है जिस प्रकार सूर्य का अपनी किरणो स भेद नही किया जा सकता। प्रारभिक अवस्था मे जब कोई ससार नही था तब केवल ईश्वर ही था तथा चित् अचित्मय नाना रूप ससार उससे सर्वथा अभिन्न, उसमे सूक्ष्म रूप मे था। तत्पश्चात्, जब सृष्टि के सकल्प ने उसको गतिमान किया तब उसने जीवित प्राणियो को पृथक् करके उन्हे भिन्न गुणयुक्त बनाया तथा उनको भिन्न प्रकार के कर्मों मे सयोजित किया। उसने विविध रूपो मे भौतिक ससार की भी अभिव्यक्ति की। अनेक दर्शनो मे भौतिक ससार एक सदेहयुक्त सत्ता है। शकर के अनुसार जगदाभास मिथ्या है तथा उसका केवल व्यावहारिक मूल्य है। वास्तव म इसका अस्तित्व नही, वरन् उसके अस्तित्व का केवल आभास होता है। रामानुज के अनुसार ससार अविभाज्य रूप से ईश्वर से सबधित है तथा पूर्ण रूप से उस पर निर्भर है। श्रीकठ के अनुसार ससार की सृष्टि ईश्वर की शक्ति द्वारा हुई है तथा उस अर्थ मे ससार उसकी एक उपज है, परन्तु श्रीपति कुछ उपनिषदो का उल्लेख करते है, जिनमे यह कहा गया है कि ब्रह्मन् चित् व अचित् दोनो है। इस प्रकार श्रीपति यह मानते है कि जो कुछ ससार मे हम देखते है वह सत्य है तथा उसका आधार शिव अथवा ईश्वर है। अपनी शक्ति द्वारा ही वह ससार को इतने अधिक रूपो मे प्रकट करवाता है। वे शक्तिमान तथा शक्ति के मध्य, विभेद के विचार की निन्दा करते है। अत यदि ससार ईश्वर की शक्ति की एक अभिव्यक्ति है, तब कोई ऐसे प्रतिबधक नही जो इसको स्वय शिव के स्वरूप का माने जाने से प्रतिबधित करता हो। श्रीपति कहते हैं कि मोक्ष तब ही प्राप्त हो सकता है जब ईश्वर की पूजा उसके दो प्रकार के भौतिक तथा आध्यात्मिक रूपो मे की

जाए। इसके कारण उन्हे लिंग नामक ईश्वर के अनिवार्य अधिकार चिह्न को उपस्थित करना पडा। माधव तथा उनके अनुयायियो द्वारा माने हुए मोक्ष की विभिन्न कोटियों के विचार का भी श्रीपति समर्थन करते हैं।

किन्तु यह ध्यान देना होगा कि यद्यपि ईश्वर स्वय को नाना रूप ससार में रूपातरित करता है तथापि वह सृष्टि मे अपने आपको पूरी तरह नही खपा देता वरन् उसका अधिक भाग उससे परे रहता है अनुभवातीत है। इस प्रकार एक पक्ष मे ससार के तथ्य की रचना करता हुआ ईश्वर अतर्व्याप्त है तथा दूसरे पक्ष मे वह अनुभवातीत है एव इस ससार की सीमा से बहुत परे है। तथाकथित माया ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त कुछ नही है तथा स्वय ईश्वर शुद्ध चिन् तथा सकल्प का तादात्म्य स्वरूप अथवा कर्म व बल की शक्ति है।

यद्यपि प्रारम्भ मे समस्त जीव विशेष प्रकार के कर्मों से सयोजित थे तथापि जब उन्हे भौतिक ससार मे जन्म मिला एव उनसे कर्त्तव्य तथा कर्म करने की आशा की गई तब उन्हे सुख व दुख का अनुभव उनके कर्मों के अनुसार करना पडा। ईश्वर न तो पक्षपाती है और न निर्दयी है, वरन् घूमते हुए चक्रो मे मनुष्य को, उनके कर्मों के अनुसार सुख व दुख प्रदान करता है, यद्यपि कर्म से सयोजन का प्रारभिक उत्तरदायित्व ईश्वर पर है। श्रीपनि का विचार है कि इसमे वह ईश्वर की 'सर्वशक्तिमत्ता' तथा जीव के कर्मानुसार फलो के वितरण के मध्य की खाई को भर सके है, जिससे स्वीकृत कर्म सिद्धात की भी पुष्टि हो जाती है तथा उसका ईश्वर की सर्वतन्त्र स्वतत्र सर्व-शक्तिमत्ता से भी सामजस्य हो जाता है। वह यह नही देख पाते कि इससे पूरा समाधान नही होता क्योकि प्रारभिक सयोजन के समय जीव कि भिन्न प्रकार के विविध कर्मों से सयोजित किए गए थे, तथा इस प्रकार वे असमान अवस्था मे रखे गए थे।

श्रीपति की स्थिति सर्वेश्वरवादी तथा प्रत्ययवादी रूप से यथार्थवादी है। ऐसी स्थिति मे, स्वाप्निक अनुभवो की अवस्था भ्रम मात्र नही हो सकती। शकर ने तर्क किया था कि जीवन के अनुभव स्वप्नो के अनुभवो के समान भ्रमात्मक है। इसके उत्तर मे श्रीपति इस विचार को महत्व देने का प्रयत्न करते है कि स्वप्न-अनुभव भी भ्रमात्मक नही वरन् यथार्थ है। वास्तव मे यह सत्य है कि वे शक्ति के सकल्प के प्रयत्न से उत्पन्न नही हो सकते। परतु फिर भी श्रीपति का विचार है कि उनकी सृष्टि ईश्वर द्वारा हुई है तथा इसका पुन समर्थन इस तथ्य द्वारा हुआ है कि स्वप्न जीवन के पदार्थों से पूण रूप से असबधित हो सो बात नही है क्योकि हमे ज्ञात है कि वे प्राय वास्तविक जीवन की शुभ व अशुभ वस्तुओं को इगित करते है। इससे यह प्रदर्शित होता है कि किसी प्रकार स्वप्न हमारे जाग्रत अनुभवो के वास्तविक जीवन से परस्पर सबधित हैं। पुन, यह तथ्य शंकर के इस तर्क का भी खडन कर देता है कि जागृत जीवन के अनुभव उतने ही भ्रमात्मक है जितने स्वप्नो के अनुभव हैं।

सुषुप्ति के विषय मे श्रीपति का कथन है कि उस अवस्था मे तमस के गुण से घिरी हमारी बुद्धि हृदय के भीतर नाडियो के जाल मे प्रवेश करती है, विशेषकर 'पुरीतत्' मे रहती है, तथा यह अवस्था भी ईश्वर के सकल्प द्वारा उत्पन्न होती है, जिससे जब ईश्वर के सकल्प द्वारा व्यक्ति जाग्रत अवस्था मे वापस आए, तब यह तमोगुण हटा दिया जाता है। यह सुषुप्ति की उस अवस्था को स्पष्ट करता है जो अतिम मोक्ष की अवस्था से भिन्न है, जब मनुष्य ईश्वर से एक लय हो जाता है, तथा प्रकृति के तीन प्रकार के समस्त मयोजनो से मुक्त हो जाता है। तब वह अत मे शिव की अनुभवातीत सत्ता मे प्रवेश करता है, तथा किसी जाग्रत चेतना मे वापस नही आता। अत यह ध्यान देना आवश्यक है कि श्रीपति के अनुसार स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था दोनो को ईश्वर उत्पन्न करता है। इस प्रकार श्रीपति का सुषुप्ति के विषय मे वर्णन शकर के वर्णन से सर्वथा भिन्न है जिसके अनुसार सुषुप्ति के समय जीव ब्रह्म-चेतना मे रहता है।

श्रीपति अपने इस कथन का समर्थन इस प्रकार करते है कि सुषुप्ति मे हम अपनी समस्त मानसिक क्रियाओ के साथ हृदय की नाडियो के जाल मे चले जाते है तथा ब्रह्मन् मे विलीन नही होते जैसा शकर हमसे विश्वास करवाना चाहते है। इस कारण जब हम दूसरे दिन जाग्रत होते है तब हम निद्रा से पूर्व जीवन के अनुभवो का अपनी स्मृति मे पुनरावर्तन करते है। प्रत्येक रात्रि मे सुषुप्ति द्वारा विराम देते हुए भी यह हमारी चेतना की निरतरता स्पष्ट करता है। अन्यथा यदि हम किसी भी समय ब्रह्मन् मे विलीन हो गए होते, तब हमारे लिए अपने समस्त कर्तव्यो तथा उत्तरदायित्वो का स्मरण रखना सम्भव न होता, मानो न कोई सुषुप्ति थी तथा न हमारी चेतना मे कोई व्यवधान था।

मूर्च्छा तथा मृत्यु के अन्तर के स्वरूप का विवेचन करते हुए श्रीपति कहते है कि मूर्च्छा की अचेतनता अवस्था मे, जहाँ तक इसके विभिन्न कार्यों का सम्बन्ध है, बुद्धि आशिक रूप मे क्रिया शक्तिहीन हो जाती है। परन्तु मृत्यु मे बुद्धि, पूर्ण रूप से बाह्य ससार से पृथक् हो जाती है। भागवत-पुराण मे दी हुई अत्यन्त विस्मृति (मृत्यरत्यत-विस्मृति) के रूप मे मृत्यु की परिभाषा स्मरण रखना उचित होगा।

शकर के अनुसार ब्रह्मन् निराकार है। ऐसा विचार श्रीपति द्वारा प्रतिपादित वीर-शैवमत की स्थिति के उपयुक्त नही है। अत वह यह प्रश्न करते हैं कि, क्या निराकार शिव, अनेक शिवलिगो मे प्राप्त साकार शिव ही है ? तथा इसके उत्तर मे श्रीपति इस तथ्य को प्रमुखता देते हैं कि शिव का अस्तित्व, निराकार रूप मे तथा साकार रूप मे, दो अवस्थाओ मे है। यह भक्त का कर्तव्य है कि वह शिव के समस्त आकारो तथा निराकार पक्षो का एक अभिन्न सत्ता के रूप मे साक्षात्कार करे। भक्त उसी प्रकार स्वय को शिव मे विलीन कर लेता है जिस प्रकार सरिताएँ सागर मे विलीन

हो जाती हैं। जीव किसी भी अर्थ मे भ्रमात्मक सत्ता नहीं है न ही वह नित्य तथा निराकार एक सत्ता का एक सीमित तथा प्रकट रूप है, जैसाकि शकर के अनुयायी मानने का प्रयत्न करते है। जीव यथार्थ है तथा अपने साकार व निराकार दोनो पक्षो मे ब्रह्मन् यथार्थ है। जिस प्रकार सागर मे सरिताएँ विलीन होती हैं, उसी प्रकार ज्ञान तथा भक्ति द्वारा जीव उस ईश्वरीय सत्ता मे विलीन हो जाता है, जो निराकार भी है, तथा अनेक प्रकार के आकारो से युक्त भी है।

वास्तव मे वीर-शैवमत ब्रह्म-सूत्र की भेदाभेद व्याख्या का एक प्रकार है। प्रस्तुत ग्रथ के अन्य भागो मे हमने रामानुज तथा भास्कर द्वारा भिन्न दृष्टिकोणो से की गई भेदाभेद की व्याख्या का विवरण किया है। भेदाभेद व्याख्या मे रामानुज, ससार तथा आत्माओ को सघटित रूप से उस ईश्वर पर निर्भर मानते है, जो हमारे अनुभव के ससार से परे हैं। भास्कर के अनुसार सत्ता सागर के समान है, अनुभवो का ससार उसकी उसी तरह सम भाग है, जिस प्रकार लहरें सागर का भाग है। न तो वे उससे सर्वथा अभिन्न हैं और न उससे भिन्न हैं। वीर-शैवमत भी भेदाभेद व्याख्या का एक प्रकार है, तथा वह अनुभवो के ससार एव अनुभवातीत सत्ता को सर्वथा सत्य मानता है। कभी-कभी श्रीपति कुंडली मे बैठे सर्प का दृष्टात उपस्थित करते हैं, जिसमे एक अवस्था मे वह गठरी के समान रहता है, तथा दूसरी अवस्था मे एक लम्बी मोटी रस्सी के रूप मे प्रतीत होता है। अत एक दृष्टिकोण मे ससार ईश्वर से भिन्न है तथा दूसरे दृष्टिकोण से ईश्वर से एक है। इस उदाहरण का प्रयोग वल्लभ ने भी ईश्वर तथा जगत् के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए किया है। ज्ञान तथा भक्ति द्वारा जीव अपने को समस्त अशुद्धियो से मुक्त कर सकते है, तथा ईश्वर के अनुग्रह द्वारा अन्त मे अनुभवातीत सत्ता मे वापस जाकर उसमे विलीन हो सकते है। अत जो वस्तुएँ भिन्न प्रतीत होती थी अन्त मे वे अपने को ब्रह्मन् से एक सिद्ध कर सकती है।

श्रीपति इगित करते है कि वर्ण-धर्मों तथा वैदिक क्रियाओ के उचित सम्पादन द्वारा, बुद्धि शुद्ध हो सकती है, जिससे मनुष्य शिव पर योग-ध्यान लगाने तथा उसे अपनी अगाध भक्ति समर्पित करने के योग्य हो सकता है, तथा इस प्रकार अन्त मे ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है, केवल यही मोक्ष का मार्ग है।

ब्रह्मसूत्र के विभिन्न टीकाकारो मे इस विषय पर एक दीर्घ वाद-विवाद रहा है कि क्या वैदिक-धर्म, वर्ण-धर्म तथा नैमित्तिक धर्म, मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाले सत्य-ज्ञान का आवश्यक भाग है। कुछ ऐसे है, जो सत्य ज्ञान के अधिग्रह के लिए वैदिक-धर्मों को अनिवार्य साधन तत्त्वो के रूप मे मानते है तथा उनकी प्राप्ति की आवश्यकता को प्रमुखता देते हैं। शकर तथा उनके अनुयायियो के समान अन्य टीकाकार, सत्यज्ञान की उपलब्धि के लिए वैदिक-धर्मों की उपयोगिता को पूर्णतया अस्वीकार करते है। श्रीपति ने, भक्ति तथा विचार द्वारा प्राप्तव्य उच्चतम ज्ञान के अधिगम के योग्य बनाने के लिए बुद्धि की शुद्ध के महत्वपूर्ण साधन के रूप मे सदैव वैदिक धर्मों को प्रमुखता दी

है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य बात है कि वर्तमान लिंगायतो की विचार-धारा पूर्ण रूप से किसी बाहरी सामाजिक समुदाय का विचार है तथा इस वर्ण के विरुद्ध प्रवृत्ति का समर्थन कुछ ग्रथकारो ने कुछ वीरशैव ग्रथो का गलत निर्वचन करके उनसे करवाने का प्रयत्न भी किया है।[1] परतु ब्रह्म-सूत्र ३-४ प्रथम प्रकरण, पर टीका करते हुए श्रीपति ईश्वर के ज्ञान तथा उसके प्रति भक्ति को दो स्वतत्र मोक्ष मार्गों के रूप मे समान महत्व देते है, यद्यपि वे इस विचार को अस्वीकार नही करते कि जब मनुष्य अपने समरूप फलो को ईश्वर को समर्पित करके वैदिक धर्मों का सम्पादन करता है तब वैदिक धर्मों का बुद्धि को स्वच्छ तथा शुद्ध करने मे सहायक प्रभाव हो सकता है। किन्तु श्रीपति किसी ऐसे गृहस्थ के कम को दोषपूर्ण मानने है जो केवल अपनी व्यक्तिगत इच्छा के कारण वैदिक धर्मों को छोड देता है।

ब्रह्मसूत्र ३, ४, २ पर टीका करते हुए श्रीपति अनेक धर्म-ग्रथो को यह प्रदर्शित करने के लिए उद्धृत करने है कि जीवन की अन्तिम अवस्था मे भी वैदिक धर्म अनिवार्य है, जिससे कि जीवन की किसी भी अवस्था मे यह धर्म ऐच्छिक न मान लिए जाए। इस सम्बन्ध मे वे प्रसगवश लिगधारण की आवश्यकता भी प्रतिपादित करते है। यद्यपि वैदिक धर्म सामान्यतया सम्यक ज्ञान की प्राप्ति के साधन माने जाते है, तथापि वे उस गृहस्थ के लिए अनिवार्य नही हैं, जो नित्य तथा नैमित्तिक धर्मा का सम्पादन करता रहता है और उसके साथ अपने चिंतन तथा भक्ति द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार भी कर लेता है।

आवश्यक सद गुण जैसे शम (आतरिक नियत्रण), दम (बाह्य-नियत्रण,) तितिक्षा (सहनशीलता), उपरति (समस्त सासारिक सुखो का अन्त), मुमुक्षत्व (मोक्ष के लिए तीव्र कामना) आदि सबके लिए अति आवश्यक है, तथा इस प्रकार जिन गृहस्थो म ये गुण है वे ईश्वर के साक्षात्कार की ओर अग्रसर होने की आशा कर सकत है। खतरे के समय जीवन की रक्षा के लिए समस्त आदेश व कर्तव्य स्थापित किए जा सकत है। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए बुद्धि को एकाग्र करने की क्रिया सहित विभिन्न सदगुणो की आवश्यकता पर उपनिषदो ने भी बल दिया है। श्रीपति इगित करने है कि प्रत्येक व्यक्ति को इन गुणो के अनुसरण का तथा ब्रह्म विद्या प्राप्त करने का अधिकार है। इसका सर्वोत्तम उपाय पाशुपत-योग के धर्म को स्वीकार कर लेना ही है।

शैव योगी के धर्म के अन्तगत निम्नलिखित ह ज्ञान, निवृत्ति, वासनाओ का आतरिक व बाह्य नियत्रण, अहकार, अभिमान, समस्त व्यक्तियो से राग तथा बैर का अन्त। उसे वेदान्ती ग्रथो के श्रवण, चिन्तन, योग-प्रक्रिया तथा इससे सम्बन्धित (जैसे ध्यान, धारण आदि के विषय मे) विचार करने मे एव शिव के प्रति अगाध भक्ति मे,

---

[1] देखिए प्रोफेसर साखरे की 'लिगधारण चन्द्रिका' (भूमिका पृ० ६६६) तथा 'वीर-शैवानन्द-चन्द्रिका' (वादकाय अध्याय २४ पृ० ४४२)।

अपने को सलग्न रखना चाहिए। परन्तु यदि उसकी बुद्धि ने इन गुणो को प्राप्त कर भी लिया हो, तब भी उसे इन परम गुणो मे से किसी को भी प्रकट अथवा प्रदर्शित नही करना चाहिए। उसे एक शिशु के समान व्यवहार करना चाहिए जो शिव से पूर्णतया एक हो गए हैं, उन्हे वेदाती ग्रथो के श्रवण मे समय नष्ट करने की आवश्यकता नही है। ये केवल उन्हीं के लिए निर्धारित है जो पारगत नही हो पाए है। जब एक मनुष्य इतना ऊपर उठ जाता है कि उसे वर्णाश्रम धर्म का पालन करने अथवा समाधि मे प्रवेश करने की भी आवश्यकता नही रहती तब वह जीवनमुक्त कहलाता है। वह ऐसे मनुष्य के सकल्प पर निर्भर है कि वह अपने शरीर के साथ जीवन-मुक्तावस्था मे प्रवेश करे अथवा शरीर रहित होकर। जब मनुष्य की बुद्धि शुद्ध हो जाती है तब वह भक्ति द्वारा शिव की अनुभूति मे साक्षात्कार अन्त प्रज्ञा मे प्राप्त कर सकता है। यथार्थ ज्ञानी इस जीवन मे भी मुक्त हो सकता है। शाकर वेदात के विपरीत, श्रीपति ज्ञान के साथ भक्ति की आवश्यकता भी प्रतिपादित करते हैं। वे मानते है कि ज्ञान के उदय होने के साथ कर्मो के समस्त बन्धन नष्ट हो जाएगे तथा मनुष्य फिर किसी कर्मबन्धन म लिप्त नही होगा।
